कक्षा–12

लोक प्रशासन

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

लोक प्रशासन

कक्षा—12

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान,
अजमेर

लोक प्रशासन

कक्षा—12

लेखकगण

संयोजक

डॉ. राजकुमार गर्ग

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा

श्री शिव कुमार मीणा

राजकीय महाविद्यालय, सीकर

डॉ. अनिल कुमार पारीक

व्याख्याता,

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा

डॉ. मीना रानी

राजकीय डूंगर महाविद्यालय,

बीकानेर

डॉ. रूपाली भौरोदिया

ऐसो. प्रो.,

राजनीतिक विज्ञान व लोक प्रशासन विभाग,

बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली निवाई (टोंक)

लोक प्रशासन

पाठ्यक्रम समिति
कक्षा—12

संयोजक

प्रो. सी.आर. सुथार
लोक प्रशासन विभाग,
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

डॉ. प्रेमसिंह रावलोत
विभागाध्यक्ष,
भूपाल नोबल्स पी.जी. गर्ल्स कॉलेज,
उदयपुर

डॉ. नाथूराम ढाका
विभागाध्यक्ष,
राजकीय बाँगड कॉलेज,
डीडवाना (नागौर)

कक्षा–12
लोक प्रशासन

समय–3:15 घंटे | पूर्णांक : 80

इकाई विषय वस्तु

1. लोक प्रशासनः वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य 06
लोक प्रशासन अध्ययन विषय के रूप में विकास

2. प्रमुख सैद्धान्तिक विचारधाराएं 10
वैज्ञानिक प्रबन्ध (टेलर, फेयोल) शास्त्रीय विचारधारा (गुलिक, उर्विक)
अधिकारी तंत्र प्रतिमान (मेक्स वेबर), मानव सम्बन्ध विचारधारा (एल्टन मेयो)

3. प्रशासनिक व्यवहार 10
सम्प्रेषण, अभिप्रेरणा (मैस्लो एवं मेकग्रेगर), निर्णय–निर्माण (हर्बर्ट साइमन)

4. तुलनात्मक लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन 08
तुलनात्मक लोक प्रशासनः अर्थ, प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व, विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकासः अर्थ, विशेषताएँ एवं अनर्तसंबंध

5. भारतीय प्रशासनः सामान्य परिचय 08
कौटिल्य के प्रशासनिक विचार, भारतीय प्रशासन का संवैधानिक परिप्रेक्ष्य एवं भारतीय प्रशासन की विशेषताएँ

6. नीति निरूपण एवं नियोजन 10
नीति आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषदः संगठनात्मक स्वरूप एवं कार्य,
राजस्थान में नियोजन विभाग एवं योजना मंडलः संगठन एवं भूमिका, जिला आयोजना समिति

7. वित्तीय प्रशासन 06
बजट का अर्थ एवं प्रकार, भारत में बजट का निर्माण एवं अनुमोदन प्रक्रिया, वित्तीय नियंत्रण

8. कार्मिक प्रशासन 08
उच्च लोक सेवाओं में भर्ती–प्रक्रिया एवं प्रशिक्षण, संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्य लोक सेवा आयोग, संगठनात्मक स्वरूप एवं भूमिका

9. भारतीय प्रशासन : महत्वपूर्ण मुद्दे 08
मंत्री–लोक सेवक संबंध, सामान्य, विशेषज्ञ संबंध, प्रशासनिक नैतिकता, प्रशासन में पारदर्शिता (नागरिक अधिकार पत्र, सूचना का अधिकार)

10. प्रशासनिक सुधार एवं नवाचार 06
भारत में प्रशासनिक सुधार : स्वतंत्रता पश्चात् के विभिन्न आयोगों एवं समितियों की जानकारी, राजस्थान में प्रशासनिक सुधार एवं नवाचार

अनुक्रम

इकाई–1 लोक प्रशासन : वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य	01–09
1. लोक प्रशासनः अध्ययन विषय के रूप में विकास	01
इकाई – 2 प्रमुख सैद्धान्तिक विचारधाराएँ	10–44
2. वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा	10
3. शास्त्रीय विचारधारा	22
4. इकाई–2 प्रमुख सैद्धान्तिक विचारधाराएँ	30
5. मानव सम्बन्ध विचारधाराअधिकारी तंत्र प्रतिमान	37
इकाई–3 : प्रशासनिक व्यवहार	45–62
6. सम्प्रेषण अथवा संचार	45
7. अभिप्रेरणा	50
8. निर्णय निर्माण	58
इकाई–4. तुलनात्मक लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन	63–77
9. तुलनात्मक लोक प्रशासन	63
10. विकास प्रशासन	68
11. प्रशासनिक विकास	73
इकाई–5 भारतीय प्रशासन : सामान्य परिचय	78–98
12. कौटिल्य के प्रशासनिक विचार	78
13. भारतीय संविधान एवं लोक प्रशासन	88
14. भारतीय प्रशासन तंत्र की विशेषताएँ	93
इकाई–6 नीति निरूपण एवं नियोजन	99–129
15. नीति आयोग	99
16. राष्ट्रीय विकास परिषद्	106
17. नियोजन विभाग एवं योजना मण्डल	111
18. जिला आयोजना समिति	122

इकाई–7 वित्तीय प्रशासन 130–149
19. बजट की अवधारणा 130
20. भारत में बजट 137
21. वित्तीय नियंत्रण 144

इकाई–8 : कार्मिक प्रशासन 150–165
22. लोक सेवाओं में भर्ती 150
23. लोक सेवाओं में प्रशिक्षण 157
24. संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग 162

इकाई – 9 भारतीय प्रशासनः महत्वपूर्ण मुद्दे 166–189
25. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध 166
26. सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ 171
27. प्रशासनिक नैतिकता 176
28. प्रशासन में पारदर्शिता 183

इकाई – 10 प्रशासनिक सुधार एवं नवाचार 190–197
29. प्रशासनिक सुधार 190

इकाई–1 लोक प्रशासन : वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य

अध्याय–1
लोक प्रशासनः अध्ययन विषय के रूप में विकास
(Public Administration: Evolution as a subject of study)

आज जिस रूप में हम लोक प्रशासन का अध्ययन करते है, वह कुछ विकासात्मक प्रक्रियाओं की उपज है। इसका अर्थ यह है की हमें उन कारकों का अध्ययन और विश्लेषण करना होगा, जिसके कारण लोक प्रशासन एक विषय के रूप में विकसित हो पाया है। लोक प्रशासन का प्रयोग प्रायः दो अर्थो में किया जाता है – प्रथम ,लोक प्रशासन एक क्रिया के रूप में और द्वितीय लोक प्रशासन एक_अध्ययन विषय के रूप में, अर्थात् लोक प्रशासन एक क्रिया के रूप तथा एक स्वतंत्र विषय के रूप में दोनों हैं, अतः इसकी विकास यात्रा का वर्णन भी दोनों रूपों में किया जाता है :

(1) लोक प्रशासन एक क्रिया के रूप में :

लोक प्रशासन एक क्रिया के पहलू के रूप में उतना ही पुराना है जितना कि राजनीतिक समाज, यानि राजनीतिक निर्णयकर्त्ताओं द्वारा निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए यह राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ सहअस्तित्व कायम रखता है। सिन्धुघाटी सभ्यता के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि यहाँ प्रारम्भिक काल से ही सुविकसित प्रशासनिक व्यवस्था विद्यमान थी। प्राचीन यूनान के नगर–राज्यों में भी लोक प्रशासन का संगठित रूप हमें प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में प्रशासन की कला राजशास्त्र का अंग समझी जाती थी तथा गंगा सिन्धु घाटी के ग्राम समाज, गण राज्यों तथा राजतंत्रात्मक राज्यों में हमें इस बात के प्रमाण मिलते है। कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से एक पर्याप्त सुविकसित प्रशासकीय व्यवस्था विद्यमान थी।

(2)लोक प्रशासन एक विषय के रूप में :

एक व्यवस्थित अध्ययन क्षेत्र के रूप में लोक प्रशासन काफी नया विषय है फिर भी प्राचीन काल से ही तमाम चिन्तको नें प्रशासकीय विचार और व्यवहार में अपना योगदान दिया है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारत में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जिसको प्रशासन का एक प्रमाणिक ग्रंथ माना जाता है। जिसमें लोक प्रशासन विषय के तीन पहलुओं पर चर्चा की गई है यथा लोक प्रशासन के सिद्धांत, सरकारी तन्त्र और कार्मिकों का प्रबन्ध। कौटिल्य के अनुसार लोक प्रशासन की कला को तभी अपनाया जा सकता है जब वह लोक प्रशासन के विज्ञान से सुपरिचित हो । इसलिए राजा, युवराज, उच्च धर्माचार्य तथा मंत्रियों को लोक प्रशासन के विज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है। प्राचीन पश्चिम में अरस्तू का पॉलिटिक्स और मध्यकालीन पश्चिम में मैक्यावेली की ''द प्रिंस'' में लोक प्रशासन के संगठन और काम करने के तरीके के बारे में महत्वपूर्ण टीका–टिप्पणियों का उल्लेख मिलता है।

सोलहवीं शताब्दी में विवरणात्मक तौर से लोक प्रशासन विषय का व्यापक रूप में संकलन और अध्यापन कैमरैल विज्ञान के प्रोफेसरो द्वारा आरम्भ किया गया। कैमरेलिस्ट जर्मन तथा आस्ट्रेलियाई प्रोफेसरो एंव प्रशासको के समूह को कहा जाता है। जिन्हें सरकारी सेवाओं के लिए सक्षम उम्मीदवार तैयार करने हेतु सिविल सेवाओं से समबद्ध विषयों पर प्रगतिशील दृष्टिकोण के साथ संगठित अनुसंधान किये है।18 वीं शताब्दी के अंत में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम वित्त मंत्री अलेक्जेण्डर हेमिल्टन द्वारा प्रकाशित विश्वकोष ''फैडरलिस्ट'' के 72 वें परिच्छेद में लोक प्रशासन की परिभाषा और इसके विषय क्षेत्र की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। 19वीं शताब्दी के शुरू में फ्रांस ऐसा देश था जिसने लोक प्रशासन के महत्व को पहचाना और अग्रणी भूमिका निभाई। वहाँ के लेखक चार्ल्स जीन बेनिन नें सन् 1812 में "Principel D'Administration Publique" नामक इस विषय की पहली पुस्तक लिखी। लोक प्रशासन के अध्ययन को 1859 में उस समय काफी बढ़ावा मिला, जब विवेन की पुस्तक एतुदेज एदमिनीस्त्रेतित्वस के दो खण्ड प्रकाशित हुए। लोक प्रशासन विषय के विकास की दृष्टि से उपर्युक्त वर्णित सभी प्रयासों का अपना महत्व तो है। लेकिन अध्ययन–अध्यापन के स्वतंत्र विषय के रूप में इसका विकास सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारम्भ हुआ और इसके बाद ही,इसे एक सम्पूर्ण शास्त्र का स्थान मिल सका। इसलिए इस विषय के उद्भव की खोज विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के संदर्भ में ही करनी होगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्र शैक्षणिक शास्त्र के रूप में लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास में निम्न कारकों नें योगदान दिया है :

(1) सार्वजनिक क्षेत्र के कुशल कार्य निष्पादन के विषयों पर विचार संगोष्ठियों का होना।

(2) सरकारी कार्य पद्धति में सुधार के लिए आन्दोलनों का होना।

(3) सरकारी गतिविधियों के निरन्तर विस्तार तथा कुशलता व उत्तरदायित्व के प्रति, दिन–प्रतिदिन बढ़ती हुई चिन्ता।

(4)विज्ञान और तकनीकी के विकास का जनता के जीवन और सरकार के कार्यों पर पडनें वाला प्रभाव।

(5) समाज में बढ़ती हुई जटिलताओं और राज्य के कार्यों में बढ़ोतरी।

(6)वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन जिसका समर्थन एफ.डब्ल्यू. टेलर नें किया।

(7)उन्नीसवीं सदी का औद्योगिकरण जिसनें विशाल स्तर के

संगठनों को जन्म दिया।

(8)लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का क्रमिक विकास।

एक स्वतंत्र विषय के रूप में लोक प्रशासन के अध्ययन का इतिहास लगभग 130 वर्ष पुराना माना जाता है। सामाजिक विज्ञानों में यह एक नया विषय होने के बावजूद इसमें अनेक उतार–चढ़ाव आये हैं। अध्ययन की सुगमता के लिए लोक प्रशासन के विकास के इतिहास को निम्न पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है :

प्रथम चरण : राजनीति–प्रशासन द्विभाजन काल (1887–1926)
द्वितीय चरण : प्रशासन के सिद्धांतों का स्वर्ण काल (1927–1937)
तृतीय चरण : चुनौतियों का काल (1938–1947)
चतुर्थ चरण : पहचान की संकट का काल (1948–1970)
पंचम चरण : अन्तर्विषयक काल (1971 – वर्तमान तक)

प्रथम चरण : राजनीति–प्रशासन द्विभाजन काल (1887–1926)
(Era of Politics - Administration Dichotomy)

एक स्वतंत्र शैक्षिक विषय के रूप में लोक प्रशासन का जन्म संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। इस विषय का व्यवस्थित अध्ययन शुरू करने का श्रेय वुडरो विल्सन को है, जो पहले प्रिस्टन विश्वविद्यालय अमेरिका में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर थे और बाद में अमेरिका के राष्ट्रपति बनें। सन् 1887 में इनका चर्चित लेख **"The Study of Administration"** राजनीतिक विज्ञान की त्रैमासिक पत्रिका (Political Science Quarterly) में प्रकाशित हुआ। इस लेख ने लोक प्रशासन के एक पृथक ,स्वतंत्र और व्यवस्थित अध्ययन की बुनियादी नींव डाली। विल्सन के अनुसार प्रशासन के अध्ययन का विकास समाज में बढती हुई जटिलताओं, राज्य के कार्यों में बढ़ोतरी और जनतांत्रिक ढाँचों में सरकारों के विकास के परिणाम स्वरूप हुआ। इसलिए वुडरो विल्सन को **''लोकप्र□ाासन का जनक''** कहा जाता है। विल्सन नें प्रशासन को राजनीति से पृथक किया। उन्होनें तर्क दिया कि राजनीति का सरोकार नीति निर्माण से है। जबकि प्रशासन का सरोकार नीति निर्णयों को लागू करने से होता है।

उनके शब्दों में कि प्रशासन राजनीति के वास्तविक कार्य क्षेत्र से बाहर है। प्रशासनिक सवाल, राजनीतिक सवाल नहीं होते। यद्यपि राजनीति ही प्रशासन के लक्ष्य निर्धारित करती है,लेकिन इसे प्रशासन के कार्यालयों को प्रभावित करनें की जहमत नहीं उठानी चाहिए। विल्सन नें लोक प्रशासन का वर्णन व्यापार के एक क्षेत्र के रूप में किया। उन्होंने कहा कि ''प्रशासन का क्षेत्र व्यापार का क्षेत्र है और वह राजनीति की जल्दबाजी और संघर्षो से दूर होता है।'' विल्सन का दृढ़ निश्चय था कि प्रशासन मुख्यतः एक विज्ञान है, इसलिए उन्होंने लोक प्रशासन के एक पृथक अध्ययन का आवाहन किया।उनका तर्क था कि ''किसी देश का संविधान बनाना एक सरल कार्य है, लेकिन ज्यादा मुश्किल काम उसे चलाना है।'' इसलिए प्रशासन का एक विज्ञान होना चाहिए,जो यह प्रयास करेगा कि सरकार सही तरह से और सरलतापूर्वक क्या करती है और यह काम कैसे सबसे कम पैसे और बल व सबसे अधिक कुशलता से किये जा सकते है।

विल्सनीय विचार पद्धति को कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रशासनिक कानून के प्राध्यापक फ्रेंक जे.गुडनाऊ ने 1900 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **"Politics and Administration"** में आगे बढाया। उन्होनें तर्क दिया कि राजनीति तथा प्रशासन दानों अलग–अलग है,क्योंकि राजनीति राज्य इच्छा को प्रतिपादित करती है जबकि प्रशासन इस इच्छा को क्रियान्वित करता है। विल्सन की तरह गुडनाऊ ने भी एक स्वतंत्र और पृथक अनुशासन के रूप में लोक प्रशासन को प्रोत्साहित करने की वकालत की। राजनीति और प्रशासन के द्विभाजन के संबध में उनकी इस स्पष्टता के कारण ,उन्हें अमरीकी लोक प्रशासन का जनक माना जाता है।

20 वीं सदी की शुरूआत में अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने लोक सेवा आन्दोलन (सरकारी सुधारों के लिए चलाए गए आन्दोलन) में काफी रूची दिखाई। परिणामस्वरूप लोक प्रशासन पर विद्वानों का ध्यान पहली बार गम्भीरता से गया। अमेरिकी राजनीति विज्ञान संघ नें अपनी 1914 की रिपोर्ट में कहा कि राजनीति विज्ञान का एक सरोकार सरकारी पदों के लिए विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करना है। इसका यह प्रभाव पड़ा कि लोक प्रशासन को राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग मानकर अमेरिका में लोक प्रशासन का व्यापक अध्ययन होने लगा।

सन् 1926 में एल.डी.व्हाइट की पुस्तक **"Introduction to the Study of Public Administration"** प्रकाशित हुई। जिसे लोक प्रशासन विषय की प्रथम पाठ्यपुस्तक माना जाता है। इसके प्रकाशन के साथ ही इस विषय को अकादमिक वैधता हासिल हो गई। यानि अमेरीकी विश्वविद्यालयों ने लोक प्रशासन के निर्देश पाठ्यक्रमों को उपलब्ध कराना शुरु कर दिया। व्हाइट ने अपनी इस पुस्तक में लोक प्रशासन के व्यवहारिक स्वरूप का वर्णन किया। उसने राजनीति–प्रशासन द्वैत भाव में विश्वास प्रकट किया और कहा कि लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य कार्यकुशलता और मितव्ययता है।

इस प्रकार प्रथम चरण (1927–1937) की दो प्रमुख विशेषताऐं रही हैं, लोक प्रशासन का जन्म और राजनीति व प्रशासन में द्विविभाजन।

द्वितीय चरण : प्रशासन के सिद्धांतों का स्वर्ण काल (1927–1937)
(Golden Era of Principles)

यह काल लोक प्रशासन के सिद्धांतों का स्वर्ण–युग माना जाता है। इस काल में एक मूल्य मुक्त प्रबन्कीय विज्ञान का विकास हुआ। जिसका प्रारम्भ सन् 1927 में डब्ल्यू.एफ.विलोबी की प्रसिद्ध पुस्तक **"Principles of Public Administration"** से माना जाता है। विलोबी ने कहा कि लोक प्रशासन में अनेक सिद्धांत होते है और इन सिद्धांतों को

क्रियान्वित करके लोक प्रशासन में सुधार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण को आगे बढाने वाली उस समय की अन्य पुस्तक है,सन् 1924 में मेरी पार्कर फॉलेट की **"Creative Experience"** जिसमें प्रशासन में संघर्षों पर ध्यान केन्द्रित किया गया। सन् 1929 में हेनरी फेयोल की **"General & Industrial management"** नामक पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया गया। जबकि वास्तविक रूप में यह पुस्तक 1916 में फ्रांसीसी भाषा में "General and Industrail Administration" के नाम से लिखी गई थी। सन् 1930 में मूने एंव रैले द्वारा रचित पुस्तक **ऑनवर्ड इन्डस्ट्री (Onward Industry)** जिसे 1939 में **"Principles of Organisation"** के नाम से प्रकाशित किया गया। सन् 1937 में लूथर गुलिक एवं एल.उर्विक नें **"Papers on the Scienceof Administration"** नामक ग्रंथ का सम्पादन किया। इसी काल में लूथर गुलिक ने प्रशासनिक कृत्यों की व्याख्या पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) नामक शब्द में संकलित किया। लगभग इस काल के सभी विचारकों को यह दावा था कि प्रशासन के सर्वव्यापी नियमों एंव सिद्धांतों की उपस्थिति इसे विज्ञान के समक्ष स्थापित करती है और इस चरण के दौरान लोक प्रशासन अपनी प्रतिष्ठा के शीर्ष स्थान पर पहुँचा।

तृतीय चरण : चुनौतियों का काल (1938–1947) (Era of Challenges)

यह काल लोक प्रशासन के विकास में आलोचनाओं और चुनौतियों का रहा। इस चरण का मुख्य विषय था लोक प्रशासन के अध्ययन में मानवीय सम्बंधों पर जोर देना। इस चरण का प्रारम्भ द्वितीय चरण में प्रतिपादित यान्त्रिक दृष्टिकोण के विरूद्ध हुई प्रतिक्रिया से हुआ । प्रशासन के तथाकथित सिद्धांतों को चुनौती दी गई और इन्हें कहावतें कहा जाने लगा। इस सम्बध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रसिद्ध हॉथोर्न प्रयोगों का रहा। सन् 1938 में चेस्टर आई.बर्नार्ड की पुस्तक **"The Functions of the Executive"** प्रकाशित हुई। उन्होने अपनी रचना में प्रशासनिक सिद्धांतों की अवहेलना की । बर्नार्ड वे प्रथम विद्वान है जिन्होंने संगठन को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं पर मानवीय तत्वों के प्रभावों को विश्लेषित करनें का प्रयास किया।

सन् 1945 में हर्बर्ट साइमन की पुस्तक **"Administrative Behaviour"** प्रकाशित हुई। जिसमें उन्होनें यह भली–भाँति सिद्ध किया कि प्रशासन में सिद्धांत नाम की कोई चीज नही होती है। सन् 1947 में रॉबर्ट ड्हाल ने अपने लेख **"The Science of Public Administration : Three Problems"** में कहा कि लोक प्रशासन विज्ञान नही है, उन्होने लोक प्रशासन द्वारा सिद्धांत की खोज में तीन बाधाओं का उल्लेख किया– (क) विज्ञान मूल्य शून्य होता है जबकि प्रशासन में मूल्य बहुलता है (ख) मनुष्यों के व्यक्तित्व अलग–अलग होते है,जिससे प्रशासन के कार्यो में विभिन्नता आ जाती है। (ग) सीमित राष्ट्रीय एंव ऐतिहासिक सन्दर्भों के आधार पर सार्वभौमिक सिद्धान्तों का निर्माण करना।

चतुर्थ चरण : पहचान की संकट का काल (1948–1970) (Era of Crisis of Identity)

साइमन द्वारा आलोचना के परिणामस्वरूप सिद्धांतवादी विचारधारा पूर्णतः धाराशाही हो गई। यहाँ तक कि विषय के अस्तित्व का ही खतरा उत्पन्न हो गया। लोक प्रशासन कोई एक स्वतंत्र विषय है या नहीं,इस पर भी वाद–विवाद होने लगा। इस कारण लोक प्रशासन के इतिहास में इस काल को स्वरूप की संकटावस्था (Crisis of Identity) के नाम से जाना जाता है। संकट के इस चरण में कुछ विद्वान लोक प्रशासन से पुनः राजनीति विज्ञान की तरफ लौट आये, क्योंकि लोक प्रशासन विषय का विकास राजनीति विज्ञान से अलग होकर ही हुआ था। इस काल का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि लोक प्रशासन विषय जहाँ एक ओर पृथक पहचान खो रहा था,वहीं लोक प्रशासन के क्षेत्र में तुलनात्मक लोक प्रशासन एंव विकास प्रशासन का उद्‌गम हुआ।

रॉबर्ट ड्हाल ने कहा कि जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होता,तब तक इसका विज्ञान होने का दावा खोखला है। तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा को अधिक समृद्ध बनाने में फ्रेड रिग्ज, रिर्चड गेबल, फ्रेडरिक क्लीवलैण्ड, एलफ्रेड डायमेण्ट, फैरेल हैडी, शेरवुड, जॉन माण्टगोमरी आदि विद्वानों नें महत्वपूर्ण योगदान दिया। सर्वप्रथम 1948 में तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन को स्वतंत्र विषय के रूप में अमेरिका के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में प्रारम्भ किया गया।इसका श्रेय प्रो.ड्वाइट वाल्डो को जाता है। **Comparative Administration Group** की स्थापना 1963 में **American Society for Public Administration** द्वारा की गई।

सन् 1950–1960 के दशक के बीच लोक प्रशासन के क्षेत्र में विकास प्रशासन की अवधारणा विकसित हुई। सर्वप्रथम एडवर्ड डब्ल्यू. वाइडनर नें विकास प्रशासन की अवधारणा को प्रतिपादित किया। उन्होनें विकास प्रशासन को ''कार्योन्मुख एंव लक्ष्योन्मुख'' प्रशासनिक प्रणाली के संदर्भ में परिभाषित किया। विकास प्रशासन नामक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग एक भारतीय प्रशासक यू.एल.गोस्वामी द्वारा किया गया । इसका प्रयोग उनके लेख **दि स्ट्रक्चर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया,** जो इंडियन जरनल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में 1955 में प्रकाशित हुआ। विकास प्रशासन के विश्व विख्यात प्रतिपादक जॉर्ज ग्राण्ट है। जिनका नाम टेनिस वैली परियोजना से जुडा हुआ है। उनकी पुस्तक **विकास प्रशासन : अवधारणा, लक्ष्य और पद्धति** 1979 में प्रकाशित हुई। औपनिवेशिक प्रशासन से मुक्त हुए देशों की विकास नीतियों और कार्यक्रमों की दिशा औद्योगिकरण और आधुनिकीकरण के द्वारा लोगों के जीवन स्तर में सुधार लानें,सामाजिक सेवाओं और सांस्कृतिक गतिविधियों एंव राजनितिक संस्थाओं के विस्तार की ओर रही है। इन उद्देश्यों की पूर्ति में लगे प्रशासनिक तंत्र को विकास प्रशासन की संज्ञा दी गई। विकास प्रशासन को स्पष्ट करनें में वाइडनर, रिग्ज़, फैरल हैडी , मौंटगोमरी, लुइस पाई, वॉटरसन, फेनसोड, इर्विंग, स्वैंडलों तथा पाई पनन्दिकर आदि प्रमुख विद्वानों ने

विकास प्रशासन की संकल्पना को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में अपने–अपने तरीके से परिभाषित किया, किन्तु वे एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि विकास प्रशासन का तात्पर्य –सामाजिक अर्थतंत्र का योजनाबद्ध परिवर्तन है।

पंचम चरण : अन्तर्विषयक काल (1971 से वर्तमान तक) (Era of Inter-Disciplinary Study)

इस काल में लोक प्रशासन विषय की सर्वांगीण उन्नति हुई तथा इस बीच लोक प्रशासन का अन्तर्विषयक दृष्टिकोण उभर कर सामने आया तथा लोक प्रशासन के अध्ययन में अन्तर्विषयी सहयोग व अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा। अनेक विषयों के विद्वान लोक प्रशासन में आकर उसका अध्ययन व सेवा करने में लग गये। इस चरण का मुख्य विषय लोक नीति विश्लेषण का सरोकार था,इसलिए राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, प्रबन्धशास्त्र के साथ लोक प्रशासन के गहरे सम्बध स्थापित हुए। विश्व में प्रशासन के व्यवहारिक अनुभवों नें राजनीति और प्रशासन के द्विभाजन की समाप्ति करते हुए, इन दोनों के निकट सम्बध स्थापित होनें से नीतियों के विश्लेषण की प्रवृति आसान हो सकी।

1968 के पश्चात् लोक प्रशासन के क्षेत्र में नवीन विचारों का सूत्रपात हुआ–नैतिकता, सामाजिक उपयोगिता, प्रतिबद्धता, विकेन्द्रीकरण, प्रतिनिधित्व मूल्यों पर आधारित, परिवर्तन, निर्णय निर्माण में जन सहभागिता, सामाजिक समता, ग्राहकोन्मुखता एंव प्रासंगिकता आदि। इन्हीं नवीन विचारों को नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी गई। नवीन लोक प्रशासन के विकास के उत्तरदायी तत्व निम्नलिखित है :

(1) संयुक्त राज्य अमेरिका में सार्वजनिक सेवाओं संबंधी उच्च शिक्षा पर **''हनी प्रतिवेदन'', 1967**

(2) अमेरिका में आयोजित ''लोक प्रशासन के सिद्धांत और व्यवहार पर **फिलाडेल्फिया सम्मेलन'' 1967**

(3) **प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968**

(4) फ्रेंक मेरीनी द्वारा सम्पादित रचना **Towards New Public Administration:Minnowbrook Perspective, 1971**

(5) ड्वाइट वॉल्डो द्वारा सम्पादित पुस्तक **Public Administration in The Time of Turbulance, 1971**

नवीन लोक प्रशासन के चार प्रमुख लक्ष्यों–प्रासंगिकता (Relevance), मूल्य (Value), सामाजिक समता (Social Equality) एंव परिवर्तन (Change) पर बल दिया गया है। इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से है :

(अ) प्रासंगिकता (Relevance) :

प्रासंगिकता शब्द लोक प्रशासन की वर्तमान परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं से जूझने की क्षमता की ओर संकेत करता है। 1960 के दशक में परिस्थितियों के अनुसार लोक प्रशासन की क्षमता के सिद्धांतों पर अनेक मौलिक प्रश्न उठाये गये तथा सामाजिक और राजनीतिक विज्ञान के रूप में लोक प्रशासन की उपयोगिता आदि प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया गया। परम्परावादी लोक प्रशासन अमेरीकी समाज के संकट को समझनें में असफल सिद्ध हुआ। आर्थिक, सामाजिक एंव राजनीतिक संकटों से उत्पन्न नई मांगों और चुनौतियों का सामना करने में यह अपने आप को असमर्थ पा रहा था। परम्परागत लोक प्रशासन के कार्यकुशलता और मितव्यता के लक्ष्य अपर्याप्त लगनें लगे। यह कहा गया कि इस विषय के पास समकालीन समाज की समस्याओं से निपटने की क्षमता ही नहीं रही। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार यह विषय ही अप्रांसगिक लगने लगा। लोक प्रशासन की क्षमता के बारे में मिन्नोब्रुक सम्मेलन में निम्नलिखित प्रश्न उठाये गये :

(1) सामाजिक व राजनीतिक विज्ञान के रूप में लोक प्रशासन के क्या–क्या उपयोग हैं ?

(2) लोक प्रशासन की दक्षता और मितव्ययता क्यों ?

(3) हम चयन के लिए किस स्तर के निर्णयों का प्रयोग करते है ? किस तरह के प्रश्नों का अध्ययन होना चाहिए,तथा उनका अध्ययन कैसे किया जाये ?

(4) लोक प्रशासन हमारी प्राथमिकताओं और प्रश्नों को कैसे तय करता है ?

(5) लोक प्रशासन के ज्ञान के सामाजिक और नैतिक निहितार्थो से हम किस सीमा तक परिचित है?

(6) क्या वर्तमान समय में लोक प्रशासन वैसा ज्ञान प्रदान करता है जो समाज में कुछ संस्थाओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके?

नये आन्दोलन नें सार्वजनिक जीवन की वास्तविकताओं की तरफ उन्मुख अर्थपूर्ण अध्ययन को सुसाध्य बनाने के लिए विषय की कार्य सूची में आमूल–चूल परिर्वतन करने की मांग की।

(ब) मूल्य (Values) :

नवीन लोक प्रशासन स्पष्ट रूप से आदर्शात्मक है।यह परम्परागत लोक प्रशासन के मूल्य तटस्थ रूख को अस्वीकार करता है। मिन्नोब्रुक सम्मेलन के सहभागियों नें यह स्पष्टतः कहा कि मूल्य के प्रति तटस्थ लोक प्रशासन असंभव है। उन्होनें इस बात पर बल दिया कि प्रशासन को उन्हीं मूल्यों को अपनाना चाहिए जो समाज में उत्पन्न समस्याओं के समाधान करें, साथ ही कमजोर वर्गो के हितों की रक्षा कर सके।

(स) सामाजिक समानता (Social Equality) :

सामाजिक समानता के विचारों का विस्तार ही लोक प्रशासन का मौलिक आधार है तथा नवीन लोक प्रशासन ने इस बात पर जोर दिया है कि लोक प्रशासन समाज के दलित एंव वचिंत वर्ग के लोगों की आर्थिक, सामाजिक एंव मनोवैज्ञानिक पीड़ा को समझनें और उनके कष्टों के निवारण हेतु उचित कदम उठाये।परम्परागत लोक प्रशासन यथास्थितिवादी है जबकि नवीन लोक प्रशासन समाज के कमजोर वर्गों अर्थात् महिलाओं, बच्चों और दलितों को सामाजिक न्याय प्रदान करानें के प्रति संवेदनशील रहता है फ्रेडरिक्सन नें सामाजिक समानता की व्याख्या काफी साहस के साथ करते हुए कहते है कि जो लोक प्रशासन अल्पसंख्यकों के पिछड़ेपन को दूर करने वाले परिर्वतन को लाने में असफल रहता है, अंततः उसका उपयोग इन अल्पसंख्यकों के शोषण में ही किया जाता है।

(द) परिर्वतन (Change) :

नवीन लोक प्रशासन समाज में परिर्वतन लाने के औजार के रूप में कार्य करता है। मिन्नोब्रुक सम्मेलन ने परिर्वतन को संस्थागत बनाने और बड़े संस्थानों की नौकरशाही प्रवृति पर अंकुश लगानें के उपायों को खोजा। नवीन लोक प्रशासन यथा स्थिति बनाने की नौकरशाही की प्रकृति को उचित नहीं मानता। यह समाज में यथास्थितिवाद, शोषण, सामाजिक और आर्थिक विषमता को समाप्त करके समता और शोषण विहीन नए समाज की स्थापना पर बल देता है।

निष्कर्ष के तौर पर नवीन लोक प्रशासन,परम्परावादी लोक प्रशासन की अपेक्षा कम जातिगत और अधिक सार्वजनिक होना चाहिए।यह वर्णनात्मक कम और निर्देशात्मक तथा अनुशासनात्मक ज्यादा है। यह संस्थागत कम तथा अपने से जुडे उपभोक्ताओं के प्रभावों की तरफ अधिक उन्मुख है।यह तटस्थ कम और मूल्यपरक ज्यादा है और यह भी आशा की जाती है कि उसका दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक होगा।

लोक चयन दृष्टिकोण (Public Choice Approach) का प्रमुख समर्थक विन्सेन्ट ऑस्ट्राम है।यह उपागम उपभोक्ताओं तथा व्यक्तिगत प्राथमिकताओं के अनुरूप लोक प्रशासन के सिद्धांतों के सृजन का एक प्रयास है। यह दृष्टिकोण प्रशासन की नौकरशाही पर आधारित पद्धति की आलोचना करता है। तथा नागरिक सेवा तथा सार्वजनिक सुविधाओं के लिए संस्थागत बहुलतावाद की संभावनाओं पर जोर देता है। संस्थाओं और शासनात्मक संगठनों की बहुलता का यह उपभोक्ता की पसन्द–नापसन्द के आधार का समर्थन करता है।

आलोचनात्मक सिद्धांत का प्रमुख सर्मथक जर्गेन हैबरमॉस है। यह सिद्धांत एक संगठन में सत्ता की परिस्थितियों एंव निर्भता के विषय में जाँच पड़ताल करता है। और सोपानात्मक सम्बधों में अन्तर्निहित विरोधों को उत्पन्न करने का प्रयास करता है। आलोचनात्मक सिद्धांत ने लोक प्रशासन को मानवीय बनाने पर जोर दिया।

सन् 1980–90 के दशक में लोक प्रशासन के क्षेत्र में एक नवीन परिर्वतन हुआ कि पश्चिमी देशों की सरकारों नें अपना अनुकूलन नयी प्रौद्योगिकी, नवीन सामाजिक मांगों तथा तीव्र प्रतिस्पर्धा के अनुसार कर लिया। इससे एक नये किस्म के लोक प्रशासन की जरूरत पैदा हुई है। जिसे हम नव–लोक प्रबन्धन (New Public Management) के नाम से जानते है। सबसे पहले नव–लोक प्रबन्ध शब्द का प्रयोग क्रिस्टोफर हुड नें किया था और बाद में इस दिशा में योगदान करनें वाले विद्वानों में गेराल्ड केडन, पी.हैगेट, सी.पौलिट, आर.रोड्स, एल. टेरी इत्यादि प्रमुख है। इस नव–लोक प्रबन्ध परिप्रेक्ष्य का जोर तीन E को प्राप्त करना है : Efficiency (कार्यकुशलता), Economy (मितव्ययिता) एंव Effectiveness (प्रभावशीलता)। नव–लोक प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताऐं नीति के स्थान पर प्रबन्धन पर जोर, सक्षमता, किफायतीपन, प्रभावकारीता, प्रतियोगिता, अनुबन्ध, कार्य निष्पादन का मूल्यांकन, प्राधिकारों का विकेन्द्रीकरण एंव बाजार आधारित तन्त्रों को वरीयता देना आदि।

द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन,1988 से प्रभावित होकर डेविड ऑसबोर्न तथा टेड गैब्लर नें सन् 1992 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **"सरकार का पुर्नान्वेशण (Reinventing Government)"** में नव–लोक प्रबन्ध के लिए दस सूत्री कार्य योजना प्रस्तुत की, जो निम्नलिखित है :

(1) उत्प्रेरक सरकार (Catalystic Government) : सरकार को सेवाऐं प्रदान करते रहने की बजाए सामाजिक समस्याओ को हल करनें के लिए सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र और स्वयं सेवी/गैर सरकारी क्षेत्र को हरकत में आने के लिए उत्प्रेरित करना चाहिए।

(2) सामुदायिक स्वामित्व की सरकार (Community owned Government) : नौकरशाही के नियंत्रण को कम या समाप्त करके नागरिकों, परिवारों और समुदायों इत्यादि को अपनी समस्याओं का समाधान स्वंय करने के लिए अधिक सशक्त बनाने पर बल दिया जाना चाहिए।

(3) प्रतिस्पर्धात्मक सरकार

(Competitive Government) : सरकार को दक्षता और मितव्ययता पर प्रोत्साहन देकर विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के दाताओं के बीच प्रतियोगिता पैदा करनी चाहिए। यह प्रर्दशन को बेहतर करता है और लागत को कम करता है।

(4) अभियान–संचालित सरकार

(Mission Driven Government) : सरकार को अपनें लक्ष्यों से संचालित होना चाहिए न कि कायदे –कानूनों से।

(5) परिणोन्मुखी सरकार

(Results Oriented Government) : सरकार को लक्ष्य प्राप्ति और अभियान–निर्देशित प्रयासों द्वारा परिणाम हासिल करने चाहिए। सरकार अपनी प्रशासनिक अभिकरणों की उपलब्धि का मूल्यांकन मूलतः निर्गतों के अधार पर करना चाहिए न कि आगतों से।

(6) ग्राहकोउन्मुखी सरकार

(Customer Oriented Government) : सरकार को अपनें ग्राहकों को उपभोक्ता समझना चाहिए। उनके लिए अनेकानेक विकल्प प्रस्तुत करने चाहिए। उनके रूखों का सर्वेक्षण करना, सेवाओं को सुविधाजनक बनाना और उनके सुझावों का स्वागत करना आदि क्योंकि भारत में ग्राहक को परमेश्वर कहा गया है।

(7) उद्यमीं सरकार

(Enterprising Government) : सरकार को केवल धन खर्च करने की ही नहीं सोचना चाहिए,बल्कि धनार्जन पर जोर देना चाहिए। इसे शुल्क, बचत, उद्यम मद आदि का इस्तेमाल कर संसाधन जुटाने में अपनी ऊर्जा लगानी चाहिए।

(8) पूर्वानुमानी सरकार

(Anticipatory Government) : सरकार समस्या उत्पन्न होने पर सक्रिय होती है।इसके बजाय सरकार को चाहिए कि समस्या उठनें ही नहीं दे।इस प्रकार सरकार को जरूरतें पूरी करने से पूर्व उन्हे पैदा होने से रोकना चाहिए।

(9) विकेन्द्रित सरकार

(Decentralised Government) : प्राधिकार का विकेन्द्रकरण आवश्यक है और सहभागिता पर आधारित प्रबन्ध को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(10) बाजार उन्मुखी सरकार (Market oriented Government) : इस समय अनेक सेवाऐं सरकार स्वंय संचालित करती है। अच्छा यह हो कि समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए सरकार को बाजार–पद्धति अपनानी चाहिए न कि नौकरशाही पद्धति।

इस पुस्तक ने लोक प्रशासन के विद्वानों को कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया कि आज नौकरशाही के जुल्मों से सभी परेशान है। शासकीय सेवाओं में आने के पश्चात् कोई भी अपने कर्तव्य व उत्तरदायित्व के साथ काम नहीं करना चाहता। नौकरशाही से छुटकारा दिलाने की दिशा में सरकार का पुनरान्वेषण एक साहसिक कदम है।

सन् 1994 में कनाडा के शहर शर्लोट में राष्ट्र मण्डलीय देशों नें लोक प्रशासन और प्रबन्धन पर केन्द्रित एक सम्मेलन का आयोजन किया। जिसका विषय था : संक्रमण से गुजरती सरकार। इसमें यह स्वीकार किया गया कि नव–लोक प्रबन्ध आज की हकीकत है लेकिन राज्य को उन निजी ताकतों से मिल रही चुनौती गम्भीर है जो व्यापारिक, व्यावसायिक स्वायत्ता के लिए निरन्तर दबाव बनाये हुए है। वस्तुतः इस सम्मेलन की चिन्ता आज लगभग 22 वर्षों से अधिक पुरानी हो गयी है और हम देख सकते है वर्तमान में यह व्यर्थ हो चुकी है। नव–लोक प्रबन्ध के इस वर्चस्व में भी राज्य सुरक्षित है और वह जनहित में इसका विकल्प ला सकता है। भारत में अधारभूत संरचना के विकास के साथ उपभोक्ता बाजार का विकास गत दशक में जितनी तेजी से हुआ है उसनें जनता की दृष्टि भी बदल दी है।

सिराक्यूज विश्वविद्यालय अमेरिका द्वारा आयोजित तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन सन् 2008 में दो चरणों में सम्पन्न हुआ। जिसकी थीम–भविष्य का लोक प्रशासन, भविष्य का लोक प्रबन्धन एवं भविष्य की लोक सेवाऐं रखी गई। सम्मेलन की अध्यक्षता **रोजमैरी ऑलियरी (Rosemary O'leary)** के द्वारा की गई। सम्मेलन के दूसरे चरण में सभी विद्वान इस बात से सहमत थे कि लोक प्रशासन को भविष्य में मिलने वाली चुनौतियों से निपटनें एवं उनके प्रभावी समाधान हेतु एक वैश्विक स्तर का जर्नल का प्रकाशन हो। जिसका नाम Journal of Public Administration Research and Theory (JPART) रखा गया तथा जिसका प्रकाशन 2009 से प्रारम्भ किया गया।

सन् 2010 में रोजमेरी ऑलीयरी, डविड एम.वान. स्लीके एंव सून्ही कीम द्वारा सम्पादित पुस्तक "The Future of Public Administration Around the World : The Minnowbrook Perspective" प्रकाशित हुई जिसमें तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन व वर्तमान लोक प्रशासन के कार्य क्षेत्र की समस्याओं और समाधान पर विस्तृत व्याख्या मिलती है।

तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन 2008 की प्रमुख विशेषताऐं निम्नलिखित है :

(1) सम्मेलन ऐसे समय में आयोजित हो रहा था जब अमेरिकी अर्थव्यवस्था मंदी के दौर से गुजर रही थी और वैश्विक आतंकवाद चरम सीमा पर था।

(2) सम्मेलन का मुख्य फोकस संरचनात्मक और कार्यात्मक सुधारों के साथ दुसरी पीढी के सुधारों पर केन्द्रित था।

(3) इस सम्मेलन में 3 E मितव्ययता (Ecomony), दक्षता (Efficiency) और प्रभावशीलता (Effectiveness) की अवधारणा का जन्म हुआ।

(4) सम्मेलन का आयोजन दो चरणों में सम्पन्न हुआ। एक में लोक प्रशासन के युवा एंव उभरे विद्वान तो दुसरे मे अनुभव प्राप्त विद्वान शामिल हुए।

(5) सम्मेलन में लोक प्रशासन की एक नई परिभाषा "लोक प्रशासन, सभी के लिए मानव उत्कर्ष को बढावा देने के संबंध, संवाद और कार्यवाही की एक सामाजिक रूप से सन्निहित (Embedded) प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है।" दी गई।

(6) सम्मेलन में भविष्य का लोक प्रशासन की विश्व स्तर पर चर्चा की गई।

(7) इस सम्मेलन में विश्व के सभी देशों के प्रमुख लोक प्रशासन के विद्वानों को आमंत्रित किया गया क्योंकि आज विश्व स्तर पर लोक प्रशासन की चुनौतियॉ एंव समस्याओं का सामना हो रहा है।

(8) सम्मेलन रोजमैरी ऑलीयरी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

(9) इस सम्मेलन के नतीजे अभी तक जारी हो रहे है।

(10) यह सम्मेलन शान्ति व मधुर सौहार्दपूर्ण वातावरण के साथ सम्पन्न हुआ।

वर्तमान में लोक प्रशासन को सुशासन (Good Governance) बनाने पर जोर दिया जा रहा है।शिकागो विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री मिल्टन फ्राइडमैन ने इस अवधारणा को प्रचलित किया कि अच्छे शासन के लिए आवश्यक है कि सरकार की सीमित भूमिका हो। सुशासन, सरकार की गुणवत्ता को प्रर्दशित करने वाली अवधारणा है। सामान्यतः सुशासन का अर्थ सरकार की ऐसी शासन व्यवस्था से है,जो नागरिकों के हितों की उचित समय पर तथा प्रभावशाली तरीके से सुरक्षा कर सके, साथ ही सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हुए कुशल सेवाऐं नागरिकों को प्रदान करा सकें। वास्तव में सुशासन में संवेदनशीलता, पारदर्शिता, सूचना का अधिकार, जवाबदेयता, नागरिकोन्मुख, मित्रवत, उद्यमशीलता, जनसहभागिता, विधि का शासन, नैतिकता, सदाचार, ईमानदारी, दक्षता, निष्पक्षता, प्रभावी सूचनातंत्र, लचीलापन एंव वचनबद्धता इत्यादि तत्व सम्मलित है।

भारत में लोक प्रशासन का अध्ययन विषय के रूप में विकास :

(Evolution of Public Administration as a Discipline in India)

एक प्रक्रिया के रूप में भारत में लोक प्रशासन का इतिहास उतना ही पुराना है।जितना कि सिन्धु घाटी की सभ्यता

का है। सदियो पुरानें भारत के इतिहास में जिस प्रकार अनेक प्रकार के शासन और राजनीतिक व्यवस्थाऐं आयीं और गई उसी प्रकार उनके अपने प्रशासन और प्रशासनिक व्यवस्थाओं का उतार–चढाव भी मिलता रहा। भारतीय इतिहास का हिन्दू युग जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से उन्नत और विकसित माना जाता है, उसी प्रकार हिन्दू युग का प्रशासन भी भारतीय इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था प्राचीन प्रशासनिक व्यवस्था का एक सुधरा हुआ एंव विस्तृत रूप है। भारत में प्रशासनिक अध्ययन की शुरूआत औपचारिक निर्देशों से हुई। अंग्रेज लेखकों नें भारत में ईस्ट इडिया कम्पनी, ब्रिटिश प्रशासन, भारतीय सिविल सेवा, जिला प्रशासन जैसे विषयों पर श्रेष्ठ शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये।

भारत में एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के अध्ययन की शुरूआत स्थानीय सरकार से सम्बन्धित प्रश्न पत्र के रूप में हुई। अतः लोक प्रशासन के प्रारम्भिक शिक्षक वे लोग थे,जिन्होनें राजनीति विज्ञान के शिक्षक के रूप में स्थानीय स्वशासन में विशेषज्ञता हासिल की थी। यहाॅ वी.के एन.मेनन का उल्लेख किया जा सकता है। 1924 में उन्होनें लखनऊ विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग में कार्यभार संभाला था और लोक प्रशासन उनका विशेष कार्यक्षेत्र था उनके नेतृत्व में लखनऊ विश्वविद्यालय भारत का ऐसा पहला विश्वविद्यालय बना, जिसने चौथे दशक में राजनीति विज्ञान के एक प्रश्न पत्र के रूप में लोक प्रशासन को शामिल किया।

अध्ययन के एक विषय के रूप में लोक प्रशासन के स्वरूप में उस समय अधिक निखार आया, जब विश्वविद्यालय परिसर में राजनीति विज्ञान के तहत इसमें डिप्लोमा पाठ्यक्रम शुरू किया गया। देश में सबसे पहले सन् 1937 में मद्रास विश्वविद्यालय नें लोक प्रशासन में डिप्लोमा शुरू किया। एक वर्ष बाद इलाहबाद विश्वविद्यालय ने स्थानीय स्वशासन विषय में डिप्लोमा शुरू किया। इसके लिए प्रारम्भिक प्रयास स्व.बेनी प्रसाद ने किया था। सन् 1945 में लखनऊ विश्वविद्यालय व सन् 1949 में नागपुर विश्वद्यिालय ने स्थानीय स्वशासन में डिप्लोमा शुरू किया।

सन् 1949–50 में नागपुर विश्वविद्यालय में लोक प्रशासन व स्वशासन पर एक अलग सम्पूर्ण विभाग स्थापित करनें वाला भारत का पहला विश्वविद्यालय बना। इसके साथ ही भारत में लोक प्रशासन को पहली बार पूर्ण अकादमीक वैधता प्रदान की गई। इस विभाग के अध्यक्ष **स्व.डॉ. महादेव प्रसाद शर्मा** थे, जो भारत में लोक प्रशासन के पहले प्रोफेसर जानें जाते है। उन्हे **भारतीय लोक प्रशासन का जनक** भी कहा जाता है।

सन् 1954 में भारत में लोक प्रशासन पर पॉल. एच. ऐपल्बी रिपोर्ट (1953) के सुझाव पर नई दिल्ली में भारतीय लोक प्रशासन संस्थान (IIPA) की स्थापना की गई। इस संस्थान को खोलने का मुख्य उद्देश्य लोक प्रशासन विषय पर अध्ययन–अध्यापन शोध, परीक्षण और प्रकाशन करना था। यह भारत का प्रशासकीय शोध कार्यों व लोक प्रशासन विषय के साहित्य उपलब्धता के रूप में सर्वश्रेष्ठ केन्द्र माना जाता है। संस्थान द्वारा इडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नामक उच्च कोटि की पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। जो देश में लोक प्रशासन में रूचि रखने वाले व्यक्तियों के बीच विचार–विमर्श तथा ज्ञान के आदान–प्रदान का एक सशक्त माध्यम बन गया है।

सन् 1959 में लखनऊ विश्वविद्यालय में वी.के.एन.मेनन के प्रयासों से स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम आरम्भ किया गया। उस्मानिया और पंजाब विश्वविद्यालय ने भी जल्दी ही इसका अनुसरण किया और दोनों ही में 1961 में अलग से लोक प्रशासन विभागों की स्थापना हुई और स्नातकोत्तर उपाधि के लिए शिक्षण व्यवस्था शुरू की गई।

सन् 1975 में राजस्थान विश्वविद्यालय ने लोक प्रशासन विषय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया। अधिकांश विश्वविद्यालयों में जहाॅ इस विषय की शुरूआत राजनीतिविज्ञान विभाग के साथ हुई, वहीं राजस्थान में इस विषय की विकास यात्रा अर्थशास्त्र विभाग में प्रारम्भ हुई।राजस्थान विश्वविद्याालय में अर्थशास्त्र के भूतपूर्व प्रोफसर एम.बी.माथुर , जिन्होंने इग्लैण्ड से लोक प्रशासन में स्नातकोर डिप्लोमा प्राप्त कर रखा था, ने इस विषय को प्रारम्भ करनें में विशेष रूचि दिखाई। प्रो.माथुर को राजस्थान राज्य में लोक प्रशासन के जनक के रूप में जाना जाता है। आपके नेतृत्व में अर्थशास्त्र विभाग का नाम बदलकर अर्थशास्त्र एंव लोक प्रशासन विभाग रखा गया। सन् 1959 में राजस्थान विश्वविद्यालय से प्रथम दल स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करके निकला था।राजस्थान विश्वविद्यालय में लोक प्रशासन को स्वतंत्र विभाग का दर्जा 1965 में मिल पाया। इस विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1971 में इस विषय में पहली बार पी–एच.डी की उपाधि प्रदान की गई।

सन् 1987 में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित सिविल सेवा प्रतियागी परीक्षा के वैकल्पिक विषयों की सूची में लोक प्रशासन को स्वतंत्र विषय की सूची में शामिल किया गया। इससे इस विषय को जबर्दस्त संवेग मिला। आज भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन विषय का स्नातक व स्नातकोत्तर स्तरों पर अध्ययन–अध्यापन करवाया जा रहा है।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. सोलहवीं शताब्दी के जर्मन–आस्ट्रिया के प्रोफेसरों तथा प्रशासको के समुह को कैमरेलवादी कहा जाता है। जिन्होनें व्यापक रूप से लोक प्रशासन के अध्यापन का कार्य किया। शब्द कैमरेलिस्ट का अर्थ ऐसे व्यक्तियों से था जिन्हें अच्छे प्रबन्ध को सुनिश्चित करनें के बारे में आवश्यक सभी अथवा कुछ बातों के बारे में मौलिक एंव विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो।
2. अलैक्जैण्डर हैमिल्टन द्वारा प्रकाशित विश्वकोष **''फैडरलिस्ट''** के 72 वें परिच्छेद में लोक प्रशासन की परिभाषा और इसके विषय क्षेत्र की विस्तृत व्याख्या की है।
3. अध्ययन–अध्यापन के स्वतंत्र विषय के रूप में लोक प्रशासन का सर्वप्रथम विकास संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रारम्भ हुआ।
4. सन् 1987 से वर्तमान तक लोक प्रशासन के विकास यात्रा को अध्ययन की दृष्टि से पाँच काल खण्डों में विभाजित कर देखा जा सकता है। जो इस प्रकार है : प्रथम चरण :राजनीति प्रशासन द्विभाजन काल (1887–1926) , द्वितीय चरण :

प्रशासन के सिद्धांतों का स्वर्ण काल (1927–1937), तृतीय चरण : चुनौतियों का काल (1938–1947), चतुर्थ चरण : पहचान की संकटावस्था का काल (1948–1970) , पंचम चरण : ,अन्तर्विषयक अध्ययनों का काल (1971 से वर्तमान तक)।

5. एक स्वतंत्र अध्ययन विषय के रूप में लोक प्रशासन की शुरूआत वुडरो विल्सन द्वारा सन् 1887 में एक त्रैमासिक पत्रिका में लिखे उनके लेख "The Study of Administration" से हुई है।
6. वुडरो विल्सन को लोक प्रशासन का जनक माना जाता है।
7. हर्बर्ट साइमन ने पारम्परिक प्रशासकीय सिद्धान्तों को "लोक प्रशासन की कहावते" की संज्ञा देता है।
8. भारत में लोक प्रशासन के विकास के लिए 1949 में भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना दिल्ली में हुई।
9. रॉबर्ट ड्हॉल ने कहा कि जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होता, तब तक इसका विज्ञान होनें का दावा खोखला है
10. विकास प्रशासन नामक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग एक भारतीय प्रशासक यू.एल.गोस्वामी द्वारा किया गया ।
11. लोक चयन दृष्टिकोण (Public Choice Approach) का प्रमुख समर्थक विन्सेन्ट ऑस्ट्रम है।
12. नव–लोक प्रबन्ध शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग क्रिस्टोफर हुड ने किया।
13. सन् 2008 में तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन सिराक्यूज विश्वविद्यालय, अमेरिका द्वारा आयोजित किया गया। प्रथम व द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन क्रमशः 1968 व 1988 में हुआ।
14. सुशासन शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग शिकागो विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री मिल्टन फ्राइडमैन ने अच्छे शासन के लिए सरकार की सीमित भूमिका के रूप में किया।
15. भारत में सर्वप्रथम लोक प्रशासन को अध्ययन–अध्यापन के एक विषय के रूप में स्थापित करनें का श्रेय वी.के.मेनन के नेतृत्व में लखनऊ विश्वविद्यालय को जाता है।
16. लोक प्रशासन को शैक्षिक वैधता 1949 में सर्वप्रथम तब मिली जब नागपुर विश्वविद्यालय नें एक पृथक विभाग स्थापित किया और इसके पहले विभागाध्यक्ष स्व. प्रो. महादेव प्रसाद शर्मा (Prof. M.P. Sharma) भारत में लोक प्रशासन के पहले प्रोफेसर थे। जिनको भारतीय लोक प्रशासन का जनक कहा जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. फेडरलिस्ट ग्रन्थ का लेखक कौन है ?
(अ) विलोबी (ब) टेलर (स) न्यूमैन (द) हैमिल्टन

2. The study of Administration किसकी कृति है?
(अ) वुडरो विल्सन (ब) विलोबी
(स) एल. डी. व्हाइट (द) वाल्डो
3. आधुनिक लोक प्रशासन का जनक किसे माना जाता है ?
(अ) मैक्स वेबर (ब) एल. डी. व्हाइट
(स) वुडरो विल्सन (द) फ्रेंक जे. गुडनाऊ
4. Politics and Administration नामक पुस्तक के लेख है।
(अ) एल डी व्हाइट (ब) वुडरो विल्सन
(स) फ्रेंक जे. गुडनाऊ (द) गुलिक
5. Administrative Behaviour नामक पुस्तक के लेखक कौन है ?
(अ) गुलिक (ब) हर्बर्ट साइमन
(स) उर्विक (द) राबर्ट डहाल
6. तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन का वर्ष है।
(अ) 2008 (ब) 1988
(स) 1968 (द) 1994
7. भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना किस वर्ष की गई ?
(अ) 1953 (ब) 1935
(स) 1954 (द) 1945
8. लोक प्रशासन के अध्ययन विषय के रूप में विकास में "स्वरुप की संकटावस्था" किस काल को कहा जाता है ?
(अ) प्रथम (1887–1926) (ब) द्वितीय (1927–1937)
(स) तृतीय (1938–1947) (द) चतुर्थ (1948–1970)

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. एक अध्ययन विषय के रुप में लोक प्रशासन का जन्मदाता किसे कहा जाता है ?
2. लोक प्रशासन के अध्ययन विकास को कितने चरणों में बांटा गया है ?
3. एल. डी. व्हाइट द्वारा रचित कौनसी पुस्तक है जिसे लोक प्रशासन की प्रथम पाठ्य पुस्तक माना जाता है?4. लोक प्रशासन का चतुर्थ चरण स्वरुप की संकटावस्था क्यों कहलाता है ?
5. नवीन लोक प्रशासन क्या है ?
6. विकास प्रशासन शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किस भारतीय प्रशासक ने किया ?
7. हर्बर्ट साइमन की महत्वपूर्ण कृति का नाम लिखिए ?

लघूतरात्मक प्रश्न :

1. संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक प्रशासन के उदय एंव विकास को प्रभावित करने वाले दो कारको का उल्लेख कीजिए?

2. लोक प्रशासन विषय के विकास के प्रथम चरण को वर्णित कीजिए ?
3. नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएँ बताइए?
4. तृतीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन पर एक टिप्पणी लिखिए ?
5. नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्यों का मूल्यांकन कीजिए?
6. नव–लोक प्रबन्ध को परिभाषित कीजिए?
7. भारतीय लोक प्रशासन संस्थान. की स्थापना क्यों व कब हुई?
8. भारत में उन तीन विश्वविद्यालयों के नाम बताइये जहॉ लोक प्रशासन विषय का अध्ययन होता है?
9. राजस्थान में लोक प्रशासन विषय की विकास यात्रा पर टिप्पणी लिखिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक प्रशासन के अध्ययन के विकास यात्रा के प्रमुख चरणें को संक्षेप में समझाइए?
2. नवीन लोक प्रशासन की शुरुआत के लिए उत्तरदायी कारकों का वर्णन कीजिए?
3. एक विषय के रुप में भारत में लोक प्रशासन की विकास यात्रा का वर्णन कीजिए?
4. नव–लोक प्रबन्ध पर एक टिप्पणी लिखिए ?

उत्तरमाला :

1. (द)	2. (अ)	3. (स)
4. (स)	5. (ब)	6. (अ)
7. (स)	8. (द)	

इकाई – 2 प्रमुख सैद्धान्तिक विचारधाराएँ

अध्याय–2
वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा
Scientific Management Approach

प्रशासनिक व्यवहार,संरचनाओं एंव प्रक्रियाओं के सम्यक् ज्ञान के लिय प्रशासनिक विचारधाराओं को समझना अत्यन्त आवश्यक है। व्यापक मतों, विचारों, विश्वासों, मूल्यों, मानकों तथा तत्सम्बन्धी संरचनाओं एंव प्रक्रियाओं से विचारधारा का निर्माण होता है।विचारधारा को एक विषय पर केन्द्रित सिद्धान्तों का समूह कहा जा सकता है। विचारधाराएँ समाज को एक दिशा देने का कार्य करती है।वर्तमान समय में लोक प्रशासन के क्षेत्र में अनेक विचारधाराएँ प्रचलित है–वैज्ञानिक प्रबन्ध, शास्त्रीय, अधिकारी तंत्र, मानव संबंधवाद, व्यवसायवादी, पारिस्थितिकीय, सामाजिक–मनोवैज्ञानिक एंव व्यवहारवादी विचारधारा आदि।

बीसवीं शताब्दी में स्वचालन एंव कम्प्यूटर तकनीकी के विकास तथा विज्ञान जगत मे अनेक आविष्कारों के परिणामस्वरूप उत्पादन के पैमानें तथा विधियों में महत्वपूर्ण परिर्वतन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रबन्धन के क्षेत्र में परम्परागत विचारधारा पायी जाती थी। इसके अन्तर्गत प्रबन्धन का दायित्व संसाधनों की सहायता से उत्पादन करके स्वामी के लाभ को अधिकतम करना था। उत्पादन की विधियां, तकनीकी सभी पुरानी होती थी। लेकिन आधुनिक समय में विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस विचारधारा में परिर्वतन हुआ तथा इसके अन्तर्गत नवीन उत्पादन की विधियाँ, नए प्रबन्धन के सिद्धान्तों एंव व्यवहारों को काम में लाया जानें लगा है तथा प्रबन्धन का दायित्व केवल स्वामी के लाभ को अधिकतम करने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अब कर्मचारियों, अंशधारियों, समाज, सरकार व राष्ट्र के प्रति कई दायित्वों को निभाना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा संगठन में प्रथम व्यवस्थित विचारधारा है, जो वैज्ञानिक प्राविधियों पर आधारित है, इसमें कार्यक्षमता व उत्पादन बढ़ाने के लिए कार्यों के प्रबन्धन में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए कार्यों के वैज्ञानिक अध्ययन पर बल देती है। इसमें कार्य एंव श्रमिकों की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध शब्द का सबसे पहले आविष्कार सन् 1910. ई0 में लुई डी.ब्रेंडीज़ ने किया था। प्रबन्धन की इस अवधारणा के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान एफ. डब्ल्यू. टेलर एंव हेनरी फेयोल ने दिया उनके इस योगदान के कारण टेलर को वैज्ञानिक प्रबन्धन का पितामह कहा जाता है और फेयोल को प्रबन्धन प्रक्रिया पंथ का संस्थापक। इनके अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रबन्धन के क्षेत्र में हेनरी एल.गैन्ट, गिलब्रेथ, हेरिंगटन एमरसन, मौरिस कुक, एच.पी.केन्डाल आदि ने भी महत्वपूर्ण कार्य किये है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ एंव परिभाषा : (Meaning and Definitions of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध शब्द दो शब्दों के सहयोग से बना है :– वैज्ञानिक एंव प्रबन्ध।वैज्ञानिक से तात्पर्य है,विज्ञान संबन्धी और विज्ञान का अर्थ है–विशिष्ट जानकारी अथवा ज्ञान की अभिवृद्धि। अर्थात् विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जो तथ्यों को व्यवस्थित रूप से संजोती है, और सामान्य नियमों को खोज निकालने का प्रयत्न करती है। सर्वप्रथम, यह तथ्यों को एकत्रित करती है और उनके पारस्परिक कार्य–कारण सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए,कुछ मान्य निष्कर्षों तक पंहुचने का प्रयत्न करती है। हक्सले के अनुसार, ''विज्ञान एक ऐसा सम्यक् ज्ञान है जो युक्ति और साक्ष्य पर आधारित है।''

'प्रबन्ध' से आशय किसी कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने से है। अर्थात् प्रबन्ध एक ऐसा नेतृत्व कार्य है जिसमें सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय प्रयासों का नियोजन,संगठन,निर्देशन एंव नियंत्रण किया जाता है। यह भौतिक एंव मानवीय संसाधनों के कुशलतम उपयोग एंव निर्देशन के माध्यम से दूसरों से कार्य लेने की कला है।

इस प्रकार अनुभव द्वारा सुधार व विकास करनें का परम्परागत सिद्धान्त, ''गलती करो और सुधार करो'' के स्थान पर निश्चित सिद्धान्तों एंव नियमों के आधार पर प्रबन्ध का संचालन करना वैज्ञानिक प्रबन्ध है। वैज्ञानिक प्रबन्ध एक विचारधारा एंव दर्शन है। जो कि परम्परागत कार्य कराने व करने के अंगूठा के नियम (Rule of thumb) का विरोधी है। इसके अन्तर्गत किसी भी औद्योगिक संस्थान में कार्य करने तथा श्रमिकों से कार्य लेने के वैज्ञानिक ढंग को शामिल किया जाता है। जिससे सम्बन्धित संस्थान में प्रबन्ध की समस्त समस्याएँ दूर हो जायें। इसके अन्तर्गत उनका उपयोग करके संस्थान की कार्यकुशलता एंव उत्पादन को अधिकतम किया जाता है। विभिन्न प्रबन्ध विशेषज्ञों एंव विद्वानों ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की अलग–अलग परिभाषाएँ दी है।

फ्रेडरिक विन्सलो टेलर के अनुसार– ''यह जाननें की कला कि तुम व्यक्तियों से संगठन में क्या कराना चाहते हो तथा यह देखना कि वे सबसे उचित व सस्ते ढंग से कार्य कैसे करते है, वैज्ञानिक प्रबन्ध कहलाता है।''

पीटर ड्रकर के अनुसार – ''वैज्ञानिक प्रबन्ध का कर्म कार्य का संगठित अध्ययन, कार्य का सरलतम भागों में विश्लेषण और प्रत्येक भाग का श्रमिक द्वारा निष्पादन करनें हेतु व्यवस्थित सुधार करना है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकतें है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रबन्ध समस्याओं के हल का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो कि वैज्ञानिक अनुसंधान, विश्लेषण, नियम, सिद्धान्तों एंव परिणामो पर आधारित है। इसका उद्देश्य न्यूनतम व्यय पर अधिकतम लाभों को प्राप्त करना होता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की विशेषताएँ : (Characteritics of Scientific Management)

(1) वैज्ञानिक प्रबन्ध में नियोजित एंव निश्चित योजना पायी जाती है।इस निश्चित योजना के द्वारा विभिन्न कार्यों को निश्चित तरीकों द्वारा सम्पादित किया जाता है।

(2) इसके अन्तर्गत घटनाओं, परिस्थितियों आदि के विषय में तथ्य एकत्रित किये जाते है।इन तथ्यो ंका अवलोकन, विश्लेषण एंव प्रयोग करके सिद्धान्त बनाकर,उनको व्यवहार रूप में परिणत किये जाते है।

(3) संसाधनों के अधिकतम उपयोग पर जोर दिया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कच्चे माल, मानवीय व भौतिक साधनों का योजनाबद्ध तरीके से कार्य का आवंटन करके उनकी विभिन्न क्रियाओं का समन्वय, नियमन व नियन्त्रण इस ढंग से किया जाता है कि कार्यकुशलता में वृद्धि हो सके।

(4) वैज्ञानिक प्रबन्ध में किसी भी संस्थान के दिए हुए अथवा पूर्व में निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समस्त शक्ति को जुटाया जाता है।

(5) श्रमिकों को उनकी योग्यतानुसार कार्य दिया जाता है। तथा जो श्रमिक कुशलता से कार्य करता है उसे प्रोत्साहन देने हेतु प्रेरणात्मक मजदूरी दी जाती है। इससे कार्यकुशल श्रमिकों को और अधिक कार्य करनें की प्रेरणा मिलती है।

(6) श्रमविभाजन और विशिष्टिकरण सिद्धान्त की पालना की जाती है।एक ही कार्य को विभिन्न भागों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक भाग को विभिन्न श्रमिक समूहों द्वारा पूरा करवाया जाता है तथा प्रत्येक भाग हेतु विशेषज्ञ नियुक्त करके उत्पादन करवाया जाता है इससे उत्पादन बड़े पैमानें पर होता है। जिसमें बड़े पैमानें की मितव्ययताएँ प्राप्त होती है।

(7) वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रत्येक कार्य का प्रमाप (Standards) निश्चित कर दिया जाता है।

(8) वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रबन्ध में सफलता लाने हेतु पूंजी व श्रम में संघर्ष के स्थान पर उनमें सहयोग और पारस्परिक स्नेह की भावना उत्पन्न करना है।

(9) संस्थान में कार्य करनें वाले कर्मचारियों के अधिकार तथा उत्तरदायित्व की सीमा भी निर्धारित की जाती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य : (Objectives of Scientific Management)

प्रबन्ध की विभिन्न समस्याओं के निवारण हेतु वैज्ञानिक प्रबन्ध अपनाया गया है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्न है :–

(1) वैज्ञानिक प्रबन्ध भौतिक एंव मानवीय संसाधनों के बीच समन्वय एंव सहयोग उत्पन्न करके उत्पादन में वृद्धि करता है। इससे विभिन्न संसाधनों का अधिकतम पारिश्रमिक प्राप्त होता है। यह श्रम और पूंजी के बीच पारस्परिक विश्वास व सहयोग उत्पन्न करके उनकी समृद्धि में सहायक होता है।

(2) वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा कर्मचारियों के कामों की दशाओं में सुधार किया जाता है। उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की जाती है। तथा कर्मचारियों की भर्ती व चयन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। इससे सभी कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(3) टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य मानसिक क्रान्ति को उत्पन्न करना है। जिससे श्रमिकों एवं मालिकों का ध्यान उत्पादन के बँटवारे से हटकर उसे अधिकतम करने पर लगता है।

(4) इसका उद्देश्य क्षेत्र में परम्परागत प्रबन्धकीय दृष्टिकोण को त्यागकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अँगूठा नियम के स्थान पर वैज्ञानिक रीतियों एंव सिद्धान्तों को लागू किया जाता है। जिससे अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य को पूरा किया जा सके। उत्पादन, वित्त, कार्मिक, बिक्री आदि विभागों में वैज्ञानिक रीतियों व सिद्धान्तों को लागू करना है।

(5) जब वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्तों, विधियों एंव नियमों का उपयोग किया जायेगा तो इससे समय, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों के अपव्यय पर प्रभावपूर्ण ढंग से रोक लग सकेंगी और इससे न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकेगा।

(6) वैज्ञानिक प्रबन्ध के अपनानें से अन्य उद्देश्यों की पूर्ति की संभावना होती है।उदहारणार्थ–निश्चित योजना को लागू करना, प्रमाणित वस्तुओं का उत्पादन करना, प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धितियों के अनुसार श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान करना, श्रमिकों की कार्यकुशलता, रूचि, थकान, गति, समय आदि का समय–समय पर अध्ययन करना।

एफ.डब्ल्यू. टेलर का योगदान

(क) पुस्तकें (Books) :–

(1) Shop Management, 1910
(2) Principles of Scientific Management, 1911

(ख) निबन्ध (Papers) :

(1) A Piece Rate System,1895
(2) The Art of Cutting Meatls,1906

टेलर के अनुसार प्रबन्धन सच्चा विज्ञान है क्योंकि यह स्पष्ट रूप से निर्धारित कानूनों, नियमों और सिद्धान्तों पर आधारित है, और सभी प्रकार के संगठन में सार्वभौमिक रूप से लागू होता है। उनके शब्दों में एक ही सिद्धान्त का प्रयोग सभी सामाजिक गतिविधियों में समान रूप से लागू किया जा सकता है, अर्थात् घर, कृषि फार्म, छोटे और बड़े व्यापार , चर्च और अन्य परोपकारी संस्थाओं, विश्वविद्यालयों तथा शासकीय विभागों पर प्रबन्ध के एक से नियम लागू होते है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का सरोकार औद्योगिक संगठनों की प्रबन्धकीय प्रथाओं और उत्पादन प्रक्रियाओं में वैज्ञानिक

पद्धतियों के प्रयोग से था। इसने संगठन के निम्नतम स्तर पर ध्यान केन्द्रित किया।इसका लक्ष्य काम की भौतिक प्रकृति और कर्मचारियों की शारीरिक प्रकृति के बीच संबन्ध का अध्ययन करना था। इसनें सांगठिक कुशलता और वित्त में सुधार के लिए विशिष्टीकरण, पूर्वसूचनीयता, तकनीकी क्षमता और तर्कसंगत होने पर बल दिया।

औद्योगिक संगठनों में अपनें प्रयोगों के दौरान टेलर का सामना सोल्डरिंग/कामचोरी (Soldering) संकल्पना से हुआ। सोल्डरिंग श्रमिकों के उत्पादन को सीमित रखने की प्रवृति का नाम है। उन्होनें इस संकल्पना को दो भागों में विभाजित किया। पहली प्राकृतिक सोल्डरिंग (Natural Soldering) और दूसरी व्यवस्थित सोल्डरिंग (Systematic Soldering) । प्राकृतिक सोल्डरिंग व्यक्तिगत कारकों जैसे–आराम से काम करने, आलसीपन, ज्यादा परिश्रम न करनें आदि आदतों का परिणाम है। जबकि व्यवस्थित सोल्डरिंग संगठनिक और सामाजिक कारकों का परिणाम है। जैसे श्रमिकों का हमेशा यह प्रयास होता है कि कार्य निरिक्षक की उत्पादन की आशा हमेशा कम ही बनी रहे ताकि वे जान न पाए कि श्रमिक अधिक उत्पादन करनें में सक्षम है। उन्हें लगा कि संगठन की कुशलता बढानें का बुनियादी तरीका वैज्ञानिक तकनीकी से सोल्डरिंग कम करने में है।

टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की मान्यताएँ :

टेलर नें वैज्ञानिक प्रबन्ध की तीन प्रमुख मान्यताऐं बताई जो इस प्रकार है–

(1) संगठनात्मक समस्याओं के विश्लेषण की वैज्ञानिक प्रणाली के उपयोग से उन्नत व्यवहारों का प्रयोग होगा।

(2) कार्य मजदूरों से ज्यादा महत्वपूर्ण है। एक उत्तम मजदूर वही है,जो आदेशों को स्वीकार कर मानक तथा प्रणालियों के अनुसार कार्य करता है।

(3) प्रत्येक मजदूर एक विवेकशील प्राणी है। वह एक आर्थिक व्यक्ति भी है, जो हमेशा अपनी आय को बढ़ाने में रूचि लेता है। संगठन उत्पादन का एक विवकेशील उपकरण है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त : (Principles of Scientific Management)

टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के निम्न पाँच सिद्धान्त बतलाऐं है।

(1) अंगुठे के नियम के स्थान पर विज्ञान का विकास :(Development of Science rather than Rule of Thumb)

टेलर अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध में विज्ञान के विकास पर सर्वाधिक जोर देते है।वे आग्रह करते है कि संगठन में प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक विधि से किया जाना चाहिए न कि अंगूठे के नियम। श्रमिक की कार्य विधि पूर्णतः वैज्ञानिक अनुसन्धान व विश्लेषण पर आधरित होनी चाहिए। श्रमिकों को वैज्ञानिक नियमों व सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करना चाहिए। टेलर ने शारीरिक और बौद्धिक गुणों वाले श्रमिको के वैज्ञानिक पद्धति से चयन की आवश्यकता पर बल दिया।

वैज्ञानिक प्रबन्ध यह मानकर चलता है कि प्रत्येक कार्य को करने का एक सर्वोत्तम तरीका होता है और यह सर्वोत्तम तरीका सदैव सिद्धान्तों में बदला जा सकता है। इस प्रकार यह परम्परागत अव्यवस्थित ''अंगुठे के नियम'' पर आधारित ज्ञान से भिन्न संगठित ज्ञान होता है।

(2) संघर्ष के स्थान पर मैत्री : (Harmony rather than Discord)

टेलर का मत था कि किसा भी औद्योगिक संगठन के दो महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ होते है। श्रमिक व प्रबन्धक।दोनो के समन्वित प्रयासों से ही उद्योग का कुशल संचालन किया जा सकता है।दोनों पक्षों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों व हित सामंजस्य के माध्यम से ही वे पारस्परिक कल्याण की ओर अग्रसर हो सकते है। अतः टेलर नें दोनो पक्षों को संर्घष छोडकर पारस्परिक सद्भावना से कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। टेलर का मानना था कि श्रमिक व प्रबन्धकों के हित जुड़े हुए है न कि पृथक–पृथक। अधिकतम उत्पादन के द्वारा ही नियोक्ता को ऊँचे लाभ व श्रमिकों को उच्च वेतन देना संभव है। अतः उत्पादन में वृद्धि करनें के लिए संयुक्त प्रयास करने चाहिए।

(3) व्यक्तिवाद के स्थान पर सहकारिता : (Cooperation rather than Individualism)

वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रमविभाजन व विशिष्टिकरण के महत्व को स्वीकार किया गया है। एक ही कार्य को कई उपकार्यों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक उपविभाग या कार्य व्यक्तियों या श्रमिक समूहों द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ : सूती वस्त्र उ़द्योग में रूई साफ करना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, रंगाई–छपाई एंव पैकिंग अलग–अलग श्रमिक समूहों द्वारा किया जाता है। यह उत्पादन विभिन्न विभागों कार्यरत श्रमिकों के सामूहिक सहयोग का ही परिणाम होता है। व्यक्तिवाद से कार्य पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। अतः इससे श्रमिकों में सहकारिता की भावना उत्पन्न होती है। कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य होता है और यह उद्देश्य केवल सहकारी प्रयासों से ही संभव है न कि व्यक्तिवादी प्रयासों से।

(4) सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन (Maximum output rather than restricted output)

टेलर का मत है कि चूँकि वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य श्रमिकों और मालिकों दोनों की खुशहाली है। यह तभी संभव है जब उद्यम अधिकतम उत्पादन करे। विशिष्टिकरण व श्रमविभाजन अपनानें के कारण उत्पादन का पैमाना बडा होता है। आन्तरिक एंव बाह्य मितव्ययिताओं के कारण कम लागत पर अधिक उत्पादन किया जाता है। अधिक उत्पादन करने से सभी वर्ग समूहों को लाभ प्राप्त होता है। श्रमिकों के ऊँचा वेतन, मालिकों का अधिक लाभ एंव उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तु उपलब्ध होती है। अतः टेलर सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन पर जोर देता है।

(5) प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतम विकास : (Development of Each man to the Maximume)

वैज्ञानिक प्रबन्ध में कारखानें में कार्यरत श्रमिकों की भर्ती एंव चयन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता है। इसे योग्य एंव दक्ष श्रमिको का चयन होता है। इसके बाद श्रमिकों का प्रशिक्षण, कार्य पर लगाना, पदोन्नति, स्थानान्तरण, कार्य–मुक्ति आदि अवस्थाओं में भी मनमानी के स्थान पर वैज्ञानिक आधारों का उपयोग किया जाता है। श्रमिकों के वैज्ञानिक चयन एंव प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है और उन्हें मजदूरी भी अधिक प्राप्त होती है।

इस प्रकार जो श्रमिक कार्य में अधिक कुशल होते है उन्हें प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति के अन्तर्गत पुरस्कृत किया जाता है। इसमें प्रत्येक श्रमिक को अपना पूर्ण विकास करने एवं आर्थिक स्थिति में सुधार करनें का सुअवसर होता मिलता है, जबकि परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों का चयन एवं प्रशिक्षण वैज्ञानिक आधार पर न होकर अंगूठे के नियम के आधार पर होता है। इससे श्रमिकों एंव कर्मचारियों की कार्यकुशलता एंव सम्पन्नता का अधिकतम विकास नही हो पाता है।

मानसिक क्रान्ति (Mental Revolution)

मानसिक क्रान्ति का विचार टेलर का मौलिक योगदान है। टेलर मानसिक क्रान्ति को वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूल दर्शन मानते है। मानसिक क्रान्ति से तात्पर्य यह है कि श्रमिकों और मालिकों दोनों के दृष्टिकोण एवं विचारधाराओं में आमूलचूल परिर्वतन होना चाहिए। सामान्यता मालिक श्रमिक से काम चाहते है और श्रमिक मालिकों से अधिक मजदूरी। इससे दोनों एक–दुसरे को अपना विरोधी समझते है तथा परस्पर अंधविश्वास का वातावरण रहता है। टेलर इस प्रकार की मानसिकता में परिर्वतन चाहते है। वे कहते है कि दोनों को एक–दूसरे के हितों के लिए कार्य करना चाहिए। श्रमिक व मालिकों के मन के बीच एक–दूसरे के प्रति परम्परागत गलत अविश्वास की धारणा में सकारात्मक परिर्वतन करने को ही टेलर ने इसे मानसिक क्रान्ति की संज्ञा दी है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करनें के पश्चात् भी इसकी पूर्ण सफलता के लिए श्रमिकों तथा प्रबन्धों में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करना आवश्यक हो जाता है। बिना इस क्रान्ति के श्रमिक और प्रबन्धक के बीच पूर्ण सहयोग न होने पर संस्थान या कारखाने के उद्देशयों को पूरा नही किया जा सकता है। मानसिक क्रान्ति औद्योगिक क्रान्ति का जीवन रक्त है और इसके अभाव में औद्योगिकरण नही किया जा सकता है तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध का उपयोग प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं किया जा सकता है।

परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिको एवं प्रबन्धको के पारस्परिक सहयोग व मधुर सम्बन्ध नहीं पाये जाते थे, क्योंकि वे अपनें स्वार्थो की दृष्टि से एक–दूसरे को विरोधी तथा प्रतिस्पर्धी समझते है। प्रबन्धकों को श्रमिकों के साथ मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। श्रमिकों को उचित मजदूरी तथा कार्य की दिशाऐं प्रदान करनी होंगी। जबकि श्रमिकों को भी अपनें श्रम संगठनों के संघर्षात्मक कार्यों के स्थान पर रचनात्मक कार्यो पर जोर देना होगा। उन्हें उद्योग को अपना उद्योग समझकर कार्य करना होगा।

इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध का मूल मन्त्र है : श्रमिक व प्रबन्धक की मानसिक क्रान्ति द्वारा उनमें आपसी सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना है। दानों पक्षों के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनें के विषय में टेलर ने लिखा है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अर्न्तगत दोनों पक्षों के मानसिक दृष्टिकोण में एक बडी क्रान्ति आती है जिसके अन्तर्गत दोनों पक्ष अन्य महत्वपूर्ण मामलों की भाँति आधिक्य (Surplus) के बंटवारे से अपनी निगाह दूर रखतें है और इसके साथ ही आधिक्य आकार में वृद्धि करनें की ओर अधिक ध्यान देते रहना चाहिए। जब तक कि यह आधिक्य इतना बड़ा हो जाये कि इसमें वितरण के विषय में झगड़ना आवश्यक ही न हो। इस प्रकार मानसिक क्रान्ति टेलर की प्रबन्ध संकल्पना में एक चिन्तन है। जो संस्थान के दोनों पक्षों श्रमिक व प्रबन्धक के परम्परागत दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर उनके हितों की एकता, एक–दूसरे के प्रति आत्मीयता, कर्तव्यनिष्ठा, पारस्परिक सहयोग व विश्वास तथा सामूहिक प्रयासों पर जोर देता है।

वैज्ञानिक प्रबन्धन की तकनीके : (Techniques of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दर्शन एंव सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए टेलर ने कुछ तकनीकों एंव क्रियाविधि का प्रयोग किया था। उनमे से कुछ इस प्रकार है–

1. कार्यात्मक फौरमैनशिप (Functional Foremanship):

कार्यात्मक फौरमैनशिप टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध का महत्वपूर्ण अंग है। परम्परागत प्रबन्ध के अन्तर्गत फोरमैन को जो कार्य करने पड़ते थे वे कार्य अब कई फौरमैन करते है। इससे कार्य विभाजन हो जाता है ताकि कार्य समय पर आसानी से पूरा किया जा सके। यह संगठन श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य दिए जाते है जिसका कि वह कर्मचारी विशेषज्ञ होता है। कार्यात्मक संगठन विभागीय संगठन से अधिक उपयुक्त होता है। क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम काम देकर श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण के सिद्धान्त की पालना की जाती है।

इस प्रणाली में श्रमिक के कार्यों को निर्देशित करने का दायित्व आठ नायकों (Bosses) का होता है। इन आठ में से चार नायक नियोजन से सम्बन्धित होते है और चार श्रमिक के कार्यों से प्रत्यक्षतः जुड़े होते है। ये आठ अधिकारी श्रमिक के कार्यों को निर्देशित करते है। इनके कार्य संक्षेप में इस प्रकार है :

टेलर का कार्यात्मक संगठन

कार्यशाला प्रबन्धक

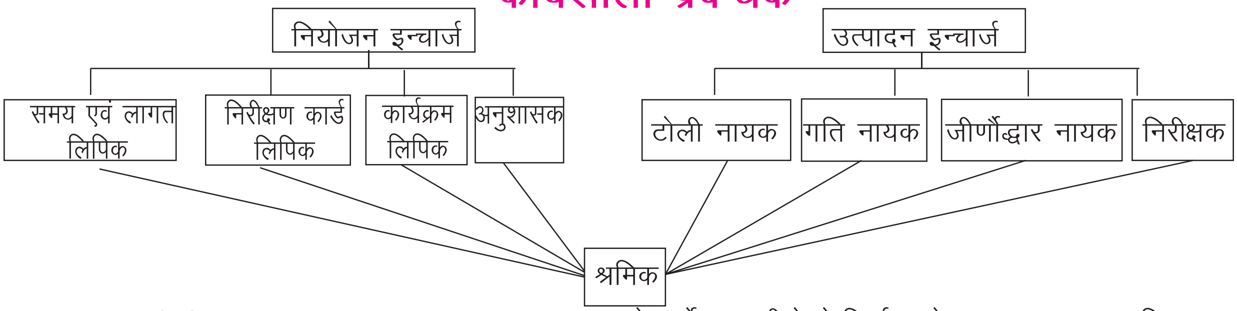

(1) समय एंव लागत लिपिक (Time and cost clerk) : इसका कार्य श्रमिकों द्वारा किये गये कार्यों में लगने वाले समय और लागतों के सम्बन्ध में सूचनाऐं रखना है और इसके आधार पर वह श्रमिकों की मजदूरी, बोनस भुगतान आदि के निर्धारण का कार्य करता है।

(2) निर्देशन कार्ड लिपिक (Instruction Card Clerk) : यह प्रत्येक कार्य के लिए निर्देशन पत्र तैयार करके विभिन्न नायकों के पास इन्हें भेजनें का कार्य करता है।

(3) कार्यक्रम लिपिक(Routine clerk) : यह कारखानें में प्रत्येक दिन के कार्य की योजना तैयार करता है।

(4) अनुशासक(Disciplinair) : यह एक रोजगार प्रबन्ध के रूप में कार्य करता है। कारखानों में अनुशासन बनाये रखने, शान्ति स्थापित करने, अच्छे कार्य करनें वाले को पुरस्कार देना, खराब कार्य करनें वाले को दण्डित करना, वेतन व मजदूरी में समायोजन करना और विवादों से निपटने का कार्य करता है।

(5) टोली नायक (Gang Boss) : यह योजनानुसार श्रमिकों से कार्य लेता है। यह श्रमिकों को आवश्यक औजारों एंव मशीनों को बनानें की व्यवस्था करता है। कार्य किस प्रकार से करना है तथा कार्य ठीक ढंग से हो रहा है अथवा नहीं, यह भी इस नायक का कार्य है।

(6) गति नायक (Speed boss) : यह श्रमिकों की कार्य की गति पर निगरानी रखता है।इस बात का ध्यान रखना कि प्रत्येक कार्य सही समय पर हो, यह इसका दायित्व है।

(7) जीर्णोद्वार नायक (Repair Boss) :यह श्रमिकों को मशीनों की सफाई, मरम्मत आदि के बारे में बताता है तथा मशीनों के विभिन्न पुर्जों को खोलनें व ठीक करनें के बारे में श्रमिकों को शिक्षा प्रदान करता है।

(8) निरीक्षक (Inspector) : यह कारखानें में उत्पादित वस्तु की किस्म की जाँच करता है। वस्तु की किस्म अच्छी है या नहीं है, यह देखने का काम इसी अधिकारी का होता है। वह कार्य को करने के अच्छे तरीके के विषय में भी निर्देश देता है। कार्य अधिक करने की बजाय इसकी किस्म अच्छी होनी चाहिए।

2. समय, गति एंव थकान अध्ययन (Time, Motion and Fatigue Study) :

टेलर अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त में कार्य करनें के श्रेष्ठ या सर्वोत्तम तरीके को निर्धारित करने का आग्रह करते है। इसके लिए टेलर कार्य–विश्लेषण पर बल देते है। टेलर ने कार्य के सर्वोत्तम तरीके के निर्धारण हेतु समय अध्ययन, गति अध्ययन और थकान अध्ययन तकनीकों का उल्लेख किया है।

(1) समय अध्ययन : किसी भी कार्य को पूरा करनें में लगे समय तथा उसका समय–समय पर रिकॉर्ड रखना ही समय अध्ययन कहलाता है। एक ही कार्य कई भागों में विभाजित किया जाता है। इस अध्ययन का मूल उद्देश्य किसी कार्य के निष्पादन में लगनें वाले उचित समय को जानना है। जिससे कि समय पर कार्य पूरा हो सके।

(2) गति अध्ययन : प्रत्येक कार्य को करते समय श्रमिक के हाथ व पैरों में गति पायी जाती है। शरीर में जितनी अधिक गति पायी जाती है, उस कार्य को करने में उतना ही समय लगेगा और श्रमिक को थकावट का अनुभव भी अधिक होगा। इसलिए वैज्ञानिक आधार पर अनावश्यक एंव अकुशल गतियों को समाप्त करके कार्य की उचित समय में तथा बिना थकावट के पूरा करने हेतु गति अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार गति अध्ययन के माध्यम से अनावश्यक गतियों को समाप्त करके समय और शक्ति की बचत की जाती है।

(3) थकान अध्ययन : प्रत्येक कार्य करने में श्रमिको की मांसपेशियों पर जोर पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप उसे थकान महसूस होती है। थकान का कार्य के परिणाम से महत्वपुर्ण सम्बन्ध है। टेलर नें प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करके यह पता लगाया कि यह थकान कैसी होती है और इसमें किस प्रकार से सुधार किया जाये कि श्रमिक कम से कम थके तथा अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके। थकान से श्रमिकों की कार्यक्षमता कम होती है। इसके लिए टेलर विश्राम का समय निर्धारित करने की सलाह देते है।

3.विभेदात्मक मजदूरी दर प्रणाली (Differential Piece Rate Plan) :

टेलर नें श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि करनें हेतु प्रेरणात्मक मजदूरी प्रणाली अपनाने पर जोर दिया। यदि श्रमिकों को अधिक मजदुरी प्राप्त होने की आशा होती है। तो वे अधिक लगन, उत्साह, रूचि एंव प्रेरणा से कार्य करते हैं। अतः कार्य कुशलता के अनुसार श्रमिकों को मजदूरी दी जानी चाहिए। इसके लिए टेलर नें विभेदात्मक मजदूरी दरों के महत्व पर जोर देते हुए लिखा है कि इसके परिणामस्वरूप कार्य की मात्रा में वृद्धि होती है और इसके साथ ही उच्च किस्म प्राप्त की जाती है। अतः श्रमिकों को प्रमापित कार्य से अतिरिक्त कार्य करने पर अतिरिक्त भुगतान दिया जाना चाहिए जिससे कि अधिक

उत्पादन हो सके।

4. अपवाद का सिद्धान्त (Exception Principle) :

यह प्रबन्धकों का समय बचाने की तकनीक है। टेलर की मान्यता है कि अपवाद स्वरूप कुछ ही मामले उच्च प्रबन्धकों तक पहुँचने चाहिए अर्थात् अधिकांश मामलों का निपटारा अधीनस्थों द्वारा कर देना चाहिए, ताकि प्रबन्धकों का मूल्यवान समय संगठन के महत्वपूर्ण गतिविधियों में काम आ सके। अधिनस्थों को अपनें अधिकार एंव कार्य क्षेत्र के बाहर के तथा गम्भीर प्रकृति के मामलों को ही उच्च प्रबन्धकों के पास भेजना चाहिए।

अन्य तकनीकें : टेलर नें अपनी पुस्तक वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त (Principles of Scientific Management) में वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्य तकनीक व उपकरणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है :

(1) व्यापार में प्रयोग किये जानें वाले औजारों और साधनों के साथ ही मजदुरों की गतिविधियों का मानकीकरण।

(2) साधनों के वर्गीकरण के लिए स्मरण विषयक यंत्र।

(3) योजना सेल या विभाग की स्थापना।

(4) स्लाइड–रूल्स (Slide Rules) तथा इसी प्रकार के समय को बचानें वाले उपकरण।

(5) श्रमिकों के लिए निर्देशन कार्ड (Instruction cards)।

(6) आधुनिक लागत यंत्र।

(7) एक पथ निर्देशन यंत्र।

(8) प्रबन्ध में कार्य विचार तथा इसके सम्पादन पर बोनस व्यवस्था।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभ (Utility of Scientific Management) :

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभों के विषय में टेलर नें लिखा है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध का सामान्य अनुकरण औद्योगिक कार्यों में लगे प्रत्येक औसत व्यक्ति की उत्पादकता को भविष्य में दुगना कर देगा, सोचिए सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए इसका क्या अर्थ होगा ? इससे देश के व्यक्तियों की आवश्यकता एंव विलासिता की वस्तुओं में वृद्धि होगी, श्रमिकों के कार्यों के घण्टों में कमीं संभव होगी और शिक्षा, संस्कृति एंव मनोरंजन के अवसरों में वृद्धि होगी। वैज्ञानिक प्रबन्ध का नियोक्ता एंव कर्मचारियों के लिए अर्थ होगा उनके आपसी मतभेदों तथा झगडों का अन्त। जो कम्पनी इस प्रबन्ध को अपनायेगी उनकी उत्पादन लागत में कमी होगी और उत्पादन दोगुना हो जायेगा। इससे न केवल कर्मचारियों की गरीबी हटेगी अपितु समाज से गरीबी हटकर समृद्धि बढ़ेगी।

इस प्रकार टेलर के अनुसार वैज्ञानिक प्रबन्ध उत्पादकों, कर्मचारियों, समाज एंव राष्ट्र सभी के लिए वरदान सिद्ध होता है। इस प्रबन्ध व्यवस्था से होनें वालें लाभें का उल्लेख निम्न प्रकार से है :

टेलर की आलोचना (Taylor's Criticsms) :

यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध ने जगत में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न की है। जब कभी भी भी इसे अपनाया गया, इससे कई लाभ प्राप्त हुए, यहाँ तक कि इस व्यवस्था के कारण टेलरवाद का जन्म हुआ। फिर भी टेलर को प्रखर आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है। टेलर के आलोचनाओं को तीन भागों में बाँटा गया है : (1) व्यवसायिक एंव मजदूर संघ (2) प्रबन्धक (3) मानवतावादी एंव व्यवहारवादी।

इसका सबसे अधिक विरोध व्यावसायिक संघों के नेताओं नें किया। टेलर के मानसिक क्रान्ति के सिद्धान्त को अपनाने से मजदूरों और मालिकों के बीच सभी अर्न्तविरोध खत्म हो जाते है और उनके बीच प्रभावी मैत्री स्थापित हो जाती है। इस प्रकार ट्रेड यूनियनें अनावश्यक हो जाती है तथा मजदूर संगठनों की सामूहिक सौदेबाजी के लिए खतरा, बेरोजगारी बढ़ानें वाला तथा मशीनीकरण पर जोर देनें वाला बताया। प्रबन्धक वर्ग भी दो कारणों से इसका विरोध करतें है। पहला, वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनानें से उन्हें अपने निर्णय और स्वविवेक से हाथ धोना पडेगा। दूसरा, टेलरवाद के कारण उनके काम और जिम्मेदारियाँ बढ़ जायेंगी।

संगठन के मानवीय पहलु की अनदेखी के कारण इसकी आलोचना संगठन के एक यांत्रिक सिद्धान्त के रूप में भी की जाती है। यह मजदूर को एक मशीन मानता है और उसे उतना ही कुशल बनाना चाहता है जितना मशीन है। टेलर मानव को केवल आर्थिक कारको से प्रेरित करता है। वह प्रेरणा के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलू की उपेक्षा करता है। इस कारण एम.पी.फॉलेट, पीटर ड्रकर,

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभ

श्रमिको की दृष्टि से

1.मजदुरी में वृद्धि
2.काम का समय कम होना
3.जीवन स्तर में उन्नति
4.कार्य में रूचि
5.निःशुल्क प्रशिक्षण
6.उपयुक्त वातावरण
7.स्थायी रोजगार

प्रबन्ध वर्ग की दृष्टि से

1.वस्तु की किस्म में सुधार
2.प्रति इकाई वस्तु की कम लागत
3.श्रम–पूँजी के झगड़ों का अन्त
4.श्रम–विभाजन व विशिष्टकरण के लाभ
5.श्रमिकों द्वारा अधिकतम कार्य
6.मूल्यों में कमी
7.अधिकतम उत्पादन

उपभोक्ता, समाज एंव राष्ट्र की दृष्टि से

1.क्रय शक्ति में वृद्धि
2.श्रेष्ठ किस्म की वस्तु उपलब्ध
3.रहन–सहन के स्तर में सुधार
4.तीव्र आर्थिक विकास
5.औद्योगिक शान्ति
6.रोजगार के अवसरों में वृद्धि
7.राष्ट्रीय उत्पादन में

ओलीवर शेल्डन, चेस्टर आई. बर्नार्ड, क्रिस आर्गिरिस, एल्टन मेयो, एंव प्रो.रॉबर्ट हॉक्सी आदि इसके प्रमुख आलोचक है।

टेलर का मुल्यांकन : टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध की तमाम अलोचनाओं के बाद भी प्रबन्ध के क्षेत्र में उनका योगदान अद्धितीय रहा है। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होनें अच्छे कार्य निष्पादन की खोज की शुरूआत किए। टेलर एक मौलिक विचारक, यथार्थवादी वैज्ञानिक, जिज्ञासु मस्तिष्क, सृजनात्मक प्रवीणता एंव निर्णय क्षमता के धनी, आदि गुणों से युक्त मानव था। औद्योगिक प्रबन्ध के अध्ययन में परिणामवाचक तकनीकों का प्रयोग करनें वाले भी वे प्रथम व्यक्ति थे। आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्ध, अनुसंधान पद्धति अध्ययन, समय अध्ययन, व्यवस्था विश्लेषण, अपवाद का सिद्धान्त आदि सभी टेलर की विरासत का हिस्सा है।

टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध को द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति के रूप में भी जाना जाता है। उन्होनें उस समय औद्योगिक संगठनों की समस्याओं के समाधान के लिए निष्पक्ष वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण किया तथा अमेरिका के परम्परागत औद्योगिक प्रबन्ध को अपने सिद्धन्तों, तकनीकी पद्धतियों एंव प्रयोग से प्रभावित किया। इसके बाद टेलर का वैज्ञानिक प्रबन्ध जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा अन्य यूरोपीय देशों में फेला। सन् 1918 में लेनिन ने रूस के लिए यह आदेश दिया था कि हमें टेलर की नई पद्धति का अध्ययन एंव अध्यापन करना चाहिए, विधिवत अभ्यास करना चाहिए तथा उसे लागू करना चाहिए। जापानी उद्योग ने अपने इकाई लागत उत्पादन को सुधारनें के लिए अपनें विकास के समस्त काल खण्ड में वैज्ञानिक प्रबन्ध की तकनीकों का बडे पैमानें पर प्रयोग किया। बहुत से विकासशील देश वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग करने का प्रयास कर रहे है। टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों, तकनीकी, एंव प्रयागों ने लोक प्रशासन के चिन्तकों को भी काफी प्रभावित किया। बर्टराम ग्रॉस के अनुसार उनके वैज्ञानिक प्रबन्ध का लोक प्रशासन में बढ़ते सुधार और मितव्ययता आन्दोलन पर गहरा प्रभाव है।

हेनरी फेयोल (Henary Fayol)

फेयोल के प्रमुख प्रकाशन (Leading Publications):

पुस्तक एवं लेख :

1. General and Industrial Management (1916)
2. General Principles of Administration (1908)
3. The Industrialisation of the State (1919)
4. The Administrative Theory in the State (1923)

फेयोल का योगदान (Fayol's Contribution) :

औद्योगिक क्रियाएं (Industrial Activities) :

फेयोल के अनुसार सभी औद्योगिक संस्थाओं में निम्न छः क्रियाऐ देखने को मिलती है।

(1) **तकनीकी क्रियाऐं (Technical Activities) :** इसमें उत्पादन, निर्माण एंव रूपान्तरण संबधी क्रियाओं को शामिल किया जाता है।

(2) **वाणिज्यिक क्रियाऐं (Commercial Activities) :**इसमें क्रय–विक्रय एंव विनिमय का समावेश किया जाता है।

(3) **वित्तीय क्रियाऐ (Financial Activities) :** इसमें पूँजी का श्रेष्ठतम उपयोग को सम्मलित किया जाता है।

(4) **सुरक्षा क्रियाऐं (Security Activities) :** इनमें जान–माल की सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाऐं आती है।

(5) **लेखांकन क्रियाऐं (Accounting Activities):** इनमें हिसाब–किताब रखनें, लागत नियन्त्रण तथा ऑकड़े एकत्रित करनें सम्बन्धी क्रियाऐं आती है।

(6) **प्रबन्धकीय क्रियाऐं (Managerial Activities)** : इनमें नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय एंव नियन्त्रण (प्रबन्ध के तत्व) आदि का समावेश किया जाता है।

हेनरी फेयोल के अनुसार ये क्रियाऐं प्रत्येक आकार के व्यवसाय में पाई जाती है। तथा व्या वहारिक क्षेत्र में यह अनुभव किया कि प्रबन्ध प्रथम पाँच क्रियाओं पर तो ध्यान देते है, किन्तु प्रबन्धकीय संबंधी क्रियाऐं उपेक्षित रह जाती है। फेयोल नें विभिन्न प्रबन्धकों एंव प्रशासकों से प्रबन्धकीय क्रियाओं पर भी ध्यान आकर्षित करनें की आवश्यकता जताई।

प्रबन्धन के तत्व (Elements of management) :

फेयोल ने प्रबन्धकीय क्रियाओं को पाँच तत्वों अथवा कार्यों के रूप में विभाजित किया है। – नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय और नियंत्रण। फेयोल ने प्रशासन को प्रबन्ध से अधिक महत्वपूर्ण माना है। यही कारण है। कि इन तत्वों या कार्यों को प्रशासन के कार्य भी कहा गया है। ये तत्व इस प्रकार है :–

(1) नियोजन (Planning) : कार्य करने से पूर्व उसकी तैयारी करना नियोजन कहलाता है। नियोजन में पूर्वानुमान एंव निर्णय को शामिल किया जाता है। इसके अर्न्तगत भविष्य के बारे में पूर्वानुमान लगाया जाता है और कार्य की योजना तैयार की जाती है। कार्य की योजना उद्यम के साधनों, कार्य की प्रकृति एंव व्यवसाय की भावी प्रवृतियों पर निर्भर करती है। एक अच्छी योजना के अन्तर्गत एकता, निरन्तरता, लोचशीलता, और निश्चिंतता के गुण होने चाहिए। हेनरी फेयोल ने ''आगे देखना'' (Prevoyance) को नियोजन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। क्योंकि इसमें भविष्य का अनुमान लगाकर उसके बारे में

नियोजन तैयार किया जाता है।

(2)संगठन (Organisation) – फेयोल के अनुसार संगठन का तात्पर्य किसी व्यवसाय को संचालन करने के लिए समस्त उपयोगी एंव आवश्यक वस्तुओं जैसे– कच्चा माल, औजार, पूँजी एंव कर्मचारी आदि उपलब्ध कराना है। फेयोल नें संगठन को दो भागों में बाँटा है। : (अ) भौतिक संगठन (ब) मानवीय संगठन। फेयोल ने मानवीय संगठन को ही प्रबन्ध का तत्त्व माना है।

(3) आदेश (Command) : आदेश का तात्पर्य कर्मचारियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों की व्यवस्था से लिया है। प्रत्येक प्रबन्धक के लिए आदेश का उद्देश्य अपनें कर्मचारियों के प्रयासों का अधिकतम उपयोग करना है। प्रबन्धकों को अपने संगठन में कार्यरत कर्मचारियों की एकता, शक्ति एंव प्रेरणा कों बनाये रखनें और उनमें संगठन के प्रति विश्वास बनाये रखनें का प्रयास करना चाहिए। हेनरी फेयोल नें कहा कि आदेश की कला प्रबन्ध के व्यक्तिगत गुणों एंव प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों के ज्ञान पर निर्भर करता है। प्रशासकों को कर्मचारियों के बारे में सम्पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए। वास्तव में फेयोल के आदेश प्रबन्धकीय क्रिया का तत्व आधुनिक निर्देशन के तत्वों का समावेश करता है।

(4)समन्वय (Co-ordination) : फेयोल के अनुसार यह प्रबन्ध का वह कार्य है। जिसके माध्यम से संगठन की विभिन्न क्रियाओं में इस प्रकार से उचित ताल–मेल बैठना कि कार्य सुगमतापुर्वक चलता रहे और किसी भी प्रकार की कोई बाधा उत्पन्न न हो। विभिन्न प्रबन्धकीय कार्यों, उत्पादन, वित्त, विक्रय, उपभोग आदि में समन्वय सही रूप में प्रबन्धन का हृदय (Heart of Management) कहा जाता है। फेयोल लिखते है कि जिन संस्थाओं में समन्वय का अभाव होता है, वहाँ प्रत्येक विभाग को दूसरे के बारे में कोई जानकारी नहीं होती, प्रत्येक अपनें हितों की चिन्ता करता है, उनके मध्य संचार एंव सहयोग नहीं होता। वहाँ सामान्य हित, पहलपन, संगठन निष्ठा का पूर्णतः अभाव होता है। फेयोल ने समन्वय स्थापित करनें के लिए दो उपाय बताये थे :

(अ) विभागाध्यक्षों की साप्ताहिक सभाएँ एंव
(ब) सम्पर्क अधिकारियों की नियुक्ति

(5)नियंत्रण(Control) – नियंत्रण का अर्थ इस बात का मूल्यांकन करने से है। कि संगठन के सम्पुर्ण कार्य स्वीकृत की गई योजनाओं, दिए गये आदेशों तथा निर्धारित नियमों के अनुसार हो रहे है अथवा नहीं। नियन्त्रण का उद्देश्य कार्य की दुर्बलताओं व त्रुटियों को सामनें लानें से है। जिससे समय रहते हुए सुधार किया जा सके एंव भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति रोकी जा सके। नियंत्रण का क्षेत्र व्यापक है। इसमें प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति एंव क्रिया को शामिल किया जाता है। एक प्रभावी नियंत्रण में दो बातों पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रथम, नियंत्रण सम्बन्धी कार्य उचित समय पर किया जाना चाहिए एंव द्वितीय, नियंत्रण उचित दण्ड व्यवस्था के आधार पर किया जाना चाहिए।

प्रबन्ध के सिद्धान्त
(Principles of Management) :

प्रत्येक संगठन की सुदृढ़ता व कुशल संचालन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों, नियमों व कानूनों की आवश्यकता होती है। फेयोल ने प्रबन्ध के कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण किया था। उनका मत था कि प्रबन्धकीय कार्य का सम्बन्ध कर्मचारियों से होता है। अतः उनसे व्यवहार करने में लोचपूर्ण एंव समायोजन योग्य सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। इन सिद्धान्तों को लागू करने में प्रबन्धकों कों अत्यन्त विवेक, कौशल व अनुभव की आवश्यकता होती है। प्रशासन अथवा प्रबन्ध के फेयोल द्वारा प्रतिपादित चौदह (14) सामान्य सिद्धान्त प्रबन्ध जगत को महान देन है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(1) कार्य का विभाजन (Division of work) :

कार्य का विभाजन का तात्पर्य है कि सम्पूर्ण कार्य को कुछ भागों में बाँट कर प्रत्येक भाग के कार्यों को पृथक–पृथक व्यक्ति द्वारा किया जाये। इसका उद्देश्य अधिक व श्रेष्ठ कार्य करना है। कार्य विभाजन, विशिष्टीकरण एंव प्रमाणीकरण की प्रक्रिया है। जिसके द्वारा कर्मचारियों को सीमित कार्य सौंपकर उनकी योग्यता का सदुपयोग किया जा सकता है, तथा संगठन के उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। प्रत्येक मानव समाज में जहाँ व्यक्ति समूह में कार्य करता है। चाहें वह एक कारखाना हों, घर हो या सरकारी कार्यालय, कार्य विभाजन ही प्रबन्धकीय कुशलता की कुंजी है। फेयोल ने इस सिद्धान्त को प्रबन्धकीय एंव तकनीकी सभी कार्यों में लागू करने का प्रस्ताव दिया है।

(2) अधिकार एंव उत्तरदायित्व (Authority and Responsibility)

सत्ता और उत्तरदायित्वों में समानता होनी चाहिए। किसी निर्धारित कर्तव्य को पूरा करने के लिए उत्तरदायी अधिकारी या कर्मचारी को उस कार्य के अनुरूप पर्याप्त अधिकार भी मिलने चाहिए। सत्ता एंव उत्तरदायित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक–दूसरे के पूरक है। वस्तुतः सत्ता किसी उत्तरदायित्व को पूरा करनें का ही माध्यम है। फेयोल के अनुसार, ''सत्ता आदेश देने का अधिकार तथा उसे पालन करवाने की शक्ति है।''

(3) अनुशासन (Discipline) :

संगठन के सुगमतापूर्वक संचालन के लिए अनुशासन अनिवार्य है, और बिना अनुशासन उद्यम खुशहाल नहीं हो सकता। फेयोल के अनुसार अनुशासन का अभिप्राय समझोतों में आस्था प्रकट करना है। जिससे आज्ञाओं का पालन किया जा सके और व्यक्ति अपनी योग्यता एंव क्षमता के अनुसार कार्य कर सके। किसी संगठन में अनुशासन उसके प्रबन्धक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। एक अच्छे अनुशासन हेतु एक सफल नेतृत्व की आवश्यकता है तथा यह संगठन व कर्मचारियों के आपसी सम्बन्धों को प्रदर्शित करता है। फेयोल ने संगठन में अनुशासन बनाये रखनें के लिए प्रबन्धकों के लिए तीन उपाय बताये है :

(क) संगठन के सभी स्तरों पर अच्छे पर्यवेक्षकों की नियुक्ति की जाये।
(ख) संगठन में समझौते स्पष्ट एंव उचित होने चाहिए।
(ग) दण्ड–विधान को दृढतापूर्वक एंव विवेक के साथ लागू करने का प्रावधान होना चाहिए।

(4) आदेश की एकता (Unity of Command) :

आदेश की एकता का अर्थ संगठन में एक कर्मचारी अपने से केवल एक उच्च अधिकारी के आदेश प्राप्त करे तथा उसके प्रति उत्तरदायी रहे। हेनरी फेयोल ने इस सिद्धान्त की पालना के लिए सबसे अधिक बल देते हुए कहा है कि ''आदेश की एकता सिद्धान्त का उल्लघंन किया जाता है, तो सत्ता निर्बल हो जाती है अनुशासन खतरे में पड़ जाता है व्यवस्था भंग हो जाती है और स्थायित्व संकट में पड़ जाता है। ''वस्तुतः संगठन में कार्यरत कर्मचारी दोहरे आदेशों के अधीन नही रह सकता।

(5) निर्देश की एकता (Unity of Direction) :

निर्देश की एकता का सिद्धान्त आदेश की एकता से भिन्न है। निर्देश की एकता का अर्थ फेयोल के अनुसार इस बात से है कि समान उद्देश्यों वाली क्रियाओं का संचालन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए। और कार्य की एक ही योजना होनी चाहिए। अर्थात् ''एक व्यक्ति व एक योजना'' (One Head One Plan)। एक ही उद्देश्य वाली क्रियाओं कों सम्पन्न करनें का कार्य जब एक से अधिक व्यक्तियों को सौप दिया जाये तो उनके बीच समन्वय की समस्या आती है और उसके क्रियान्वयन में बाधा पैदा होती है। फेयोल का यह स्पष्ट मानना था कि निर्देशों की एकरूपता समूचें निगम शरीर से सम्बन्धित होती है ।

(6) व्यक्तिगत हित की तुलना में सामान्य हित को महत्व : (Subordination of Individual Interests to General Interests)

किसी भी संगठन में सामान्य हितों एवं व्यक्तिगत हितों में संघर्ष नहीं होना चाहिए। यह सर्वोच्च प्रशासकों एंव प्रबन्धकों का दायित्व है कि वे व्यक्तिगत हितों को त्याग कर संगठन के सामान्य हितों की ओर सभी कर्मचारियों का ध्यान आकर्षित करें। संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करना ही कर्मचारियों का ध्येय होना चाहिए।

(7) पारिश्रमिक (Remuneration) :

पारिश्रमिक एक कर्मचारी की दी गई सेवाओं की कीमत है। प्रतिफल उचित न्याय संगत होना चाहिए और कर्मचारी और मालिक दोनों के लिए संतोषजनक होना चाहिए। इससे उत्पादकता में वृद्धि होती है।

(8) केन्द्रीकरण (Centralisation) :

फेयोल के अनुसार वह कार्य जिसमें अधीनस्थों की भूमिका का अधिक महत्व होता है। विकेन्द्रीकरण कहलाता है। तथा जिस कार्य में अधीनस्थों का महत्व कम होता है, केन्द्रीकरण कहलाता है। उन्होनें केन्द्रीकरण के सिद्धान्तों पर जोर देते हुए कहा है कि किसी संगठन में अधिकारों का किस सीमा तक केन्द्रीकरण तथा किस सीमा तक विकेन्द्रीकरण किया जाये, यह अलग–अलग संगठनों की प्रकृति एंव आकार पर निर्भर करतें है। एक बड़े उद्योग में अधिकारों का केन्द्रीकरण अधिक नहीं होता बल्कि वहाँ उच्चस्तरीय प्रबन्ध से मध्यम व निम्नस्तरीय प्रबन्धकों तक अधिकारों का विकेन्द्रीकरण होगा। इसके विपरीत एक छोटे संगठन में अधिकार सत्ता का केन्द्रीयकरण बडे पैमाने पर मिलेगा।

(9) स्केलर शृंखला (Scaler Chain) :

यह पदक्रम के सिद्धान्त पर आधारित है। फेयोल के अनुसार संगठन में उच्च पद से लेकर निम्न पद तक फैली हुई अधिकारियों व कर्मचारियों के पदों की श्रृंखला पदसोपान कहलाती है। स्केलर शृखला संगठन में शीर्षस्थ अधिकारी से निम्नतम कर्मचारी तक सम्बन्धों में वरिष्ठ और अधीनस्थ की रेखा कर संगठन को विभिन्न स्तरों मे समन्वय स्थापित करता है। इस शृंला के माध्यम से आदेश की एकता, नेतृत्व का विकास, उचित मार्ग द्वारा कार्य, स्पष्ट उत्तरदायित्व, कार्यों का निर्धारण, उचित समन्वय प्रत्यायोजन संगठन में सूचना माध्यम का कार्य आदि आसान हो जाते है। स्केलर श्रृंखला का सबसे बडा दोष कार्य में विलम्ब या लालफीताशाही है। फेयोल ने इस दोष को दूर करने के लिए गैंग–प्लांक (Gang Plank) का सुझाव दिया। जिसके तहत पुल व्यवस्था के माध्यम से स्केलर शृंखला के दोषों को दूर करने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह समन्वय की एक व्यवस्था है। जिसके द्वारा एक विभाग या उप विभाग का कर्मचारी सीधे–सीधे भी दूसरे उप विभाग या विभाग के कर्मचारी से सर्म्पक स्थापित कर सकता है।

फेयोल का गैंग प्लांक (Gang Plank)

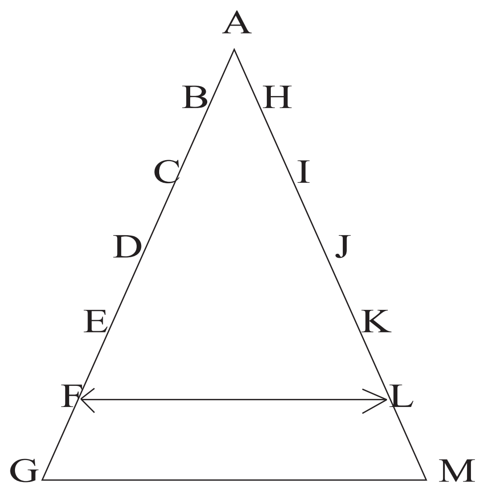

प्रस्तुत चित्र के अनुसार F अगर L से सर्म्पक स्थापित करना चाहता है तो उसे स्केलर शृंखला के अनुसार E D C B A H I J K से होकर सम्पर्क स्थापित करना होगा। इस सम्पर्क को आसान बनाने के लिए फेयोल कहतें है कि समान स्तर पर F और L को गैंग प्लांक बनाकर सीधे सम्पर्क स्थापित कर लेना चाहिए, लेकिन इस सर्म्पक को ऊपर के अधिकारियों, यहॉं पर E और K से स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार गैंग प्लांक से स्केलर–शृंखला को बिना तोड़े शीघ्र कार्य करना संभव हो जाता है।

(10) व्यवस्था (Order) :

फेयोल के अनुसार व्यवस्था का तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्ति के लिए उचित स्थान होना चाहिए और प्रत्येक स्थान के लिए एक उचित वस्तु और एक उपयुक्त व्यक्ति होना

चाहिए। अतः व्यक्तियों एंव वस्तुओं को उचित स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। फेयोल के मत में व्यवस्था का सिद्धांत मनुष्यों और वस्तुओं दोनों पर लागू होता है। व्यवस्था दो प्रकार की हो सकती है। पहली, भौतिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु का एक निर्धारित स्थान होता है और प्रत्येक वस्तु अपने निर्धारित स्थान पर होती है। दूसरी, सामाजिक व्यवस्था से आशय है सही जगह पर सही आदमी का होना। संगठन में कम लागत पर अधिकतम उत्पादन करने हेतु उचित वस्तु व व्यक्ति का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रबन्धकीय क्रियाओं के दो पहलुओं, अच्छा संगठन एंव अच्छा चयन का होना परमावश्यक है।

(11) समता (Equity) :

फेयोल सुझाव देते है कि प्रबन्धकों को संगठन के प्रत्येक स्तर पर समानता की भावना का विकास करना चाहिए। संगठन का प्रत्येक कार्मिक दया, न्याय और पक्षपात रहित व्यवहार की आकांक्षा रखता है। सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाना चाहिए, ताकि कार्मिकों को कभी इस बात की चिन्ता नहीं हो कि उनके प्रति पक्षपातपूर्ण कार्यवाही की जा रही है। इसके लागू करने हेतु प्रबन्धकों में अच्छा विवेक, अनुभव एंव अच्छा स्वभाव होना आवश्यक है।

(12) कार्मिकों के कार्यकाल का स्थायित्व (Stability of Tenure of Personnel) :

किसी भी संगठन में कार्यरत कार्मिकों को अपने कार्य व पद की सुरक्षा होनी चाहिए। यदि उन्हें यह पता है कि जो कार्य या पद उन्हें दिया गया है, वह भविष्य में भी बना रहेगा, इसमें काई परिर्वतन नहीं किया जायेगा। इससे कर्मचारी संगठन में पूरी रूचि एंव लगन के साथ कार्य करेगें। फेयोल ने कहा कि एक सामान्य प्रबन्धक जो लम्बे समय तक संगठन में रूका रहता है तो उन प्रतिभा सम्पन्न प्रबन्धकों से श्रेष्ठ है, जो संगठन में केवल आते–जाते रहते है।

(13) पहल (Initiation) :

यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति में सोचने–विचारने की शक्ति होती है। किसी भी योजना को तैयार करने एवं उसको लागू करने में कर्मचारियों को छूट होनी चाहिए। इससे कर्मचारियों में उत्साह एवं शक्ति में वृद्धि होती है। अतः फेयोल के अनुसार प्रबन्धकों को चाहिए कि वह कर्मचारियों में पहल करने की भावना उत्पन्न करने का काम करें।

(14) सहयोग की भावना (Esprit De Corps):

इसका तात्पर्य है कि संगठन के कर्मचारियों के बीच सामंजस्य और एकता। यह संगठन की शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत है। प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए, और सभी को एक साथ लेकर एक टीम के रूप में कार्य करना चाहिए। सहयोग की भावना उत्पन्न करने हेतु संदेशवाहन के महत्व पर जोर दिया गया है। यदि श्रमिकों में एकता नहीं है तो यह संगठन के हितों के लिए घातक सिद्ध होगा। पूर्ण सहयोग की प्राप्ति हेतु एक ओर आदेशों में एकरूपता रखनी होगी तथा दूसरी ओर ''फूट डालो और राज्य करो'' की भावनाओं का परित्याग किया जाना चाहिए।

प्रबन्धकों के गुण (Managerial Qualities) :

प्रत्येक कार्य निष्पादन में विशेष योग्यता एंव गुणों की आवश्यकता होती है। हेनरी फेयोल ने प्रबन्धकों में विभिन्न आवश्यक गुणों पर जोर दिया है, जो इस प्रकार है :

(1) शारीरिक गुण – स्वास्थ्य, शक्ति, दक्षता
(2) मानसिक गुण – समझने और सीखने की योग्यता, निर्णय मानसिक शक्ति, अनुकूलनशीलता,
(3) नैतिक गुण – पहलपन, स्वामी भक्ति, कौशल, ऊर्जा, दृढता, दायित्व स्वीकार करने की इच्छा, गौरव
(4) सामान्य शिक्षा – विभिन्न विषयों की सामान्य जानकारी
(5) विशेष – इसमें प्रबन्धक का उस कार्य के बारे में विशिष्ट ज्ञान शामिल है जो कि उसे सौंपा जाता है, चाहे यह किसी भी प्रकृति का क्यों न हो।
(6) अनुभव – कार्य करने से पैदा होने वाला ज्ञान अनुभव में शामिल है।

आलोचना (Criticism) : आधुनिक सार्वभैमिक प्रबन्धकीय सिद्धान्तों एंव प्रबन्धकीय पथ के जनक हेनरी फेयोल के विचार आज भी पूर्णतया प्रासंगिक तथा उपयोगी है, लेकिन उनकी कई स्तरों पर आलोचना भी की गई है। फेयोल के प्रमुख आलोचक पीटर ड्रकर का मानना है कि वे संगठनात्मक ढांचे के सिद्धान्तों में कुछ बेहद गम्भीर किस्म की गलतियाँ की है। जैसे एक सक्रिय गतिविधि पर आदर्श और सार्वभौमिकता जैसे यांत्रिक मॉडलो का बोझ लाद दिया है, तथा उनके चौदह सिद्धान्त एक–दूसरे को दुहराते है। फेयोल के सिद्धान्तों में मानव सम्बन्धों की उपेक्षा होती है।

फेयोल का मूल्यांकन (Evaluation of Fayol):

फेयोल पहले विचारक थे जिन्होनें प्रबन्ध के सिद्धान्तों, कार्यों व प्रक्रिया को सार्वभौमिक माना, जिनका उपयोग समस्त प्रकार के संगठनों में किया जा सकता है। फेयोल नें प्रबन्ध को ज्ञान की एक पृथक शाखा एवं कौशल के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। वे लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के अन्तर को दरकिनार करते हुऐ कहते है कि संगठन की प्रबन्धकीय गतिविधियाँ दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से लागू की जा सकती है। औद्योगिक क्रियाओं का वर्गीकरण करते हुऐ फेयोल छः तरह की क्रियाओं का उल्लेख करते है। तकनीकी, वाणिज्यिक, वित्तीय, सुरक्षात्मक, लेखांकन एंव प्रबन्धकीय क्रियाऐं।

प्रबन्धकों का मार्गर्दशन करने के लिए फेयोल ने 14 सिद्धान्तों का निर्माण किया। ये सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से उपयोगी रहे हैं और समय की कसौटी पर खरे उतरे है। उनके सिद्धान्त जैसे आदेश की एकता, निर्देश की एकता, सत्ता एंव उत्तरदायित्व एंव पारिश्रमिक आदि। वर्तमान में भी योजनाऐं बनानें और कम्पनियों की सांगठिक संरचना के विकास में सहायक है। फेयोल के मत में एक प्रबन्धक में कतिपय गुण या योग्यता होनी चाहिए – शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामान्य शिक्षा, विशिष्ट ज्ञान एंव अनुभव तथा फेयोल प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की वकालत करतें है।

फेयोल के सिद्धान्त लोक प्रशासन के क्षेत्र में ही नही बल्कि एक व्यक्ति के जीवन के अनेंक पक्षों में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकतें है। इनके नियोजन, समन्वय, नियंत्रण, अनुशासन, समानता, पहलपन, एकत्व की भावना जैसे सिद्धान्तों का अगर आप अपनें व्यावहारिक जीवन में उतारनें का प्रयास करे तो आप स्वयं अनुभव कर पायेंगें कि आपके जीवन में कितनें परिवर्तन आ गये है। इनके सिद्धान्त अनेंक क्षेत्रों, संस्थाओं, समाज एंव राष्ट्र में एकता के सूत्रों को मजबूती प्रदान करनें वालें है। निःसन्देह प्रशासन पर फेयोल के विचार काफी मौलिक और पथ– प्रर्दशक मानें जातें है।

निष्कर्ष (Conclusion) :

टेलर एवं हेनरी फेयोल ने प्रबन्ध जगत में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जिसको प्रबन्ध जगत कभी नहीं भूल सकता। टेलर ने प्रबन्ध विचारधारा को वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा हेनरी फेयोल सार्वभौमिक प्रबन्धकीय सिद्धान्त दिये है। उर्विक ने टेलर एंव हेनरी फेयोल के योगदान के बारे में कहा है कि टेलर तथा हेनरी फेयोल दोनों के ही कार्य एक–दूसरे के पूरक थे। इन दोनों ने ही यह अनुभव किया की प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर कर्मचारियों तथा उनके प्रबन्ध की समस्या औद्योगिक सफलता की कुंजी है। दोनो ने ही इस समस्या के समाधान के लिए वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग किया। यद्यपि टेलर ने मुख्यतः औद्योगिक प्रबन्ध के क्रम में नीचे से ऊपर की ओर क्रियात्मक स्तर पर कार्य किया तथा फेयोल ने सामान्य प्रबन्धक के पद पर ध्यान केन्द्रित करके ऊपर से नीचे की ओर कार्य पर जोर दिया। यद्यपि यह अन्तर उनके बहुत भिन्न व्यवसाय क्रमों का प्रतिबिम्ब मात्र था। इसी प्रकार क्लाड एस. जार्ज के शब्दों में ''दोनों महान थे, दोनों अगुआ थे। आधुनिक प्रबन्ध चिन्तन दोनो के प्रति ऋणी रहेगा।''

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन को द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति के नाम से जाना जाता है। इसके जन्मदाता एंव प्रवर्तक फ्रेडरिक विंसलो टेलर थे। टेलर की प्रसिद्ध पुस्तक वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त (The Principle of the Scientific Management,) 1911 में प्रकाशित हुई।
2. वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रबन्ध समस्याओं के हल का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो कि वैज्ञानिक अनुसंधान, विश्लेषण, नियम, सिद्धान्तों एंव परिणामों पर आधरित है। इसका प्रमुख उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभों को प्राप्त करना होता है।
3. वैज्ञानिक प्रबंध शब्द का सबसे पहले प्रयोग सन् 1910 में लुई डी. ब्रेण्डीज़ ने किया था।
4. टेलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के पांच सिद्धान्त बताये : विज्ञान का विकास, संघर्ष के स्थान पर मैत्री, व्यक्तिवाद के स्थान पर सहकारिता, सीमित उत्पादन के स्थान पर अधिकतम उत्पादन एवं प्रत्येक व्यक्ति का अधिकतम विकास।
5. मानसिक क्रान्ति को वैज्ञानिक प्रबन्ध की आत्मा व सार कहा जाता है जो टेलर के मौलिक विचार थे। यही वह दिशा है जो श्रमिक व प्रबन्ध दोनों पक्षों के मानसिक प्रवृत्तियों में पूर्ण परिर्वतन, संघर्ष के स्थान पर शान्ति भाईचारे व सहयोग पैदा करता है जिस से दोनो पक्षों के लाभ में बढ़ोतरी होती है।
6. मानकीकरण (प्रमापीकरण) प्रत्यके कार्य के प्रमाप निर्धारित कर दिए जाने तथा यन्त्रों और सामग्री का वैज्ञानिक आधार पर चयन से न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव है।
7. टेलर के प्रमुख सहयोगी हेनरी गेन्ट, फ्रेन्क एंव लिलियन गिलब्रेथ थे।
8. टेलर के प्रमुख आलोचक– प्रॉ0 राबर्ट हॉक्सी, सैम लेविसोम, ओलिवर शैल्डन, मैरी पार्कर फोलेट, एल्टन मेयो एंव पीटर ड्रकर आदि है।
9. हेनरी फेयोल ने ओद्योगिक संस्थानों की समस्त गतिविधियों को छः भागों में विभाजित किया है जो इस प्रकार है– तकनीकी, वाणिज्यक, वित्तीय, सुरक्षा, लेखांकन एंव प्रबन्धकीय गतिविधियॉ।
10. फेयोल ने प्रबन्धकीय गतिविधि के पॉच तत्व बतलाये है : योजना, संगठन, आदेश, समन्वय एंव नियन्त्रण।
11. फेयोल ने सगंठन के चौदह सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है जैसेः कार्य विभाजन, अधिकार और उत्तरदायित्व, अनुशासन, आदेश की एकता, निर्देश की एकता, व्यक्तिगत हित की तुलना में सामान्य हित को महत्व, पारिश्रमिक, केन्द्रीकरण, स्केलर श्रृंखला, व्यवस्था, समता, कार्मिकों के कार्यकाल का स्थायित्व, पहल एंव सहयोग की भावना।
12. फेयोल प्रबन्धकों के छः गुण बतलाये है– शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामान्य शिक्षा, विशेष ज्ञान एंव अनुभव।
13. हेनरी फेयोल आदेश की एकता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था उन्होनें इस सिद्धान्त के बारे में कहा कि आदेश की एकता सिद्धान्त की अवेहलना केवल दण्ड के न होने पर ही की जा सकती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न :

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किसनें किया ?
(अ) टेलर (ब) लुई ब्रेण्डिज
(स) वेबर (द) विलोबी ( )

2 वैज्ञानिक प्रबन्ध की विचारधारा आधारित है।
(अ) प्रबन्ध परम्पराओं पर (ब) अनुमानों पर
(स) भूल व सुधार पर (द) वैज्ञानिक प्रविधियों पर ( )

3 निम्न में से किसे ''वैज्ञानिक प्रबन्ध'' का जनक कहा जाता है?
(अ) एल्टन मेयो (ब) लूथर गुलिक
(स) टेलर (द) फेयोल ( )

4. हेनरी फेयोल नें संगठन के कितनें सिद्धान्त बताये है ?
(अ) 14 (ब) 10 (स) 6 (द) 5 ( )

5. गैंक प्लांक विधि किससे सम्बन्धित है ?
(अ) कार्य विभाजन (ब) पर्यवेक्षण
(स) आदेश की एकता (द) पदसोपान ( )

6.गैंक प्लांक क्या है ?
(अ) उच्चस्तरीय अधिकारी से सीधे सम्पर्क करना
(ब) सभी पदों का एकीकरण कर देना
(स) समस्तरीय पदों में प्रत्यक्ष संचार हेतु पुल बनाना
(द) उपर्युक्त सभी ( )

7. ''सामान्य और औद्योगिक प्रबन्ध'' पुस्तक के लेखक कौन है?
(अ) टेलर (ब) उर्विक
(स) फेयोल (द) गुलिक ( )

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा क्या है ?
2. वैज्ञानिक प्रबन्ध की दो प्रमुख विशेषताऐं बताइये ?
3. वैज्ञानिक प्रबन्ध के दो उद्देश्य बताइये ?
4. हेनरी फेयोल द्वारा लिखित प्रमुख पुस्तक का नाम बताइये ?
5. अपवाद का सिद्धान्त क्या है ?
6. विभेदात्मक मजदूरी दर प्रणाली क्या है ?
7. वैज्ञानिक प्रबन्ध के दो लाभ बताइये ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?
2. टेलर नें वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों की कौन सी तीन मान्यताऐं बताई है ?
3. मानसिक क्रान्ति वैज्ञानिक प्रबन्ध की आत्मा है, स्पष्ट कीजिए।
4. टेलर के कार्यात्मक फौरमैनशिप की व्याख्या कीजिए?
5. वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख लाभों को अंकित कीजिए ?
6. हेनरी फेयोल नें औद्योगिक संस्थानों की कितनी गतिविधियां बताई है ? इन गतिविधियों का उल्लेख कीजिए ?
7. हेनरी फेयोल एंव टेलर में कोई तीन समानताऐं बताइये?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए?
2. हेनरी फेयोल के प्रबन्धकीय योगदान का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?
3. टेलर के कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ? आपके विचार से टेलर कहां तक सही थे ?

उत्तरमाला :

1. (ब)	2. (द)	3. (स)
4. (ब)	5. (द)	6. (स)
7. (स)		

अध्याय – 3
शास्त्रीय विचारधारा
(Classical Ideology)

शास्त्रीय विचारधारा संगठन की सबसे पुरानी विचारधारा है। शास्त्रीय शब्द का तात्पर्य प्राचीन समय से एवं परम्परागत रुप से स्थापित किसी व्यवस्था से होता है। एक संगठन के व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने की यह पद्धति प्रारम्भ के रुप में देखी जा सकती है। यह सर्वाधिक प्रचलित विचारधारा है। शास्त्रीय विचारधारा को अन्य कई नामों से भी जाना जाता है। जैसे परम्परावादी विचारधारा, यांत्रिक विचारधारा, औपचारिक संगठन विचारधारा, संरचनात्मक विचारधारा, कुशलता विचारधारा आदि। मार्च एवं साइमन ने इसे प्रशासनिक प्रबन्धन विचारधारा भी कहा है।

टेलर एवं उसके अनुयायियों द्वारा विकसित वैज्ञानिक प्रबन्ध संगठन की एक संकीर्ण विचारधारा थी क्योंकि इसने क्रियान्वयन स्तर पर कुशलता पर विशेष बल दिया था। जबकि शास्त्रीय विचारधारा के लेखकों के एक समूह ने संगठन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। इन लेखकों की मुख्य रुप से औपचारिक संगठनात्मक संरचना और मूलभूत प्रबन्धन में रुचि थी। इस विचारधारा के अनुसार संगठन एक औपचारिक ढाँचा है जिसका निर्माण पूर्व नियोजित योजना के अनुसार किया जाता है।

इस विचारधारा की प्रमुख विशेषता संगठन के सिद्धान्तों को विकसित करने की चिन्ता एवं आकांक्षा थी। उन सिद्धान्तों के आधार पर संगठन की रुपरेखा तैयार की जाती हैं, प्रत्येक पद का गठन करके संगठन के अनुरूप व्यक्तियों का चयन करके उन्हें कार्य सौपा जा सकता हैं और विभिन्न पदो के मध्य सहसंबंध निश्चित किये जा सकते है। उनके मध्य समन्वय इस प्रकार विकसित किया जा सकता है कि संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। अतः संगठन एक औपचारिक ढाँचा है जो इसमें कार्यरत व्यक्तियों से अप्रभावित रहता हैं।

शास्त्रीय विचारकों ने संगठन को एक मशीन एवं उसमें कार्य करने वाले व्यक्यिों को एक पुर्जे के रूप में स्वीकार किया हैं। यह विचारधारा संगठन के आन्तरिक तत्वों का ही अध्ययन करती है और बाह्य वातावरण के तत्व किस प्रकार संगठन को प्रभावित करते है, इस पर कम ध्यान देता है। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक लूथर गुलिक, उर्विक, मूने व रैले, ऑलिवर शैल्डन, आर्डवे टीड आदि हैं।

शास्त्रीय विचारधारा की मान्यताएँ (Assumptions of Classical Ideology) :

शास्त्रीय विचारधारा के विचारकों ने कुछ मान्यताओं को स्वीकार किया हैं। इनमें से कुछ प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

1. इस विचारधारा का विश्वास हैं कि संगठन के कुछ निश्चित, स्पष्ट और सर्वविदित सिद्धान्त होते है। इन सिद्धान्तों के आधार पर संगठन की ऐसी रूपरेखा निर्धारित कर सकते हैं जिनके आधार पर संगठन के वांछित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।
2. व्यक्तियों अथवा कर्मचारियों की नियुक्ति करने से पहले यह आवश्यक हैं कि संगठन की योजना बना ली जाए।
3. संगठन की रूपरेखा एवं उसके ढाँचे का निर्माण अधिक महत्वपूर्ण है जबकि संगठन में कार्य करने वाले व्यक्ति गौण हैं। जब संगठन का स्वरूप निर्धारित हो जाता हैं तब उसमें कार्य करने वाले व्यक्ति भी आसानी से मिल जाते हैं।
4. संगठन में व्यक्ति को मशीन के पुर्जे के रूप में स्वीकार किया गया हैं।
5. इसका सरोकार औपचारिक सांगठनिक संरचना के साथ ही प्रशासन के सिद्धान्तों एवं नियमों से हैं।

शास्त्रीय विचारधारा की मुख्य विशेषताएँ: (Main Characteristics of Classical Ideology)

इस विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1. संगठन की शास्त्रीय विचारधारा व्यवस्था, तर्कसंगतता, संरचना और विशिष्टीकरण पर जोर देती हैं।
2. यह विचारधारा संगठन में न्यूनतम लागत पर अधिकतम कार्यकुशलता पर जोर देती हैं।
3. यह व्यक्ति को ''आर्थिक मानव'' मानता है। इसके अनुसार व्यक्ति को केवल आर्थिक प्रेरणा देकर ही अभिप्रेरित किया जा सकता हैं।
4. इस विचारधारा में पदसोपान के सिद्धान्त की कठोरता से पालना की जाती हैं।
5. इसमें व्यक्ति कि अपेक्षा संगठन को अधिक महत्व दिया जाता है।
6. यह विचारधारा इस बात पर बल देती है कि संगठन में प्रत्येक उच्च अधिकारी की सत्ता एवं उसके द्वारा निष्पादित किये जाने वाले उत्तरदायित्वों का स्पष्टतः उल्लेख होना चाहिए।
7. संगठन में प्रत्येक व्यक्ति के कार्य जहाँ तक सम्भव हो, एक महत्वपूर्ण कार्य या उसके भाग के रूप में सीमित होने चाहिए।
8. संगठन को एक बन्द व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया हैं जिसका स्वंय का कोई पर्यावरण नही होता हैं। बाह्य

वातावरण का इस प्रकार कोई प्रभाव नही पड़ता हैं।

इस पर निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय विचारधारा संगठन में व्यक्ति कि अपेक्षा कार्यों पर अत्यधिक ध्यान देता हैं। यह अवैयक्तिक हैं जिसमें दक्षता, कार्यकुशलता व मितव्ययता पर अधिक बल दिया जाता हैं। यह मानकर चलता हैं कि संगठन अपने बाहरी वातावरण से बिल्कूल अलग और अप्रभावित हैं। इस विचारधारा में कार्य विभाजन, विशिष्टीकरण, पदसोपान, नियोजन, नियंत्रण, सत्ता व उत्तरदायित्व, समन्वय आदि सिद्धान्तों की दिशा में स्पष्ट चिन्तन किया गया हैं।

गुलिक का योगदान (Contribution of Gulick) :

शास्त्रीय विचारधारा को विकसित करने में कई विद्वानों का योगदान रहा हैं, लेकिन इस विचारधारा के अन्तर्गत शास्त्रीय सिद्धान्तों को विकसित करने का प्रमुख श्रेय लूथर गुलिक एवं उर्विक को जाता हैं। इस विचारधारा का अत्यन्त व्यापक विश्लेषण लुथर गुलिक तथा एल. उर्विक द्वारा 1937 में सम्पादित Papers on the Science of Administration में किया गया हैं। लूथर गुलिक के योगदान को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता हैं।

प्रमुख पुस्तके एवं शोध पत्र :

1. ''पेपर्स ऑन द सांइस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'' (Paper on The Science of Administration) 1937
2. एडमिनिस्ट्रेटिव रिफलैक्शन्स फॉम वर्ल्ड वॉर टू ''(Administrative Reflections from world war-II)
3. मैट्रोपॉलिटिन प्रॉब्लम्स एण्ड अमेरिकन आईडियाज (Metropolitan Problems and American Ideas)
4. ''मॉर्डन मैनेजमेन्ट फॉर सिटी ऑफ न्यूयार्क ''(Modern Management for the City of New York)

संगठन के सिद्धान्त :

(Principles of Organisation) :

लूथर गुलिक एक परम्परावादी विचारक है। उन्होंने संगठन की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर ज्यादा जोर दिया। गुलिक ने संगठन को इस प्रकार परिभाषित किया ''संगठन सत्ता का औपचारिक ढ़ाँचा है। जिसके द्वारा किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यों को विभाजित और निर्धारित किया जाता है तथा उनका समन्वय किया जाता है।'' अर्थात् संगठन मूलतः एक औपचारिक संरचना अथवा योजना है तथा कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तों की सहायता से विशेषज्ञ इस योजना का निर्माण ठीक उसी प्रकार कर सकते है। जिस प्रकार कोई वास्तुकार वास्तुकला के सिद्धान्तों कि सहायता से किसी भवन कि योजना बनाता हैं। लूथर गुलिक हेनरी फेयोल द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्तों से काफी प्रभावित थे। गुलिक ने संगठन के निम्न दस सिद्धान्तों का प्रतिपादित है।

1. कार्य विभाजन या विशिष्टीकरण (Division of work on Specialisation)
2. विभागीय संगठनों के आधार (Basic of Departmental Organisations)
3. पदसोपान द्वारा समन्वय (Coordination through Hierarchy)
4. सचेत समन्वय (Deliberate Coordination)
5. समितियों द्वारा समन्वय (Coordination through Committees)
6. विकेन्द्रीकरण (Decentralisation)
7. आदेश की एकता (Unity of Command)
8. स्टाफ एवं सूत्र (Staff and Line)
9. प्रत्यायोजन (Delegation)
10. नियन्त्रण का क्षेत्र (Span of Control)

1. कार्य विभाजन या विशिष्टीकरण (Division of work on Specialisation) :

गुलिक ने संगठन के दस सिद्धान्तों मे से कार्य विभाजन या विशिष्टीकरण के सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्व देते हुये कहा कि–''कार्य विभाजन संगठन की बुनियाद ही नहीं, बल्कि वह संगठन की वजह भी है। कार्य विभाजन और एकीकरण ही वे माध्यम है जिससे मनुष्य जाति सभ्यता की प्रक्रिया में खुद को उन्नत पाता है।'' गुलिक के अनुसार कार्य को छोटी–छोटी इकाईयों में बाँटते हुये प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य सौंपा जाना चाहिए जिसको करने के लिए वह योग्य हो। जब एक जैसा कार्य करते रहने से कर्मचारी उस कार्य में विशेष दक्षता हासिल कर लेता है तब इसे विशिष्टीकरण कहते है इससे संगठन में कार्यकुशलता में वृद्धि के साथ न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है उदाहरणार्थः– आपके विद्यालय में कार्य विभाजन का उदाहरण है जैसे– लोक प्रशासन का शिक्षक, लोक प्रशासन पढ़ाने का कार्य करता है और अर्थशास्त्र का शिक्षक, अर्थशास्त्र पढ़ानें का कार्य करता है।

2. विभागीय संगठनों के आधार (Basic of Departmental Orginisations) :

संगठन या विभागों के कार्य में कुशलता बनी रहे इसके लिए आवश्यक है कि उसे सुविधानुसार इकाईयों एवं उप इकाईयों में विभजित किया जाए। विभागीय संगठनों के आधार सिद्धान्त में लूथर गूलिक ने कार्य विभाजन के सिद्धान्त को ही व्यावहारिकता प्रदान की है। उसनें संगठन में विशेषज्ञता को सुनिश्चित करते हुए विभागों के गठन का विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विभागों का गठन चार आधार पर होना चाहिए :

1. उद्देश्य (Purpose) 2 प्रक्रिया (Process)
3. व्यक्ति (Person) 4. स्थान या क्षेत्र (Place) ।

लूथर गुलिक के इस विभागीय संगठनों के आधारों को Four "P" के नाम से भी जाना जाता है संक्षेप में इनका विवरण निम्नानुसार है।

1. उद्देश्य (Purpose) : जब किसी संगठन का निर्माण, किए जाने वाले कार्यो के आधार पर होता है तब उसे उद्देश्य या कार्य पर आधारित कहा जाता है जैसे भारत में केन्द्र सरकार में स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, श्रम तथा रोजगार, जीवन बीमा निगम इत्यादि विभाग इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

2 प्रक्रिया (Process) : एक विशिष्ट प्रकार की तकनीकी अथवा प्राथमिक कौशल है दूसरे शब्दों में इससे तात्पर्य उस योग्यता अथवा ज्ञान से है जिसमें विशिष्टिकरण की प्रकृति होती है जैसे विधि मंत्रालय, निर्माण कार्य तथा आवास इत्यादि विभाग इस सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्थित है।

3. व्यक्ति / ग्राहक (Person) : ग्राहको से अर्थ है वे व्यक्ति जिनकी सेवा की जानी हैं। अर्थात् विभागों का संगठन किसी वर्ग विशेष, व्यक्ति विशेष अथवा समुदाय विशेष के सामान्य हितों को ध्यान में रखकर किया जाता हैं। इस आधार पर संगठित विभागों का संबंध उस वर्ग विशेष के हितों एंव आवश्यकता तक सीमित रहता हैं। इस आधार पर संगठित विभागों का उदाहरण हैं– पुनर्वास विभाग, बच्चों से सम्बन्धित विभाग, अनुसुचित जाति/जनजाति, अल्पसंख्यक वर्ग से सम्बन्धित विभाग, वृद्धजनों से सम्बन्धित विभाग, रोजगार से सम्बन्धित विभाग इत्यादि।

4. स्थान या क्षेत्र (Place) :

विभागों का संगठन क्षेत्र के आधार पर भी किया जाता हैं ताकि उस स्थान संबंधी योजना की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो और शीघ्र ही कार्य पूरा हो जाये। जैसे : विदेश मन्त्रालय के क्षेत्रीय प्रभाग, रेल्वे के क्षेत्रीय मण्डल, इन्दिरा गांधी नहर परियोजना, दामोदर घाटी निगम आदि इसी आधार पर बने संगठन है।

3.पदसोपान द्वारा समन्वय (Coordination through Hierarchy) :

पदसोपान संगठन का एक महत्वपूर्ण सिद्वान्त है जिसमें पदों कि एक श्रृंखला होती हैं और प्रत्येक पद के कार्य एवं उत्तरदायित्व निर्धारित होते हैं। इस श्रृंखला के बीच स्थापित कई स्तरों अर्थात उच्च–अधीनस्थ कर्मचारियों के बीच उचित संबंधों के कारण, संगठन में समन्वय स्थापित करने में सहायता मिलती हैं।

4.सचेत समन्वय (Deliberate Coordination) :

गुलिक ने संगठन में जान –बूझकर, सचेत प्रकिया द्वारा उचित तालमेल का वातावरण विकसित करने पर जोर दिया हैं। तालमेल कि ऐसी व्यवस्था जिसमें संगठन के सभी हिस्से आपस में टकराए बिना और कार्य की पुनरावृत्ति किए बिना निर्धारित लक्ष्यों की और टीम भावना के साथ आगे बढ़ें। गुलिक के अनुसार किसी भी संगठन के प्रभावपूर्ण, लाभपूर्ण एवं सतत् कार्य संचालन के लिए उसके उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए संगठन के साधनों एवं प्रयासों में सोच–समझ उचित तालमेल स्थापित किया जाना चाहिए।

5.समितियों द्वारा समन्वय (Coordination through Committees) :

गुलिक के अनुसार संगठन में समितियाँ का गठन कर, इनके माध्यम से औपचारिक व प्रभावी समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

6. विकेन्द्रीकरण (Decentralisation):

विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि प्रशासनिक सत्ता का एक स्थान पर केन्द्रित न होना और संगठन के विभिन्न स्तरों में निहित होना। गुलिक ने विकेन्द्रीकरण को संगठन का एक प्रमुख सिद्धान्त मानते हुये कहा कि इसके माध्यम से संगठन में कार्य विभाजन और विशिष्टीकरण को सुनिश्चित करने में कामयाबी प्राप्त होगी। गुलिक ने संगठन में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था पर जोर दिया हैं। उनके अनुसार कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों द्वारा उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने पर कार्य में शीघ्रता तथा उपयुक्त निर्णय की ज्यादा सम्भावना बनी रहती हैं।

7. आदेश की एकता (Unity of Command)

आदेश की एकता सिद्वान्त से तात्पर्य है कि संगठन में एक कर्मचारी अपने से केवल एक उच्च अधिकारी से आदेश प्राप्त करे तथा उसी के प्रति उत्तरदायी रहे। यह सिद्वान्त एक व्यक्ति–एक स्वामी (One Man-One Boss) के विचार पर जोर देता है। यदि एक से अधिक अधिकारीयों से आदेश प्राप्त होते हैं तो अधीनस्थ को आदेश मानने व दायित्व सम्भालने में देरी लगेगी। इसके साथ ही आदेशों में व्यर्थ का संघर्ष होगा और कार्य भी जिम्मेदारी के साथ पूरा नहीं किया जा सकेंगा।

8, स्टाफ एंव सूत्र (staff and line) : स्टाप तथा लाइन /सूत्र दोनों शब्दों को सैनिक संगठन कि शब्दावली से लिया गया हैं। किसी भी सैनिक संगठन में सर्वोच्च पद पर सेनापति और उसके अधीनस्थ पदों पर कर्नल, मेजर , कैप्टन आदि अधिकारी होते हैं। इन सभी को लाइन अधिकारी कहा जाता हैं। जिनका प्रमुख कार्य युद्ध क्षेत्र में सेना को नेतृत्व प्रदान करना, निर्णय लेना, नीति बनाना, आदेश देना होता हैं। सैनिक प्रशासन में लाइन अधिकारियों के अलावा अन्य अधिकारी और कर्मचारी भी होते हैं जिनका प्रमुख कार्य लाइन अधिकारियों को सहायता देना, परामर्श देना तथा सेवाओं का प्रबन्ध करना होता हैं, जिन्हें स्टाफ कहते हैं। गुलिक ने संगठन के लिए इन दोनों इकाईयों को महत्वपूर्ण माना हैं। वास्तव में संगठन की सफलता, सार्थकता एवं कार्यकुशलता बहुत हद तक दोनों के सुचारु संचालन पर निर्भर करती हैं। अतः दोनों का संबंध परस्पर सहयोग एवं सामंजस्य का होना चाहिए।

9.प्रत्यायोजन (Delegation) : प्रशासकीय संगठन में प्रत्यायोजन का महत्वपूर्ण स्थान हैं। सामान्य अर्थ में प्रत्यायोजन, कार्यभार को कम करने के लिए अन्य व्यक्तियों को अपने कार्य का कुछ भाग आवश्यक अधिकारों सहित सौंपना प्रत्यायोजन कहलाता हैं। अधिकारी अपने अधीनस्थ को कुछ अधिकार सौंप देता हैं और निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार अपने पास रखता हैं। गुलिक का मानना था कि अगर अधिकारियों द्वारा ऐसा नहीं किया गया तो अधीनस्थ अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह भली प्रकार से नही कर पाएँगें और संगठन अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो पायेगा।

10. नियन्त्रण का क्षेत्र (Span of Control) :
नियन्त्रण के क्षेत्र का अर्थ उन अधीनस्थ कर्मचारियों से हैं जिन पर एक अधिकारी कारगर ढंग से नियन्त्रण रख सकता है अर्थात् यह वह आदर्श संख्या,जिस पर एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यो का क्षमतापूर्वक नियन्त्रण कर सकता हैं। यह सिद्धान्त बतलाता हैं कि एक अधिकारी, एक समय पर, एक साथ, एक निश्चित संख्या से अधिक अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता है। गुलिक ने यह निश्चित संख्या स्पष्ट रुप से तय नहीं की हैं। लूथर गुलिक ने नियन्त्रण के क्षेत्र को प्रभावित करने वाले निम्न तत्त्व बतलाये हैं : कार्य, व्यक्तित्व, समय एवं स्थान।

लोक प्रशासन का क्षेत्र (The scope of Public Administration)

लूथर गुलिक का मत है कि ''प्रशासन का संबंध कार्य पूरा किये जानें और निर्धारित उद्देश्यों की परिपूर्ति से है।'' लोक प्रशासन की परिभाषा देते हुए लूथर गुलिक ने कहा है कि– ''लोक प्रशासन विज्ञान का वह भाग है जो सरकार से संबंघित है और इसलिए उसका संबंघ कार्यपालिका से है जहाँ कि सरकार का काम मुख्य रूप से होता है यद्यपि उसको स्पष्ट रुप से उन प्रशासकीय समस्याओं पर भी ध्यान देना होता है जो व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका को क्षेत्र में आते है।'' लोक प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में लूथर गुलिक ने जिस मत को प्रतिपादित किया है उसे पोस्डकार्ब (POSDCORB) कहा जाता है।

पोस्डकॉर्ब विचार के माध्यम से लूथर गुलिक ने लोक प्रशासन के कार्य क्षेत्र को सरकार की कार्यपालिका के कार्यो के संदर्भ में गिनाया हैं। पोस्डकॉर्ब एक प्रबन्धक द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रथम सात अक्षरों से मिलकर बना शब्द है, जिसका प्रत्येक अक्षर एक विशिष्ट कार्य को दर्शाता हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार हैं :–

1.नियोजन (P-Planning) : संगठन में कार्य करने से पूर्व कार्य की तैयारी करना नियोजन कहलाता हैं। प्रत्येक प्रशासकीय कार्य को सम्पन्न करने के पहले उसकी एक योजना बना ली जाती हैं। यह तय कर लिया जाता है कि कार्य को पूरा करने के लिए किन तरीकों को अपनाया जाएगा। भारत के विकास के लिए अपनाई गई पंचवर्षीय योजनाएँ इसके उदाहरण हैं।

2.संगठन बनाना (O-Organizing) : योजनाएँ बनानें के बाद संगठन का निमार्ण किया जाता है। संगठन से तात्पर्य उस दाँचे से है जो मानवीय तथा भौतिक साधनों के द्वारा एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्थापित किया जाता है। काम का विभाजन करना तथा विभाग को उपविभागों में बांटना भी संगठन की क्रिया का अंग हैं।

3.कार्मिकों की व्यवस्था करना (S-Staffing) :
संगठन की कार्य कुशलता एंव प्रभावशीलता उसमें कार्यरत कार्मिकों पर ही निर्भर करती है। अतः संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कर्मचारियों की उचित व्यवस्था आवश्यक है। कार्मिकों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति एंव कार्य करने की अनुकुल दशाओं का निर्माण आदि इसके अन्तर्गत शामिल है।

4. निर्देश देना (D-Directing) :
प्रशासन के उच्च स्तर पर पदस्थापित पदाधिकारी अपनें अधीनस्थों को समय–समय पर आवश्यकता दिशा–निर्देश जारी कर उनका मार्गदर्षन करतें है। निर्देशन प्रायः उच्च सत्ता द्वारा किया जाता है तथा अधीनस्य कर्मचारी समय समय पर उन निर्देशों की पालना का अनुसरण कर कार्यों को सम्पन्न करतें है।

5. समन्वय करना (Co-Coordination)
समन्वय का तात्पर्य किसी संगठन में लक्ष्यों की पूर्ति हेतु किये जाने वाले समूह–प्रयासों में उचित तालमेल बनाये रखना है। जिससे कुशलतापूवर्क कार्य होता रहे। समन्वय के माध्यम से कार्यों में टकराव, दोहराव एंव पुनरावृत्ति को रोकने का प्रयास किया किया जाता है। सभी शास्त्रीय विचारकों ने समन्वय को महत्वपूर्ण गतिविधि के रुप में देखा है।

6. प्रतिवेदन देना (R-Reporting):
संगठन की प्रशासकीय प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग रिपोर्ट देना भी हैं। इसका अर्थ प्रशासकीय कार्यों की प्रगति के संबंध में उन लोगों को सूचनाएँ प्रदान करना हैं, जिनके प्रति कार्यपालिका उत्तरदायी हैं। प्रतिवेदन में मुख्यतः प्रशासनिक गतिविधियों, उपलब्धियों, कमियों एवं प्रशासन के सम्मुख समस्याओं का उल्लेख किया जाता हैं।

7.बजट बनाना (B-Budgeting) :
वित्त को प्रशासन का जीवन रक्त कहा जाता हैं। इसके अन्तर्गत वित्तीय योजनाएँ तैयार करना, लेखा–जोखा तथा प्रशासकीय विभागों को वित्तीय साधनों के द्वारा अपने नियन्त्रण में रखना आदि बातें सम्मिलित हैं।
पोस्डकॉर्ब विचारधारा के समर्थकों की मान्यता हैं कि योजना बनाना, संगठन, कार्मिक प्रबन्ध, समन्वय स्थापित करना , बजट निर्माण एवं प्रतिवेदन आदि मौलिक बातें है जो प्रशासन एवं प्रबंध के समस्त क्षेत्रों पर समान रूप से लागू होती है । पोस्डकॉर्ब दृष्टिकोण की कई विद्वानों ने आलोचना की है । लेविस मेरियम के अनुसार, ''यह सिद्धांत अत्यन्त स्वेच्छाचारी, काल्पनिक एवं संकुचित हैं जिसमें प्रशासन के वास्तविक तत्वों को कोई स्थान नहीं दिया गया हैं तथा यह केवल प्रबन्ध की तकनीक पर बल देता है इसमें विषय वस्तु की पूर्णतः उपेक्षा की गई है।

मुख्यालय–क्षेत्रीय कार्यालय सम्बन्ध (Relation between Headquarter and Regional Units) :

प्रधान कार्यालय या मुख्यालय (Head Quarter) से तात्पर्य ऐसे अधीक्षक कार्यालय से है , जो पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण का कार्य करता हैं तथा प्रायः राजधानी में स्थित होता है। मुख्यालय संगठन के अन्तर्गत मन्त्रालय एवं विभाग आते हैं। क्षेत्रीय कार्यालय से आशय ऐसे कार्यालय से हैं जिसे प्रशासनिक कार्य करने से पूर्व मुख्यालय अथवा प्रधान कार्यालय से अनुमति लेनी पड़ती हैं तथा वह उसके (मुख्यालय के) नियंत्रण एवं निर्देश में रहते हैं।

नियन्त्रण एवं निर्देशन की दृष्टिकोण से लूथर गुलिक ने क्षेत्रीय कार्यालय को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा हैं

1. सभी अंगुलियाँ (All Fingers)
2. छोटी भुजाएँ तथा लम्बी अंगुलियाँ (Short Arms, Long Fingers)
3. लंबी भुजाएँ तथा छोटी अंगुलियाँ (Long Arms, Short Fingers)

1.सभी अंगुलियाँ (All Fingers) : इस संगठन का अर्थ यह हैं कि इसमें बहुत सी अंगुलियाँ हैं जो कि मुख्य कार्यालय से सीधे क्षेत्र तक जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह हैं कि केन्द्रिय मुख्य कार्यालय समस्त क्षेत्रीय इकाइयों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करता हैं। उसके बीच किसी प्रकार के भौगोलिक या प्रादेशिक उप विभाग नहीं होता हैं। उपर्युक्त विश्लेषण को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता हैं।

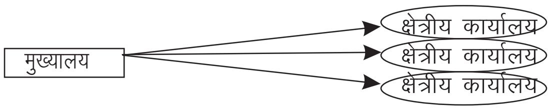

2.छोटी भुजाएं तथा लम्बी अंगुलियाँ (short Arms,long fingers) :

इस प्रणाली में भौगोलिक या प्रादेशिक उप विभाग होते हैं किन्तु, वे मुख्य कार्यालय में ही स्थित होते हैं। इसको निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता हैं :– जैसे : भारत के विदेश मन्त्रालय में पश्चिम एशिया संभाग, यूरोपीय संभाग इत्यादि। ये संभाग विदेश मन्त्रालय के नई दिल्ली स्थित मुख्यालय में ही हैं।

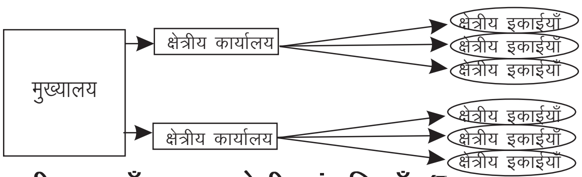

3.लम्बी भुजाएँ तथा छोटी अंगुलियाँ (Long Arms, Short Fingers) :

इस प्रकार के संगठन में भौगोलिक उपविभाग या क्षेत्रीय अभिकरण मुख्य कार्यालय से बाहर दूर क्षेत्र में स्थित होते हैं। क्षेत्रीय कार्यालय का इस प्रकार विकेन्द्रीकरण कर दिया जाता हैं। जैसे– भारत में जिला प्रशासन जिसका मुखिया जिलाधीश होता हैं। इसको निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता हैं:

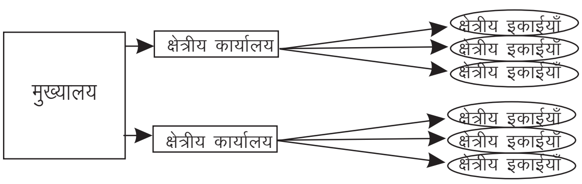

इस प्रकार लूथर गुलिक के अनुसार क्षेत्रीय संस्थानों पर मुख्यालय का नियन्त्रण उपरोक्त दर्शाये गये तीनों प्रकारों से सम्भव हैं।

उर्विक का योगदान (Contribution of Urwick) :

लिंडल एफ. उर्विक का योगदान को निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता हैं।

उर्विक की प्रमुख पुस्तके :

1. Scientific Principles of Organization (1938)
2. The Elements of Administration (1944)
3. The Theory of Organization (1952)

प्रबन्ध के सिद्धान्त (Principles of Management) :

शास्त्रीय विचारकों का सर्वाधिक योगदान संगठन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हैं। उर्विक का भी संगठन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं। उर्विक के मतानुसार, ''संगठन वह हैं जिसमें किसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक क्रियाओं का निर्माण किया जाता हैं तथा व्यक्तियों को सौंपे गए कार्यों को वर्गों से सुव्यवस्थित किया जाता हैं।'' इस प्रकार उर्विक के अनुसार किसी वस्तु को व्यवस्थित रुप प्रदान करने को संगठन कहा जाता हैं। लूथर गुलिक ने जहाँ संगठन ने दस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया हैं, वहीं उर्विक ने भी संगठन के आठ सिद्धान्त बताए हैं, जो इस प्रकार हैं :

1.उद्देश्य का सिद्धान्त (Principle of Objectives) :

उर्विक ने अपने इस सिद्धान्त में बताया गया हैं कि प्रत्येक संगठन और इसकी इकाईयों के उद्देश्यों में स्पष्टता होनी चाहिए। इसके अभाव में संगठन कार्य नही कर सकता।

2. समानता का अधिकार (Principle of Correspondence) :

सत्ता और उत्तरदायित्वों में समानता होनी चाहिए। किसी निर्धारित कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए उत्तरदायी अधिकारी या कर्मचारी को उस कार्य के अनुरुप पर्याप्त अधिकार भी मिलने चाहिए। सत्ता एवं उत्तरदायित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, वे एक–दूसरे के पूरक हैं। वस्तुतः सत्ता किसी उत्तरदायित्व को पूरा करने का ही माध्यम हैं। उर्विक ने कहा कि किसी समूह या व्यक्ति को उत्तरदायित्व के निर्वाह हेतु आवश्यक अधिकार दिए बिना उन्हें किसी गतिविधि के लिए जिम्मेदार ठहराना स्पष्ट रुप से अनुचित और असन्तोषजनक है। संगठन के सुचारु संचालन के लिए यह जरुरी हैं कि सभी स्तरों पर अधिकार और उत्तरदायित्व एक साथ उत्पन्न हो और एक समान हो।

3. उत्तरदायित्व का सिद्धान्त (Principle of Responsibility) :

उत्तरदायित्व निर्धारित कर्तव्यों का पालन करने की जिम्मेदारी हैं। अधीनस्थों से कार्य लेने का उत्तरदायित्व उच्चाधिकारी का होना चाहिए। संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उच्चाधिकारियों का यह उत्तरदायित्व स्पष्ट व निश्चित होना आवश्यक हैं।

4.स्केलर शृंखला

(Principle of Hierarchy/Scalar Chain) : संगठन में एक पिरामिडीय प्रकार का ढाँचा बनाया जाना चाहिए, जिसमें उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों पर नियन्त्रण रख सकें। पदसोपान का सिद्धान्त संगठन मे एकीकरण की स्थापना में सहायक होता हैं।

5.नियन्त्रण का क्षेत्र (Principle of span of Control) यह अधीनस्थों की वह आदर्श संख्या है जिस पर एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य का क्षमतापूर्वक नियन्त्रण कर सकता हैं। एक अधिकारी के नियत्रंण में कार्य करने वाले कर्मचारी कि संख्या सीमित होनी चाहिए, ताकि वह अधिक कुशलता से उनका पर्यवेक्षण कर सके। उर्विक के अनुसार एक व्यक्ति 5 या 6 कर्मचारियों से अधिक का नियन्त्रण नहीं कर सकता हैं।

6.विशिष्टीकरण का सिद्धान्त

(Principle of Specialization) : विशिष्टीकरण के सिद्धान्त का सम्बन्ध कार्य विभाजन से हैं। उर्विक के अनुसार संगठन में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि व योग्यता के अनुसार, विशेष कार्यों को ही करने देना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने कार्यो में दक्ष हो जायेंगें तथा कार्य की समस्त जटिलताओं को सरलता से समझ सकेंगे।

7.समन्वय का सिद्धान्त

(Principle of Coordination) : समन्वय का आशय संगठन के विभिन्न अंगों, भागों, इकाईयों के कार्यो व गतिविधियों में तारतम्य या सामंजस्य की स्थापना करना हैं। समन्वय द्वारा जहां कार्यों में दोहराव व टकराव को समाप्त किया जा सकता है वहीं यह सहयोगी भावना की स्थापना में भी सहायक होता हैं।

8.परिभाषा का सिद्धान्त (Principle of Definition) : संगठन में प्रत्येक पद के कार्य का स्पष्ट विवरण होना चाहिए। प्रत्येक कार्य, अधिकारों व सम्बन्धों की स्पष्ट परिभाषा होने से किसी भी प्रकार की अनिश्चितता नहीं रहेगी और प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को स्पष्ट रुप से समझ सकेगा।

इस प्रकार उर्विक संगठन के आठ सिद्धान्तों के महत्व का प्रतिपादन करते हैं। बाद में उर्विक के चिन्तन पर हेनरी फेयोल का काफी प्रभाव पड़ा। उन्होंने फेयोल, मुने एवं रैले, टेलर, मैरी पार्कर फॉलेट तथा ग्रेक्यूनास के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर अपनी पुस्तक The Elements of Administration, (1943) में उनत्तीस (29) सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो इस प्रकार है :

1. अन्वेषण (Investigation), 2. पूर्वानुमान (Forecasting) , 3. नियोजन (Planning), 4. उपयुक्ता (Appropriatness) 5. संगठन (Organisation), 6. समन्वय (Coordination) 7.व्यवस्था (Order), 8. आदेश (Command), 9.नियन्त्रण (Control) 10. समन्वयात्मक सिद्धान्त (Coordinative Principle) 11. सत्ता (Authority) 12. स्केलर प्रक्रिया (Scalar Process) 13. कार्यों को देना (Assignment of Functions) 14. नेतृत्व (Leadership) 15. प्रत्यायोजन (Delegation) 16. कार्यात्मक परिभाषा (Functional Definition) 17. निर्धारक (Determinative) 18. अनुप्रयात्मक (Applicative) 19. व्याख्यात्मक (Interprative) 20. सामान्यहित (General Interest) 21. केन्द्रीयकरण (Centralization) 22. कार्मिको की व्यवस्था (Staffing) 23. भावना (Spirit) 24. चयन तथा पदस्थापन (Selection and Placement) 25. पुरस्कार एवं दण्ड (Rewards and Punishment) 26. पहल (Initative) 27. समानता (Equility) 28. अनुशासन (Discipline) 29. स्थायित्व (Stability)।

उर्विक ने लिखा है कि, ''ये सिन्द्वात सभी मानवीय संगठनो की प्रबन्ध व्यस्था को संचालित करते है। संगठन के उद्देश्य कर्मचारी अथवा उपक्रम की संवैधानिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक विचारधारा पर विचार किये बिना इन सिद्वातों का अध्ययन एक तकनीकी प्रश्न के रूप में किया जा सकता हैं।''

जेड सिद्धान्त (Theory Z)

उर्विक का यह अभिप्रेरणा का सिद्धान्त मैकग्रेगर के आर्थिक उद्देश्य के विचार को ध्यान में रखते हुऐ प्रतिपादित किया गया है। उर्विक के अनुसार प्रबंध अपने आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानवीय एवं भौतिक संसाधनो का उपयोग करता है । किसी भी संगठन में प्रबंध का प्राथमिक उद्देश्य यह है कि उपभोक्ताओं को उनके द्वारा चाही गई वस्तु या सेवा उस कीमत पर दें, जिस कीमत को उपभोक्ता स्वेच्छा से दे सकता है। लेकिन आज व्यक्ति एक उपभोक्ता के रूप में, उत्पादक एवं वितरणकर्ता मनुष्य से दूर हो गया है इसका मुख्य कारण उपभोक्ता तथा उत्पादक एवं वितरक के मध्य अपूर्ण या अस्पष्ट संचार का होना है । यदि उपभोक्ता, उत्पादक एवं वितरक के मध्य व्याप्त खाई को पाट दिया जाए तो व्यक्ति अभिप्रेरित होगें तथा वे पूर्ण मनोयोग से कार्य करेगें ।

आलोचना (Criticism) :

लूथर गुलिक एवं उर्विक के संगठन के सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना हुई हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को परीक्षण योग्य सार्वभौमिक सत्य कहा, लेकिन आलोचकों के अनुसार, सिद्धान्तों के बारे में बहुत सारा लिखने पर भी दोनों स्पष्ट नहीं कर पाये कि वे इनके माध्यम से क्या कहना चाहते हैं। इस कारण सिद्धान्तों की सार्वभौमिक वैधता, अनुपस्थित सी लगती हैं। आलोचकों ने कहा है कि यह विचार धारा ''दुहरावों और सूक्ष्मता के अभाव'' से भरपुर हैं। हरबर्ट साइमन व ड्वाइट वाल्डों ने कहा कि शास्त्रीय विचारधारा द्वारा प्रयोग की गई पद्धतियाँ अवैज्ञानिक हैं। उनका कोई प्रयोगात्मक आधार नहीं है। साइमन जैसे विचारक लोक प्रशासन के सिद्धांतो को ''कहावते'' कहकर उनकी खिल्ली उड़ाते है ।

महत्व (Importance) :

लोक प्रशासन के प्रमुख शास्त्रीय विचारकों के रूप लूथर गुलिक और उर्विक को सदैव याद किया जाएगा। 1937 में दोनों ने मिलकर ''पेपर्स ऑन दी साइंस ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'' का सम्पादन किया जो कि लोकप्रशासन के विकास के मार्ग में एक मील का पत्थर साबित हुई। गुलिक एवं उर्विक औपचारिक संगठन विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। गुलिक ने संगठन में दस सिद्धान्त एवं पोस्डकॉर्ब शब्द का प्रतिपादन किया जबकि उर्विक ने प्रारम्भ में संगठन के आठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया परन्तु बाद में यह संख्या बढ़ाकर उनत्तीस कर दी।

शास्त्रीय विचारधारा ने प्रशासन को एक विज्ञान के रुप में विकसित किया। इस विचारधारा ने ही सर्वप्रथम प्रशासन को एक स्वतन्त्र क्रिया के रुप मे स्थापित किया है। औधोगिक संगठनों में उत्पादन को तर्कसंगत बनाने और प्रोत्साहित करने में इस विचारधारा ने व्यावहारिक सुझाव प्रदान किए।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. संगठन की शास्त्रीय विचारधारा सबसे पुरानी विचारधारा है,इसे प्रायः परम्परावादी, यान्त्रिक, औपचारिक संगठनात्मक, संरचनात्मक, कुशलता, बन्द प्रणाली एवं प्रशासनिक प्रबन्धन विचारधारा भी कहा जाता हैं।
2. इस विचारधारा के अन्तर्गत प्रमुख रुप से लूथर गुलिक, उर्विक, मूने व रेले, मैरी पार्कर फॉलेट एवं आर. शैल्डन आदि विचारकों के योगदान का अध्ययन किया जाता हैं।
3. शास्त्रीय विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं–औपचारिक ढाँचा, कार्य विभाजन, पदसोपान, निर्वैयक्तिकता, कार्यकुशलता, मितव्ययतावादी, कार्मिकों पर नियन्त्रण, सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता, आर्थिक प्रोत्साहन, एवं आदर्शात्मकतावादी आदि।
4. लूथर गुलिक ने संगठन के दस सिद्धान्त बताये है : कार्य विभाजन या विशिष्टीकरण, विभागीय संगठनों के आधार, पदसोपान द्वारा समन्वय, सचेत समन्वय, समितियों द्वारा समन्वय, विकेन्द्रीकरण, आदेश की एकता, स्टाफ एवं सूत्र, प्रत्यायोजन एवं नियन्त्रण का क्षेत्र।
5. लूथर गुलिक ने पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) शब्द के माध्यम से लोकप्रशासन के क्षेत्र तथा कार्यपालिका के कार्यों कि व्याख्या की है।
6. लुथर गुलिक ने विभागीयकरण के चार आधार बताएँ है जिन्हें Four "P" भी कहा जाता है। उद्देश्य या कार्य (Purpose), प्रक्रिया (Process), व्यक्ति (Person) एवं स्थान या क्षेत्र (Place)
7. लूथर गुलिक ने मुख्यालय–क्षेत्रीय कार्यालय के बीच सम्बन्धों के बीच तीन प्रतिमानों का उल्लेख किया । सभी अंगुलियाँ, छोटी भुजाएँ–लम्बी अंगुलियाँ एवं लम्बी भुजाएँ–छोटी अंगुलियाँ ।
8. उर्विक ने संगठन के आठ सिद्धान्त बताए हैं : उद्देश्य का सिद्धान्त, समानता का सिद्धान्त, उत्तरदायित्व का सिद्धान्त, स्केलर शृंखला, नियन्त्रण का क्षेत्र, विशिष्टीकरण, समन्वय एवं परिभाषा का सिद्धान्त। बाद में उर्विक ने हेनरी फेयोल के 14 सिद्धान्तों, मूने व रैले के चार सिद्धान्तो, टेलर, फॉलेट,एवं ग्रेक्युनास इत्यादि के सिद्धान्तों को मिलाकर संगठन के उन्तीस सिद्धान्तों (29) को प्रतिपादन अपनी पुस्तक "Elements of Administration" (1943) में किया ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. संगठन की परम्परागत या शास्त्रीय विचारधारा में सर्वाधिक उपेक्षित बिन्दु था।
   (अ) कानून (ब) संरचना
   (स) मानव (द) संगठन
2. लोक प्रशासन में ''पोस्डकॉर्ब'' (POSDCORB) शब्द के प्रतिपादक हैं।
   (अ) उर्विक (ब) फेयोल
   (स) लूथर गुलिक (द) टेलर
3. ''पेपर्स ऑन द साइन्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन'' का सम्पादन किसने किया।
   (अ) साइमन (ब) गुलिक
   (स) उर्विक (द) गुलिक व उर्विक
4. लूथर गुलिक ने संगठन के कितने सिद्धान्त बताये हैं।
   (अ) 14 सिद्धान्त (ब) 7 सिद्धान्त
   (स) 10 सिद्धान्त (द) 6 सिद्धान्त
5. उर्विक ने नियन्त्रण के क्षेत्र की क्या सीमा बतलायी हैं ?
   (अ) तीन अधीनस्थ (ब) चार अधीनस्थ
   (स) पाँच या छः अधीनस्थ (द) दस या बारह अधीनस्थ।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. संगठन की शास्त्रीय विचारधारा को अन्य और किन नामों से जाना जाता हैं ?
2. लूथर गुलिक ने संगठन के कितने सिद्धान्त बताए हैं?
3. उर्विक ने संगठन के कितने सिद्धान्त बताए हैं ?
4. चार पी (Four 'P') क्या हैं ?
5. शास्त्रीय विचारधारा के प्रमुख आलोचकों के नाम बताइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. शास्त्रीय विचारधारा की छः विशेषताएँ बताइए ?
2. शास्त्रीय विचारधारा की प्रमुख कमियों मान्यताओं को बताइये ?
3. उर्विक के संगठन के आठ सिद्धान्तों के नाम बताइये?
4. लोक प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में गुलिक के विचार बताइये।

5. गुलिक के अनुसार मुख्यालय और क्षेत्रीय कार्यालयों के बीच सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्नः

1. संगठन की शास्त्रीय विचारधारा क्या हैं ? इसके लक्षण और मान्यताएँ बतलाइये।
2. गुलिक के संगठन के सिद्धान्तों पर लेख लिखिए।
3. शास्त्रीय विचारधारा में उर्विक के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
4. ''संगठन के शास्त्रीय सिद्धान्त सार्वभौमिक सत्य हैं।'' इस कथन कि आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

उत्तरमाला :

1. (स) 2. (स) 3. (द)
4. (स) 5. (स)

अध्याय–4
अधिकारी तंत्र प्रतिमान
(Bureaucratic Model)

कोई भी प्रशासकीय संगठन कितना भी अच्छा क्यों न हो, अंततोगत्वा इसकी सफलता या असफलता उन लोगों की समझ, कार्य कुशलता तथा प्रशासकीय कौशल पर निर्भर हैं, जो प्रशासकीय कार्यों को सम्पन्न करते हैं। अधिकारी तंत्र प्रतिमान और नौकरशाही विचारधारा एक–दूसरे के पर्याय हैं। नौकरशाही आधुनिक विशालकाय प्रशासन का एक अनिवार्य भाग है। नौकरशाही लोक प्रशासकों राजनीतिक विचारकों तथा विभिन्न समाजशास्त्रियों की शोध का विषय रहा हैं, इसलिए नौकरशाही शब्द की कोई पारिभाषिक अवधारणा स्पष्ट नही हैं। कुछ लोग उसे कुशलता का पर्याय मानते हैं तो कुछ अकुशलता का, कुछ लोग उसे लोक सेवा का पर्याय मानते हैं, तो दूसरे उसे अधिकारी का तंत्र। नौकरशाही के बारे में एक विद्वान ने कहा कि यह आधुनिक काल का सबसे ख्याति प्राप्त शब्द हैं, इसलिए यह जरुरी हो जाता हैं, कि हम इस शब्द के उदभव तथा इसके विभिन्न अर्थों के अध्ययन के साथ–साथ आधुनिक समाजशास्त्री मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित व्यवस्थित आदर्श नौकरशाही की अवधारणा का विश्लेषण करें, क्योंकि वेबर ने नौकरशाही की जो विशेषताऐं बतायी हैं वे सभी वर्तमान लोक सेवाओं या अधिकारियों तन्त्र से मिलती जुलती हैं विश्व स्तर पर नौकरशाही शब्द को वर्तमान अधिकारी तंत्र की बुराईयों के साथ एक शंका की दृष्टि से देखा जाता हैं।

नौकरशाही भाब्द का उदभव

''नौकरशाही''शब्द अंग्रेजी के **''ब्यूरोक्रेसी''** (Bureaucracy) शब्द का अनुवाद है जो फ्रांसीसी भाषा के **''ब्यूरो''** शब्द से लिया गया हैं। लैटिन भाषा में **''ब्यूरो''** का अर्थ होता है **एक डेस्क या लिखने की मेज़**। फ्रांसीसी भाषा में ब्यूरो उस कपड़े को कहा जाता हैं, जो लोक सेवकों की मेज़ पर बिछाया जाता था। अठ्ठारहवीं शताब्दी में ब्यूरो शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए होने लगा जहाँ अधिकारीगण काम करने के लिए बैठते थे। **''क्रेसी''** एक प्रत्यय हैं जिसका ग्रीक भाषा में अर्थ है **''शासन''।** इस प्रकार नौकरशाही का अर्थ हुआ ''अधिकारियों का शासन''। इस प्रकार नौकरशाही शब्द में अधिकारियों की सत्ता एंव शक्ति का संकेत मिलता है जो सरकारी विभागों ने अपने लिए प्राप्त कर लिया हैं।

अठ्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में ''नौकरशाही'' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांस के प्रसिद्व अर्थशास्त्री ''विन्सेन्ट डी गॉर्ने' (1945) ने किया था। उन्होंने नौकरशाही की शिकायत करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि फ्रांस में एक नई बीमारी ने जन्म लिया है जो हमारे लिए एक भयानक मुसीबत बन सकती है। इस बीमारी का नाम हैं **''ब्यूरोमेनिया''**।

नौकरशाही की परिभाषाएँ :

नौकरशाही की परिभाषा भिन्न–भिन्न विद्वानों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से दी हैं। ब्यूरोक्रेसी का सामान्य अर्थ ''एक विभागीय उप सम्भाग अथवा विभाग'' से लिया जाता हैं। अर्थात् यह वह सरकार है,जो केवल दफ्तर में बैठकर चलायी जाती हैं। इस शब्द को सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। नकारात्मक रूप में यह शब्द ब्यूरों या विभागों में शक्ति के केन्द्रित होने तथा राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर के विषयों में अधिकारियों के अनुचित हस्तक्षेप को व्यक्त करता है। जबकि सकारात्मक रूप में नौकरशाही के अधिकारी को ऐसे व्यक्ति का प्रतीक माना जाता है जो अनुभव, ज्ञान तथा उत्तदायित्व के लिए विख्यात है।

विभिन्न विद्वानों ने नौकरशाही की परिभाषा इस प्रकार दी है :

जॉन ए. विग के अनुसार – ''विकृति एंव परिहास के कारण ब्युरोक्रेसी शब्द का अर्थ काम में घपला, मनमानी, अतिव्यय, हस्तक्षेप तथा वर्गीकरण माना जाने लगा है।''

पिफनर के अनुसार – **''**नौकरशाही कार्यो और व्यक्तियों का एक ऐसे रूप में व्यवस्थित संगठन है जो अधिकतम प्रभावशाली रूप से सामूहिक प्रयासों के लक्ष्यो को प्राप्त कर सकें।''

रॉबर्ट सीं. स्टोन के अनुसार – ''ब्युरोक्रेसी का अर्थ कार्यालय द्वारा शासन या अधिकारी द्वारा शासन है। ''

हेरॉल्ड लास्की के अनुसार,– ''नौकरशाही का अर्थ सरकार पर अधिकारियों का पूर्ण नियन्त्रण है। इतना पूर्ण है कि इसमें जनसाधारण लोगों की स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ सकती है।''

मैक्स वेबर के अनुसार –**''**यह एक प्रकार का प्रशासकीय संगठन है,जिसमें विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता का अभाव आदि लक्षण पाए जाते है।''

पीटर ब्लाऊ के अनुसार,– **''**नौकरशाही वह संगठन है जो प्रशासन में अधिकतम कुशलता लाती है।''

हरमन फाइनर ने नौकरशाही को ''सरकारी अधिकारियों का शासन'' माना है।

संक्षेप में उपर्युक्त परिभाषाओं के निष्कर्ष के तौर पर नौकरशाही को सकारात्मक एवं नकारत्मक दोनों ही पक्षों के आधार पर समझाया गया है तथा नौकरशाही को प्रशासन का एक अंग के रुप में, सत्ताधारी लोक सेवक, नीति, एक संगठन, आदर्श संकल्पना, तार्किकता एंव एक समाज के रुप में परिभाषित किया गया हैं।

नौकरशाही के उदय के कारण :

नौकरशाही आधुनिकता की देन है। इसके विकास के बहुत से कारण हैं। विद्वानों ने इसके विकास को अनेक तत्वों के योगदान का परिणाम माना हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार नौकरशाही का उदय सोलहवीं शताब्दी के आस पास पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद और राष्ट्र–राज्य के उदय के साथ हुआ। सम्पत्ति और सत्ता जब व्यापारियों, पूँजीपतियों और राजाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई तो धन सम्पदा के प्रबन्ध और सत्ता के संचालन के लिए विशेष तन्त्र की आवश्यकता होने लगी। यह तन्त्र नौकरशाही था। लास्की ने इसे कुलीन तन्त्र की उपज तथा सम्राटों की व्यक्तिगत अधीनस्थ कर्मचारियों कों रखने की इच्छा, लोकतन्त्र का विकास और आधुनिक राज्यों के आकार व दी जाने वाली सेवाओं में वृद्धि का परिणाम माना हैं। ऐजुने कैमनका तथा मार्टिन क्रोजियर के अनुसार नौकरशाही के विकास के कारण है, यूरोप के राज्यों में शक्तिशाली केन्द्रीय सरकारों की स्थापना हो जाना, औधोगिक क्रान्ति, राज्यों के कार्यो में वृद्धि, फ्रांस की क्रान्ति, सरकारी कर्मचारियों को नियमित वेतन की व्यवस्था का लागू हो जान तथा कुछ धारणाओं जैसे सम्प्रभुता राष्ट्र में है, शासक में नही, सरकारी अधिकारी राष्ट्र के नौकर है, शासक के नहीं, आदि का विकास होना। मैक्स वेबर ने भी नौकरशाही के विकास के कारणों पर विचार किया है जो इस प्रकार है :

1.मौद्रिक अर्थव्यवस्था
2. कार्यकुशलता की मांग 3. प्रशासनिक कार्यो का स्वरुप
4. संगठन के आकार में विस्तार की स्थिति
5. बाजार अर्थव्यवस्था 6. प्रशासन के साधनों का केन्द्रीकरण
7.नियमबद्ध प्रशासन 8. नौकरशाही तन्त्र का स्थाई स्वरुप
9. सामाजिक असमानतों का समानीकरण

मैक्स वेबर का कहना है कि नौकरशाही का उदय इसकी विवेकशीलता तथा आधुनिक समाज की जटिल समस्याओं और कार्यों का सामना करने के लिए तकनीकी सर्वश्रेष्ठता वाले सबसे उचित यंत्र सिद्ध होने के कारण हुआ।

नौकरशाही के प्रकार (Types of Bureaucracy) :

नौकरशाही संगठन का स्वरुप, प्रक्रिया, दृष्टिकोण आदि पर सम्बन्धित देश, काल, परस्थितियाँ तथा वातावरण का उल्लेखनीय प्रभाव पडता है। उस देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक और वैज्ञानिक परिस्थितियाँ उसके रुप संधान में सहयोग देती हैं। यही कारण हैं कि विभिन्न देशों में पचलित नौकरशाही व्यवस्थाओं का रुप परस्पर भिन्न होता है।

मार्क्सटीन मार्क्स ने नौकरशाही के चार प्रकार बताए है
1. अभिभावक नौकरशाही 2. जातीय नौकरशाही
3. संरक्षक नौकरशाही
4. योग्यता पर आधारित नौकरशाही।

1. अभिभावक नौकरशाही (Guardian Bureaucracy):

अभिभावक नौकरशाही वह है जो जनहित की भावना से जनता तथा समाज के अभिभावक के रुप में कार्य करती हैं। शक्ति सम्पन्न, परम्परावादी, रुढिवादी, निरंकुश आदि विशेषताऐं इस नौकरशाही में पायी जाती है। प्लेटों की रिपब्लिक में वर्णित गार्जियन को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2. जातीय नौकरशाही (Caste Bureaucracy) :

नौकरशाही के इस रुप में सम्पूर्ण सत्ता एक वर्ग या जाति में केन्द्रित रहती है। निम्न वर्ग के लोगों को इस नौकरशाही में प्रवेश नही मिलता है। सेवा या पद का एक परिवार से जुडा होना, दोषपूर्ण समाज व्यवस्था, पद एवं जाति में अन्तर–सम्बन्ध एवं शैक्षणिक योग्यता की अनिवार्यता आदि जातीय नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उदाहरणस्वरुप इंग्लैण्ड में लोक सेवाओं के पक्षों के लिए कुलीन वर्ग के लोगों को प्राथमिकता दी जाती थी।

3. संरक्षक नौकरशाही (Patronage Bureaucracy) :

इस प्रकार की नौकरशाही में सरकारी पदों पर चयन का आधार योग्यता या कुशलता न होकर, राजनीतिक पुरस्कार या व्यक्तिगत राजनीतिक सम्बन्धों के आधार पर की जाती हैं। इस प्रणाली को ''लूट प्रणाली' भी कहा जाता हैं। अमेरिका को संरक्षण नौकरशाही का जनक माना जाता हैं।

4. योग्यता पर आधारित नौकरशाही (Merit Bureaucracy) :

इस प्रकार की नौकरशाही में चयन योग्यता के आधार पर किया जाता है और इसमें निष्पक्ष मापदंडो का प्रयोग किया जाता हैं। इस का लक्ष्य लोक सेवा की कुशलता एवं प्रतिभा के लिए समान अवसर प्रदान करना हैं। यह नौकरशाही अन्य प्रकार की नौकरशाहियों से अच्छी एवं प्रभावी मानी जाती हैं।

नौकरशाही और मैक्स वेबर :

मैक्स वेबर पहले समाजशास्त्री थे, जिन्होने नौकरशाही प्रतिरुप का व्यवस्थित तरीके से विश्लेषण किया। वेबर और नौकरशाही, दोनों ही एक–दूसरे के परिचायक बन गये। उनके इस नौकरशाही सिद्धान्त ने आधुनिक लोक प्रशासन के विद्वानों के लिए भावी सिद्धान्तों का आधार तैयार किया।

मैक्स वेबर के प्रमुख प्रकाशन (Main Publications of Max Weber) :

वेबर ने अनेक पुस्तके और लेख लिखे जो सामाजिक विज्ञानों के साहित्य की अमूल्य धरोहर है। वेबर की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार है :

1. The Protestant Ethic and the spirit of Capitalism (1905)
2. The Religion of India (1916)
3. Economy and Society (1921)
4. The Theory of Social and Economic Organisation (1927)

वेबर की सभी रचनाएँ जर्मन भाषा में लिखी गई है

और 1922 के बाद उनका अंग्रेजी अनुवाद किया जाने लगा।

प्राधिकार सम्बन्धित सिद्धान्त (Theory of Authority) :

वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त प्राधिकार के सिद्धान्त का ही एक अंग है। प्राधिकार का अर्थ है ''नियन्त्रण की अधिकारिक शक्ति''। वेबर ने जानना चाहा कि किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने आदेशों की पालन करवाता है। वेबर ने अनुसार प्राधिकार का उपयोग यदि किसी भी प्रकार न्यायसंगत तथा वैध हो, तो वह स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार वैधता से विशिष्ट प्रकार का प्राधिकार उत्पन्न होता है। वेबर ने वैधता की तीन अवस्थाओं के आधार पर तीन प्रकार के प्राधिकार बताए है :– परम्परागत प्राधिकार , करिश्माई प्राधिकार और वैधानिक या कानूनी प्राधिकार ।

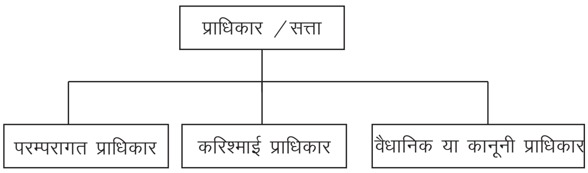

1. परम्परागत प्राधिकार (Traditional Authority) :

वेबर के अनुसार यह प्राधिकार ''प्राचीन परम्पराओं की पवित्रता में स्थापित आस्था और उसके तहत प्राधिकार लागू करने वाले लोगों की स्थिति की वैधता'' पर निर्भर है। इस तंत्र में शासक की आज्ञा का पालन इसलिए किया जाता है कि परम्परा वैसी मांग करती है। इसका प्रमुख उदाहरण – प्राचीन काल में राजाओं के शासन में सभी कर्मचारियों को व्यक्तिगत रूप से राजा का वफादार होना ही चाहिए और यदि कर्मचारी योग्य है पर राजा के व्यक्तियों के प्रति वफादार नहीं है, तो उसे हटा दिया जाता था। प्रशासन के ये सिद्धान्त जन सामान्य के सामाजिक विश्वासों पर आधारित थे। राजा का पद परम्पराओं के अनुसार वंशानुगत होता था। प्रचलित परम्पराओं व रीति–रिवाजों के आधार पर राजाओं व अधिकारियों को आदेशों की पालना करवाने की शक्ति प्राप्त होती थी। परम्परागत प्राधिकार व्यवस्था में प्रशासनिक कर्मचारी या तो पितृसत्तात्मक होता था या सामंती।

2. करिश्माई प्राधिकार (Charismatic Authority) :

करिश्मा शब्द का शाब्दिक अर्थ है – ''ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा''। जब किसी व्यक्ति के पास जादुई ताकत, अलौकिक शक्तियाँ तथा असाधारण गुण होते है और वह व्यक्ति इन ताकतों के आधार पर अन्य व्यक्तियों से अपने आदेशों की पालना करवाने में समर्थ होता है तो इसे करिश्माई प्राधिकार कहा जाता है। करिश्माई प्राधिकार व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह अस्थिर होती है अर्थात् जब तक व्यक्ति में जादूई ताकत या अलौकिक शक्तियाँ होती है तब तक आदेशों की पालन होती है। व्यक्ति के मरने पर उसके करिश्माई गुणों का पतन होता है तो यह सत्ता भी नष्ट हो जाती है। करिश्माई प्राधिकार तन्त्र के तहत प्रशासनिक कर्मचारियों में अनुसरणकर्त्ता, शिष्य या अनुचर होते है। जिन्हें उनके करिश्माई गुणों और प्रभुत्व के प्रति समर्पण के आधार पर पद दिए जाते हैं।

3.वैधानिक–तार्किक या कानूनी प्राधिकार (Legal-Rational or Legal Authority) :

वेबर द्वारा बताये गये प्राधिकार में तीसरा प्रकार विधिक–तार्किक प्राधिकार है। इसमें व्यक्ति को आदेश देने और उनका पालन करवाने की शक्ति न्यायसंगत कानूनों से प्राप्त होती है। व्यक्ति जिस पद पर आसीन होता है, उस पद से विधिक सत्ता जुड़ी होती है, और यही वैधानिक स्थिति व्यक्ति के आदेशों को वैधता प्रदान करती है। विधिक–तार्किक सत्ता में आदेशों का पालन वैधानिक रूप से स्थापित अवैयक्तिक आदेश पर आधारित होता है।

वेबर ने वैधानिक–तार्किक प्राधिकार में कार्यरत प्रशासनिक तन्त्र को ही नौकरशाही (Bureaucracy) कहा है। नौकरशाही संगठन में उपलब्ध संसाधनों के अधिकतम उपयोग का तरीका तथा विवेक को अधिकतम करने का उपकरण है।

वेबर का मानना था कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्राधिकार तभी तक वैध है जब तक आज्ञा पालन करने वाले इन्हें स्वीकारते हैं। परम्पराओं की अवहेलना करने, करिश्मा समाप्त हो जाने और गैर–कानूनी कार्य करने पर प्राधिकार समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राधिकार में वैधानिक–तार्किक प्राधिकार को वेबर आधुनिक सरकारों के लिए उपयुक्त बताते है। वेबर ने अपने नौकरशाही का आदर्श प्रारूप की रचना इसी प्राधिकार को ध्यान में रखते हुए की है।

वेबर की आदर्श नौकरशाही (Weber's Ideal Type of Bureaucracy)

मैक्स वेबर ने नौकरशाही का आदर्श प्रारूप (Ideal Model) प्रस्तुत किया। वेबर के आदर्श रूप में वास्तविकता का चित्रण न होकर, ऐसी कल्पना है जिसमें यह बतलाया गया है कि अगर यह पूर्ण रूप से विकसित हो जाये तो इसका रूप क्या होगा ? आदर्श रूप का मतलब आदर्श नही हैं, अर्थात् इसका तात्पर्य ''ऐसा होना चाहिए'' यह नहीं है आदर्श रूप अच्छा या बुरा कोई सा भी हो सकता है। वेबर एक इतिहासकार के रूप में नौकरशाही को वैधानिक तार्किक प्राधिकार के प्रशासनिक तंत्र के विकसित रूप में देखता है। वेबर का नौकरशाही मॉडल एक ऐसे आदर्श रूप, वैध विवेकपूर्ण प्राधिकार पर आधारित है जो वर्तमान विश्व में कहीं भी नहीं पाया जाता है। अर्थात् नौकरशाही का यह मॉडल विश्व में कहीं भी नहीं है यह वास्तविक का प्रतिमान नहीं है। यह एक काल्पनिक प्रतिमान है अर्थात् कल्पनाओं पर आधारित है।

आदर्श नौकरशाही की विशेषताएँ (Characteristics of Ideal Type Bureaueracy)

वेबर ने अपनी पुस्तक ''दि थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड इकॉनोमिक आर्गेनाइजेशन'' में नौकरशाही पर अपने विचार प्रस्तुत किए। यद्यपि वेबर ने अपनी नौकरशाही को कही भी परिभाषित नहीं किया है, लेकिन फिर भी उन्होनें नौकरशाही की विशेषताओं के आधार पर इसकी विस्तृत विवेचना की है। वेबर के नौकरशाही मॉडल की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है–

1. कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण :

कार्य का विभाजन और विशिष्टीकरण वेबर के मॉडल का आधार है। संगठन के कार्य को कर्मचारियों में इस प्रकार : विभाजित कर दिया जाता है कि प्रत्येक कर्मचारी को कार्य को कोई विशेष भाग पूरा करना होता है। इस पद्धति में वह एक ही कार्य को बार–बार करते हुए उस कार्य में कुशल हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक कर्मचारी अपने–अपने कार्य विशेष में निपुणता हासिल कर लेता है। इससे संगठन का उत्थान तथा उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

2. पदसोपान :

नौकरशाही में प्रशासन में पदों की एक श्रृंखला या पद–क्रम की परम्परा होती है। जिसमें अधीनस्थ कर्मचारी उच्च स्तरीय अधिकारियो के नियन्त्रण और देखभाल में रहते है। पदसोपान संगठन में कार्यरत कर्मचारियों तथा अधिकारियों के बीच सीधे सामंजस्य स्थापित होने के कारण संगठन का प्रत्येक सदस्य अपने कार्य एवं उत्तरदायित्व तथा अपने अधिकारी और अधनीस्थों से पूर्णतः परिचित हो जाता है जिस कारण संगठन की कार्यकुशलता में वृद्धि हो जाती है।

3. नियम :

नौकरशाही संगठन में प्रत्येक कार्य निश्चित नियमों के अनुसार ही सम्पन्न किए जाते हैं। इन नियमों का संगठन में कार्यरत सभी कर्मचारियों तथा अधीनस्थों को पता होता है। ये नियम सभी पर एक समान लागू होते है, इसलिए इनमें मनमर्जी की अनुमति नही होती। ये नियम गलतियों से बचने तथा कार्यकुशलता को बढ़ाने में भी सहायक होते है।

4. योग्यता के आधार पर भर्ती :

वेबर के अनुसार नौकरशाही में अधिकारियों की नियुक्ति तकनीकी योग्यता एवं खुली प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर की जाती है। नियुक्ति में किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा कोई महत्व नही रखती है। योग्यता आधारित भर्ती संगठन को कुशल बनाए रखती है। संगठन में नियुक्ति होने के बाद कर्मचारियों की तकनीकी कौशल में वृद्धि के लिए उनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाता है।

5. पूर्वकालीन अधिकारी :

नौकरशाही संगठन का प्रत्येक कर्मचारी संगठन का पूर्णकालिक अधिकारी होता है। वह अपना पूरा समय संगठन के कार्यों को प्रदान करता है। अपने पद पर कार्य करते हुए वह अन्य कोई व्यवसाय नही कर सकता, क्योंकि इससे कार्यों की गुणवत्ता प्रभावित होती है।

6. आजीविका विकास :

नौकरशाही संगठन में रोजगार के रुप में भर्ती हुए प्रत्येक कार्मिक को ऐसी समुचित सेवा–दशाएँ उपलब्ध करवाने से है जिससे वह संगठन में रुक सके, सन्तुष्ट रह सके तथा पदोन्नति के माध्यम से शीर्ष स्तर तक पहुँच सकें प्रत्येक कर्मचारी संगठन की पदसोपान व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न पद से उच्च पद पर पदोन्नति की आशा रखता हैं।

7. नियमित पारिश्रमिक व पेन्शन लाभ :

नौकरशाही संगठन में कर्मचारियों को उनके कार्य के अनुरुप निश्चित पारिश्रमिक दिया जाता है। पारिश्रमिक के रुप में यह नकद वेतन पदसोपन में उनके स्तर पद के दायित्व एंव सामाजिक स्थिति आदि बातों को ध्यान में रख कर तय किया जाता है। वेतन के अतिरिक्त कर्मचारी के सेवानिवृन्त हो जाने पर उन्हें पेंशन तथा भविष्य–निधि जैसी सुविधाएँ भी दी जाती है।

8. निजी और लोक हित में अन्तर :

वेबर नौकरशाही संगठन में उत्पादन एवं उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से व्यक्ति को अलग करने की वकालत करते है। साधनों पर संगठन का स्वामित्व बताया गया है। साधनों को उपयोग में लेकर कार्य करने वाले कार्मिक साधनों पर निजी स्वामित्व स्थापित नही कर सकते है। कार्मिकों के अपने हितों कि पूर्ति करने के लिए संगठन के साधनों का प्रयोग नही कर सकते है।

9. निर्वैयक्तिक व्यवस्था :

यह आदर्श नौकरशाही की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। जिसमें अधिकारी निर्वैयक्तिक भावना से कार्य करते है। प्रशासनिक अधिकारियों को अपना कार्य करते समय वैयक्तिक आधारों को भुला कर समस्त कार्य नियमानुसार बिना भावनाओं और संवेदनाओं में बहे करना चाहिए। इससे संगठन के कार्य निष्पक्षता व न्याय संगत होते है।

10. व्यवस्थित अनुशासन एवं नियन्त्रण :

नौकरशाही संगठन में अनुशासन के रुप में आचार–संहिता का निर्धारण किया जाता है। जिनकी पालना करते हुये संगठन के प्रत्येक कार्मिक को अपने पद के निर्धारित कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को पूरा करना होता है। सभी अधीनस्थों पर उच्चाधिकारियों का नियन्त्रण रहता है और आवश्यकता पड़ने पर अनुशासनात्मक कार्यवाही की व्यवस्था भी होती है।

11. लिखित दस्तावेज :

नौकरशाही संगठन के कार्यालयों की प्रबन्ध व्यवस्था लिखित दस्तावेजों तथा फाइलों पर आधारित होती है। जिसमें संगठन के निर्णयों और गतिविधियों को औपचारिक रुप से रिकॉर्ड कर लिया जाता है और भावी सन्दर्भ के लिए सुरक्षित रखा जाता है।

12. कार्यकुशलता :

नौकरशाही संगठन अत्यन्त दक्ष व्यक्तियों का शासन है। उनकी कार्यकुशलता तार्किक व्यवहार पर आधारित होती है। कार्यविभाजन, योग्यता द्वारा चयन, आजीवन व्यवसाय, नकद वेतन, पदोन्नति, निष्पक्ष कार्य एवं लिखित दस्तावेजों आदि विशेषताओं से कार्मिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

वेबर के मॉडल का उपयोग :

वेबर ने नौकरशाही का जो आदर्श मॉडल तैयार किया, उसका उपयोग या लाभ निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझाया जा सकता हैं :–

1. वेबर का आदर्श नौकरशाही प्रतिमान (Model) दूसरी नौकरशाही की तुलना के लिए उपयोगी है। इससे हम तुलना कर सकते है, कि कोई दूसरा अधिकारी तन्त्र प्रतिमान इस नौकरशाही मॉडल के कितने निकट है। इससे हम पता लगा सकते है कि उसमें इसकी विशेषताएँ कितनी मात्रा में पाई जाती है।
2. वेबर के नौकरशाही प्रतिमान ने तुलनात्मक लोक प्रशासन से सम्बन्धित परिकल्पनाओं को भी विकसित कर अनुसन्धान कार्य में सहायता प्रदान की है।
3. इस प्रतिमान से विकासशील देशों में पायी जाने वाली कथनी एवं करनी के अन्तर की विसंगति का ज्ञान होता है जैसे : इन देशों में कानून और उसकी पालन करने में बड़ा अन्तर है।
4. वेबर यह प्रतिमान पूँजीवाद की उपयोगिता का ज्ञान करवाता है।
5. वेबर का प्रतिमान तकनीकी योग्यता प्राप्त कार्मिकों के चयन पर बल देता है, जो संगठन की कार्यकुशलता एवं दक्षता का आधार बनता हैं।

वेबर की आलोचना : वेबर के विचार यद्यपि सामाजिक विज्ञानों के साहित्य की अमूल्य धरोहर है। उनके नौकरशाही सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुके थे, तथापि इनकी आलोचनाएँ भी कम नही है। इन आलोचना के मुख्य बिन्दु इस प्रकार है :–

1. वेबर का नौकरशाही मॉडल एक 'यान्त्रिक सिद्वान्त'' है जो संगठन में कार्यरत व्यक्तियों के व्यावहारिक व वैयक्तिक पहलुओं की उपेक्षा करता है।
2. वेबर का मॉडल बदलते परिवेश में काम नही कर सकता है। प्रो. रिग्ज़ का मत है कि यह मॉडल संक्रमणशील और परिवर्तित होते विकासशील समाजों के प्रशासन की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकता।
3. यह एक बंद व्यवस्था मॉडल है क्योंकि यह संगठन और उसके परिवेश के बीच संबंधों पर ध्यान नही देता है।
4. वेबर का मॉडल सामाजिक व्यवस्था एवं अनौपचारिक संगठनों को नही पहचानता है जिनसे कार्मिक को उत्पादन की प्रेरणा मिलती है।
5. यह मॉडल संगठन में रुटीन एवं दुहरावपूर्ण कार्यों के लिए तो उपयुक्त है, किन्तु रचनात्मक और कल्पनाशीलता वाले कामों के लिए नही।
6. वेबर का अपने मॉडल के लिए ''आदर्श प्रारुप'' (Ideal Type) शब्द का प्रयोग गलत है क्योंकि इसमें कुछ भी आदर्श जैसा नही है।
7. वेबर ने अपने मॉडल में नौकरशाही द्वारा कर्तव्यों के निष्पादन के संदर्भ में निर्वैयक्तिक भावना पर विशेष बल दिया गया है जो कि व्यावहारिक रुप से कठिन है।
8. वेबर अपने मॉडल में नियम एंव कानूनों पर अधिक जोर देता है, जबकि संगठन के उद्देश्य प्राप्ति को सुनिश्चित करने हेतु नियम एवं कानून एक साधन मात्र है। अत्यधिक जोर देने के परिणामस्वरूप नियम साध्य से साधन बन जाते है, जो कि संगठन की कार्य कुशलता के लिए घातक है।
9. नौकरशाही की आलोचना के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने निम्न कथन कहे है :

वारेन बेनिस : ''एक दिन नौकरशाही समाप्त हो जाएगी, अतः नौकरशाही को जीवित रहने के लिए अपनी उपादेयता सिद्ध करनी होगी।''

रैम्जेम्योर '' नौकरशाही मन्त्रीय उत्तरदायित्व की आड में फलती–फूलती है।'' उन्होंने नौकरशाही की तुलना अग्नि से की है, जो कि एक सेवक के रुप में तो बहुत उपयोगी सिद्ध होती है, परन्तु जब वह स्वामी या मालिक बन जाती है तो घातक सिद्ध होती है।''

वाल्टर बेजहॉट ''यह एक अनिवार्य दोष है कि नौकरशाही अधिकारी परिणामों की अपेक्षा नियमित कार्यविधि की अधिक परवाह करते है।''

विक्टर थॉम्पसन ने इसे ''ब्यूरोपैथोलॉजी'' की संज्ञा दी है।

थॉमस कार्लाइस ने नौकरशाही को ''महाद्वीपीय कंटक'' कहा है।

लॉर्ड हीवर्ट ने अपनी पुस्तक ''नवीन निरंकुशता'' (New Despotism) में नौकरशाही की कठोर आलोचना करते हुए कहा है कि वे ऐसी शक्तियां हथियाने का प्रयास कर रहें है जो यथार्थ में व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के क्षेत्र में आती है।

वेबर का मूल्यांकन :

लोक प्रशासन में जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। नौकरशाही एव मैक्स वेबर एक दूसरे के रुप में जैसे पर्यायवाची बन गए है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होने नौकरशाही का व्यवस्थित तरीके से विश्लेषण किया। वेबर के नौकरशाही के आदर्श प्रारूप का प्रतिपादन जर्मनी की तात्कालिक परिस्थितियों के हिसाब से किया गया था इसलिए ऐसा कहना कि यह आधुनिक परिस्थितियों के लिए अनुकूल नही है, अनुचित होगा।

वेबर का नौकरशाही सिद्धान्त प्राधिकार के सिद्धान्त का ही एक अंग है। उन्होंने प्राधिकार के तीन प्रकार परम्परागत, करिश्माई एवं वैधानिक बताये है। वेबर नें वैधानिक प्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग को ही नौकरशाही कहा है। वेबर ने अपनी आदर्श नौकरशाही को कहीं भी परिभाषित नही किया लेकिन फिर भी उन्होंने नौकरशाही की विशेषताओं के आधार पर इसकी विस्तृत विवेचना की है।

वेबर के अनुसार जो समाज एक बार नौकरशाही से शासित हो जाता है, वह नौकरशाही को कभी त्याग नहीं कर पाएगा। यह कथन वर्तमान में सत्य सिद्ध होता दिख रहा है। आप भारतीय प्रशासन का अध्ययन करने पर पाऐगें कि भारत ने ब्रिटिश अधिपत्य से स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, लेकिन ब्रिटेन द्वारा स्थापित नौकरशाही से मुक्त नही हो पाये। वह नौकरशाही व्यवस्था कतिपय थोड़े परिवर्तन के साथ वर्तमान में भी शासन कर रही है। वेबर की आदर्श नौकरशाही की विशेषताओं में सकारात्मक एंव नकारात्मक दोनों प्रकार के तत्व मिलते है। सकारात्मक तत्व के रुप में प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर चयन तकनीकी योग्यता, आजीविका विकास एवं कर्मचारियों में पदों के विनियोग का पूर्ण अभाव आदि मिलते है, जबकि निर्वैयक्तिक व्यवस्था, नियमों पर अत्यधिक बल, कठोरता , प्रेरणाशीलता का अभाव आदि तत्व नकारात्मक रुप में मिलते है।

जो लोग वेबर के नौकरशाही मॉडल की आलोचना करते है। वे वास्तव में वेबर की आलोचना नही करते बल्कि वर्तमान नौकरशाही की आलोचना करते है, क्योंकि वर्तमान नौकरशाही वेबर की नौकरशाही की प्रतिबिम्ब है। वे वर्तमान नौकरशाही के दोषों के कारणों को वेबर के मॉडल में खोजने का प्रयास करते है।

नौकरशाही वर्तमान में मानव समाज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इसका अत्यधिक हस्तक्षेप मानव जीवन पर हो गया है। अतः आज नौकरशाही संगठन को समाप्त करने की बात कोरी कल्पना ही लगती है। वास्तविकता यह है कि नौकरशाही मानव जीवन की कमजोरी बन गई है और इसका विकल्प खोज पाना अत्यन्त कठिन है। नौकरशाही के दोषों को दूर करने के लिए और नौकरशाही को विकास व कल्याणकारी कार्यों को करने में सक्षम बनाने के लिए व्यापक शोध किये जा रहे है ।

इस प्रकार वेबर के नौकरशाही मॉडल का अध्ययन करने वाले छात्रों व शोधार्थियों के लिए यह प्रतिमान आज प्रेरणा का स्रोत हैं। ड्वाइट वाल्डो ने ठीक ही कहा है कि अगर लोक प्रशासन में कोई प्रतिमान है तो वह वेबर का अधिकारी तन्त्र का प्रतिमान है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. नौकरशाही शब्द अंग्रेजी के ''ब्यूरोक्रेसी'' शब्द का अनुवाद है जो फ्रांसिसी भाषा के ''ब्यूरो'' शब्द से लिया गया है। जिसका अर्थ है''एक डेस्क या लिखने की मेज'' । ''क्रैसी'' एक प्रत्यय है जिसका ग्रीक भाषा में अर्थ है ''शासन''। इस प्रकार नौकरशाही का अर्थ हुआ ''अधिकारियों का शासन''।
2. नौकरशाही शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांस के प्रसिद्व अर्थशास्त्री विन्सेन्ट डी. गॉर्ने ने 1945 में किया था। उन्होंने नौकरशाही की शिकायत करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया।
3. मार्क्सटीन मार्क्स ने नौकरशाही के चार प्रकार बताए है– अभिभावक नौकरशाही, जातिय नौकरशाही, संरक्षक नौकरशाही एंव योग्यता पर आधारित नौकरशाही ।
4. मैक्स वेबर ही पहले समाजशास्त्रीय थे, जिन्होंने नौकरशाही प्रतिमान का व्यवस्थित तरीके से विश्लेषण किया।
5. मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही का उदय, इसकी विवेकशीलता और तकनीकी सर्वश्रेष्ठता, जिसके कारण आधुनिक समाज की जटिल समस्याओं और कार्यों का सामना करने के लिए तथा इसके सबसे उचित यंत्र सिद्ध होने के कारण हुआ।
6. मैक्स वेबर ने नौकरशाही की कोई परिभाषा नही दी उन्होंने केवल उसकी विशेषताओं के आधार पर कहा कि यह एक प्रकार की प्रशासकीय संगठन है जिसमें विशेष योग्यता, निष्पक्षता और मानवता का अभाव आदि लक्षण पाए जाते है।
7. विवेकशीलता का अर्थ है ''उपलब्ध संसाधनों के अधिकतम उपयोग का तरीका''। नौकरशाही विवेक को अधिकतम करने का उपकरण है ।
8. वेबर ने नौकरशाही की निम्न विशेषताऐं बतलाई है : कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण, पदसौपान नियम, योग्यतानुसार भर्ती, पूर्ण कालिक अधिकारी, आजीविका विकास, नियमित पारिश्रमिक इत्यादि।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्नः

1. अंग्रेजी का ब्यूरोक्रेसी शब्द किस भाषा के शब्द से उत्पन्न हुआ है ?
   (अ) जर्मन (ब) फ्रेंच
   (स) स्पेनिश (द) रुसी
2. ब्यूरोक्रेसी शब्द का प्रथम प्रयोग किसने किया था ?
   (अ) कार्ल मार्क्स (ब) एफ.एम.मार्क्स
   (स) मैक्स वेबर (द) विन्सेण्ट डी गॉर्ने
3. नौकरशाही के आदर्श रुप मॉडल की रचना किस प्राधिकार के आधार पर की गई है ?
   (अ) परम्परागत प्राधिकार
   (ब) कानूनी प्राधिकार
   (स) करिश्माई प्राधिकार
   (द) बिना किसी प्राधिकार के आधार पर
4. वेबर की नौकरशाही मॉडल की विशेषता है ।
   (अ) प्रशासनिक नियम (ब) पदसोपान
   (स) निवैयक्तिकरण (द) उपर्युक्त सभी।
5. नौकरशाही को ''नवीन निरंकुशता'' की संज्ञा दी है ?
   (अ) वेबर ने (ब) मार्क्स ने
   (स) लॉर्ड हीर्वट ने (द) टेलर ने
6. नौकरशाही को ''महाद्वीपीय कण्टक'' किसने कहाँ है ?
   (अ) वेबर (ब) थॉमस कार्लाइस
   (स) कार्ल मार्क्स (द) एम.क्रोजियर
7. नौकरशाही को 'ब्यूरोपैथॉलोजी ''की संज्ञा दी है ?
   (अ) एम.क्रोजियर (ब) विक्टर थाम्पसन
   (स) थॉमस कार्लाइस (द) वेबर
8. ''दी थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड इकॉनोमिक ऑर्गेनाइजेशन'' किस की रचना है ?
   (अ) कार्ल मार्क्स (ब) हेनरी फेयोल
   (स) मैक्स वेबर (द) टेलर

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. नौकरशाही का सामान्य अर्थ बताए।
2. ''ब्यूरोक्रेसी'' शब्द का उद्भव कैसे हुआ ?
3. नौकरशाही के विकास के कोई दो कारण बताएँ ?
4. नौकरशाही के दो सामान्य लक्षण बताइए ?
5. वेबर ने कितने प्रकार के प्राधिकार बताए है ? नाम लिखिए।
6. आजीविका विकास से आप क्या समझते है ?
7. वेबर के नौकरशाही मॉडल की दो आलोचना बताइए।

8. वेबर के नौकरशाही प्रतिमान की दो उपयोगिता बताइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. नौकरशाही से आप क्या समझते हैं ?
2. मैक्स वेबर ने नौकरशाही के उदय के क्या कारण बताए है ?
3. ''वैधानिक या कानूनी प्रभुत्व'' क्या है ?
4. मैक्स वेबर की आदर्श रुप नौकरशाही संगठन की विशेषताएँ संक्षेप में बताइए ?
5. मैक्स वेबर की आदर्श रूप नौकरशाही प्रतिमान की उपयोगिता का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. ''नौकरशाही को परिभाषित कीजिए। नौकरशाही की अवधारणा तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. मैक्स वेबर के प्रभुत्व के सिद्वान्त की विवेचना कीजिए।
3. मैक्स वेबर की आदर्श नौकरशाही की विशेषताओं का मूल्यांकन कीजिए।
4. नौकरशाही प्रतिमान में मैक्स वेबर के योगदान की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तरमाला :

1. (ब)	2. (अ)	3. (ब)
4. (द)	5. (स)	6. (ब)
7. (ब)	8. (स)	

अध्याय–5
मानव सम्बन्ध विचारधारा
(Human Relation Ideology)

लोक प्रशासन को एक व्यावहारिक विज्ञान का स्वरूप प्रदान करने में मानवीय संबंध विचारधारा का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। मानवीय संबंध आन्दोलन से पूर्व शास्त्रीय विचारधारा, वैज्ञानिक प्रबन्ध विचारधारा, नौकरशाही विचारधारा आदि ने संगठन में मानवीय व्यवहार को महत्व नहीं दिया। इन विचारधाराओं में मानव के साथ एक वस्तु की तरह व्यवहार किया जाता हैं। संगठन में मानव के स्थान पर संगठनात्मक इकाईयों की संरचना, औपचारिक सिद्धान्तों और कार्य के नियमों पर अधिक बल दिया जाता था। इन विचारधाराओं को उत्पादकता प्रधान विचारधारा भी कहा जाता है, जो केवल अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य को ही ध्यान में रखती हैं तथा कर्मचारियों के जीवन को यान्त्रिकता में बदल देती हैं। इसमें श्रमिकों की भावनाओं व आकांक्षाओं का कोई स्थान नहीं होता हैं। मनुष्य को प्रेरणा देने वाले उपाय खोजने का इन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। संगठन में मनुष्यों के आपसी व्यवहार और संबंधों को इन्होंने अवरोध माना। अतः इन्हीं विचारधाराओं की प्रतिक्रिया के रूप में मानव संबंध विचारधारा का उदय हुआ।

मानव संबंध विचारधारा निर्जीव यन्त्रों, कार्यों व संसाधनों के स्थान पर कर्मचारियों अर्थात मानव को अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानती हैं। इसमें अन्तर–वैयक्तिक व्यवहार का अध्ययन करने के लिए मनोविज्ञान, मानव शास्त्र एवं समाज शास्त्र जैसे व्यावहारिक विज्ञानों के ज्ञान का उपयोग किया जाता हैं। इन विचारधारा का विकास मनोवैज्ञानिकों एवं मानव शास्त्रियों द्वारा किया गया हैं। इस विचारधारा ने प्रबन्ध के श्रमिकों के प्रति अपने व्यवहार में सुधार व परिवर्तन लाने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप संगठन में कार्यरत कर्मचारियों व श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार आया हैं। यह विचारधारा कर्मचारियों को मानवीय गरिमा प्रदान करती हैं तथा उसकी आवश्यकताओं, भावनाओं अन्तः व्यवहारों आदि को समझने में बल देती हैं।

मानव संबंध विचारधारा : अर्थ एवं परिभाषाएँ (Human Relation Ideology : Meaning and Definition)

मानव संबंधों से तात्पर्य नियोक्ताओं और कार्मिकों के उन संबंधों से है जो कानूनी नियमों द्वारा नियन्त्रित नहीं होते। संबंध नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों से संबंधित हैं। जो प्रबन्धक एवं कर्मचारियों के साथ–साथ काम करने पर अपने आप सहज ही बन जाते हैं। कर्मचारियों के लिए प्रबन्धक के आदेशों की पालना बाध्यकारी न होकर, सहभागी, सहयोग व प्रेरणा पर आधारित होती हैं। अतः वर्तमान समय में प्रत्येक संगठन में मानवीय संबंधों का निर्माण करना, उन्हें बनाये रखना और उनका सुधार करना प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य हैं। मानव संबंधों का सामान्य अर्थ संगठन के उद्देश्यों और कर्मचारियों के हितों में एकीकरण करना हैं। सामान्यतः संगठन में कर्मचारियों के साथ मानवता का व्यवहार करना, उनकी योग्यता का विकास करना, कार्य के प्रति इच्छा जाग्रत करना, प्रबन्ध और कर्मचारियों के मध्य समन्वय स्थापित करके उत्पादकता में वृद्धि करना एवं लक्ष्यों की प्राप्ति करना मानवीय संबंध हैं। अर्थात् कर्मचारियों के साथ मानवीय व्यवहार करते हुये प्रबन्धकीय प्रक्रिया का निष्पादन करना संगठन में मानवीय संबंध कहलाता हैं।

मानवीय संबंध विचारधारा एक व्यापक विचारधारा है जिसे विद्वानों ने कई तरह से परिभाषित किया हैं। मानव संबंध के बारे में कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार है :–

कीथ डेविस के अनुसार –''मानव संबंध से आशय कार्य पर व्यक्तियों के एकीकरण से है जिससे वे आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक संतुष्टि प्राप्त करते हुये सहयोगपूर्वक उत्पादन कार्य करने के लिए अभिप्रेरित होते हैं।''

मैकफारलैण्ड के अनुसार :– **''**मानव संबंध कार्यरत व्यक्तियों की क्रियाओं, अभिवृद्धियों, भावनाओं तथा अन्तर्संबंधों की समझ एवं जानकारी द्वारा मानवीय साधनों के सदुपयोग की पद्धति एवं अध्ययन हैं।''

फ्रेड लुथांस के अनुसार : ''कर्मचारी सहयोग तथा मनोबल पर बल देने वाला प्रबन्धकीय व्यवहार ही मानव संबंध के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि यह विचारधारा मानव की सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं का अध्ययन करके उनको सन्तुष्ट करने पर बल देती हैं। अर्थात् मानव संबंध वह प्रक्रिया हैं जिसके द्वारा कार्यरत व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं को संतुष्ट कर उन्हें कार्य हेतु अभिप्रेरित किया जाता है और संगठन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनका स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त किया जाता हैं।

मानव संबंध विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ : (Main Characteristics of Human Relation & Ideology)

इस विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. मानव संबंध विचारधारा का प्रमुख केन्द्र बिन्दु 'मानव' हैं।
2. इस विचारधारा की मान्यता है कि, कर्मचारी एक सामाजिक प्राणी हैं। वह मशीन का एक पुर्जा अथवा उत्पादन का साधन

मात्र नहीं हैं।

3. यह विचारधारा व्यक्तिगत भिन्नताओं की जगह एकता टीम भावना पर बल देती हैं।
4. मानव संबंध विचारधारा अनौपचारिक संगठन को महत्वपूर्ण मानती हैं।
5. इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकों पूरा करके उसे अभिप्रेरित किया जा सकता हैं।
6. यह विचारधारा सहभागी प्रबन्धन पर बल देती है।
7. यह विचारधारा मनोविज्ञान पर आधारित हैं।
8. मानव संबंध विचारधारा व्यक्ति को एक साथ मिलकर दलीय भावना के साथ कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं।
9. यह कुशल नेतृत्व द्वारा कार्य का मानवीय वातावरण तैयार करने में विश्वास रखती हैं।
10. यह विचारधारा अर्न्तव्यैक्तिक संबंधों पर पर्याप्त बल देती हैं।

मानव संबंध विचारधारा और शास्त्रीय विचारधारा : (Human Relation Ideology and Classical Ideology)

मानव संबंध विचारधारा में अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि, प्रशासन में व्यक्ति की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। व्यक्ति की स्थिति मशीन के एक पुर्जे के समान नहीं हो सकती हैं। व्यक्ति एक संवेदनशील प्राणी होता हैं। उसकी अपनी इच्छाऐं और अनिच्छाएँ होती हैं। मनुष्य सामाजिक प्रभावों से घिरा रहता हैं और काम करते समय इसका व्यवहार बहुत हद तक उससे प्रभावित रहता हैं। इसके विपरीत शास्त्रीय विचारधारा संगठन को एक मशीन और व्यक्ति को उसके अंग के रूप में पूर्जे के रूप में स्वीकार करता हैं। यह विचारधारा संगठन के आन्तरिक तत्वों, संरचनाओं और औपचारिक सिद्धान्तों के अध्ययन तक बल देती हैं। दोनों विचारधाराओं में अन्तर इस प्रकार हैं :–

मानव सम्बन्ध विचारधारा एवं शास्त्रीय विचारधारा में अन्तर (Difference between Human Relation & Classical Approach)

मानव सम्बन्ध विचारधारा	शास्त्रीय विचारधारा
1. यह विचारधारा लोगों और उनकी प्रेरणाओं पर बल देती है।	1. यह संगठन की संरचना और सिद्धान्तों के अध्ययन पर बल देती है
2. यह अनौपचारिक संगठन के महत्व पर बल देती है।	2. यह औपचारिक संगठन पर बल देती है।
3. यह संगठन को भावनाओं से परिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था	3.यह संगठन को तार्किक और अवैयक्तिक व्यवस्था के रूप में देखती है।
4. यह कर्मचारियों को "सामाजिक मनुष्य" के रूप में	4.यह कर्मचारियों को "आर्थिक मनुष्य" के रूप में देखती है।
5. यह कार्य के सामाजिक वातावरण पर बल देती है।	5. यह कार्य के भौतिक वातावरण पर बल देती है।
6यह लोकतान्त्रिक पर्यवेक्षण शैली का समर्थन करती हैं।	6. यह निरकुंश पयवेक्षण शैली का समर्थक करती है।
7. यह मूल्यों पर बल देती है।	7. यह तथ्यों पर बल देती है।
8. यह गैर विवेकशीलता पर बल देती हैं।	8. यह विवेकशीलता पर बल देती है।
9. यह संगठन के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष पर	9. यह संगठन के मशीनी तथा क्रिया प्रणाली पक्ष पर अधिक जोर देता है।
10यह कार्मिकों की संतुष्टि तथा मानवीय संबंधों को संगठनात्मक कार्य क्षमता का आधार मानता है।	10.यह सिद्धान्तों पर आधारित संगठन की संरचना को कार्य दक्षता का आधार मानता है।

मानव सम्बन्ध विचारधारा का विकास के कारण

(Reasons behind the Development of Human Relation Ideology)

संगठन में मानवीय सम्बन्ध विचारधरा का शुभारम्भ मुख्यतया स्न 1940 के आसपास माना जाता हैं। इसके विकास के लिए निम्न कारण मुख्य रुप से उत्तरदायी है जो इस प्रकार हैं

1. 1930 की आर्थिक मंदी : औधोगिकरण व मशीनीकरण के कारण वृहद् स्तर पर उत्पादन किए जाने के कारण पूँजीवादी देशों में भीषण आर्थिक संकट के रुप में 1930 की विश्व व्यापी आर्थिक मंदी उत्पन्न हुई। मशीनीकरण ने श्रमिकों की शारीरिक परिश्रमों को तो कम कर दिया, परन्तु इसने श्रमिकों के मानसिक तनाव को बढ़ा दिया। अतः नियोक्ताओं को इस मानसिक तनाव को कम करने के उपाय खोजने पड़े। इसके लिए नियोक्ताओं को अपना ध्यान उधोग के मनोवैज्ञानिक व मानवीय तत्वों पर केन्द्रित करना पड़ा।

2. पूँजी आधारित उद्योग : इस काल में उद्योगों पर पूँजी का आधिपत्य बढ़ गया। मशीनो के खराब होने, हड़तालों और श्रमिकों के अस्थायित्व से उद्यमियों को अत्यधिक नुकसान होने लगा। अतः उद्योगपतियों ने श्रमिकों के प्रति रुचि तथा उधोग के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने के उपाय खोजने के प्रयास किए। इसके लिए वैज्ञानिक प्रबन्ध के स्थान पर मानव सम्बन्ध पर आधारित प्रशासन व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया।

3. तकनीकी प्रगति : तकनीकी और विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरुप श्रमिकों की स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ। इससे उनकी शिक्षा और व्यावसायिक कौशल के स्तर में अत्यधिक वृद्वि हुई। इसके कारण श्रमिकों में अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का भाव जागृत हुआ। अतः श्रमिक जोर देकर नियोक्ताओं से मांग करने लगे कि उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार किया जाए। इन परिस्थितियों के कारण मानवीय अधिकारों के रुप में एक नवीन चिन्तन का विकास हुआ।

4. टेलरवाद की प्रतिक्रिया : मानव संबंध विचारधारा का विकास टेलर के वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया के रुप में माना जाता हैं। टेलर ने श्रमिकों को निष्क्रिय प्राणी माना, जिनको आर्थिक प्रोत्साहन देकर अभिप्रेरित किया जा सकता है। टेलर के सिद्धान्तों में नियोक्ता व श्रमिकों के सम्बन्धों पर ध्यान न देकर कार्यक्षमता व उत्पादकता वृद्धि के प्रयासों पर जोर दिया गया हैं। तथा प्रबन्धक श्रमिकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं व कार्य के सामाजिक पहलुओं की उपेक्षा करते है। इसके विपरीत और प्रतिक्रिया स्वरुप मानव सम्बन्ध विचारधारा का विकास हुआ।

5. वर्ग विरोध : पूँजीवादी देशों में श्रमिक वर्ग और नियोक्ता के रुप में पूँजीवादी वर्ग के आपसी वर्ग संघर्ष ने मानव सम्बन्ध विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। श्रमिक वर्ग संगठित हुआ और अपने हितों की रक्षा के लिए प्रबन्धकों की शोषण प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए तथा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए नियोक्ताओं एवं सरकार को सामूहिक सौदेबाजी के आधार पर अनुबन्ध करने के लिए मजबूर कर दिया। इस बढ़ती हुई श्रम संगठनों की एकता ने नियोक्ताओं और सरकार को श्रमिकों के हितों की और ध्यान देने के लिए बाध्य कर दिया। नियोक्ताओं ने औधोगिक विवादों को जन्म देने वाले कारणों को समाप्त करने की और ध्यान दिया और सरकार ने अनेक कानून बनाकर श्रमिकों को संरक्षण प्रदान किया।

6. एल्टन मेयो के प्रयोगः एल्टन मेयो और उनके सहयोगियों के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिकों जैसे मेरी पार्कर फोलेट आदि ने संगठन में मानवीय पहलू को पर्याप्त आदर, मान्यता और सुविधा दिलाने का प्रयास किया। एल्टन मेयो को मानव संबंध विचारधारा का जन्मदाता माना जाता है। एल्टन मेयो ने अपने हॉथोर्न प्रयोगों से प्रबन्ध की परम्परागत अवधारणाओं को तोड दिया। उन्होंने पहली बार मानव दृष्टिकोण से औधोगिक श्रमिकों की समस्याओं को समझने का प्रयास किया। इन्हीं प्रयोगों के पश्चात् औधोगिक संगठनों में मानव तत्व को महत्व दिया जाने लगा।

मानव सम्बन्ध विचारधारा में एल्टन मेयो का योगदान : (Contribution of Elton Mayo's in Human Relations Ideology)

सन् 1930 के प्रारम्भ में लोक प्रशासन के अध्ययन में एक नवीन विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे मानव सम्बन्ध विचारधारा की संज्ञा दी गई है। इसी समय अमेरिका की वैस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी में एक नया प्रयोग शुरू हुआ जो हॉथोर्न (Howthorne) प्रयोग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जॉर्ज एल्टन मेयो उन प्रमुख प्रशासनिक चिन्तकों में से एक है, जिनके शोध कार्यों ने लगभग तीन दशकों तक अपना प्रभाव बनाए रखा और औधोगिक समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मेयो को मानव संबंध विचारधारा में महत्वपूर्ण योगदान दिया क्योंकि मेयों व उनके साथियों द्वारा किये गए हॉथोर्न प्रयोगों को मानव संबंध विचारधारा की आधारशिला माना जाता है।

एल्टन मेयो द्वारा लिखित पुस्तकें इस प्रकार हैं :

1. Democracy and Freedom (1919)
2. The Human Problems of an Industrial Civilization(1933)
3. The Social Problems of an Industraial Civilization(1945)
4. The Political Problems of an Industrial Civilization(1947)

हॉथोर्न प्रयोगों में मेयो को सहयोग देने वाले अनुसन्धानकर्त्ताओं में एफ.जे.रोथलिसबर्जर, टी.एन.व्हाइटहैड एंव डब्ल्यू. जे.डिक्सन प्रमुख थे। मेयो के प्रयोगों और उनके परिणामों को उनके सहयोगियों ने निम्न पुस्तकों में लिखा हैं:–

1. एफ.जे.रोथलिसबर्जर और डब्ल्यू.जे. डिक्सन की पुस्तक : Management and Worker (1939)
2. एफ.जे. रोथलिसबर्जर की पुस्तक : Management and Moral (1942)
3. टी.एन.व्हाइटहैड की पुस्तक

(1) The Industrial Worker (1938)

(2) Leadership in Free Society (1936)

एल्टन मेयो के प्रयोग (Elton Mayo's Experiments) :

एल्टन मेयो के हॉथोर्न प्रयोगों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है ।

हॉथोर्न प्रयोग (Hawthorne Experiments, 1924-1932):

मानव सम्बध विचारधारा को समझने के लिए हॉथोर्न प्रयोगो को जानना आवश्यक हैं। इन प्रयोगों के पश्चात् मानव सम्बन्ध के बारे में कई नवीन अवधारणाएँ प्रस्थापित हुई। एल्टन मेयो द्वारा किए गए अध्ययन एवं प्रयोग 'हॉथोर्न प्रयोग' के नाम से जाने जाते हैं। प्रशासनीक विचारधारा के इतिहास में हॉथोर्न प्रयोग एक महत्वपूर्ण घटना हैं। जोसेफ एल.मेसी के शब्दों में ''हॉथोर्न अध्ययन मानव संबंध आन्दोलन की आधार शिला है।'' यह प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका की ''वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी'' के शिकागो शहर के नजदीक स्थित हॉथोर्न संयंत्र में सन् 1924 से 1932 के बीच किए गए। इन प्रयोगों का उद्देश्य इस बात को जानना था कि यदि संगठन के कर्मचारियों को अच्छी कार्य दशाऐं उपलब्ध करा दी जाये तो उनके व्यवहार और अभिवृत्तियों पर इनका क्या प्रभाव पडता हैं ? श्रमिको की कार्य–दक्षता और उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक कौन से है ? इसका पता लगाना भी प्रमुख उद्देश्य था। इन प्रयोगों में प्रमुख सहयोग देने वाले अनुसन्धानकर्त्ताओं में एफ.जें. रोथलिसबर्जर, टी.एन.व्हाइटहैड एवं डब्ल्यू.जे. डिक्सन प्रमुख थे। एल्टन मेयो इस अध्ययन दल के नेता थे।

वेस्टर्न इलैक्ट्रिक कम्पनी में जब यह प्रयोग प्रारम्भ किये थे उस समय कम्पनी में लगभग 25,000 कर्मचारी कार्य करते थे। यह कम्पनी एक विश्व विख्यात कम्पनी थी। इस कम्पनी की सेवीवर्गीय नीति कर्मचारियों की हितैषी थी। इस नीति के अनुसार कर्मचारीयो को उचित कार्यकाल, वेतन, जलपानगृह, औषधालय एवं मनोंरजन के साधन आदि सभी सुविधाएँ उपलब्ध थी। किन्तु इसके पश्चात् भी कर्मचारियों में असन्तोष व मतभेद था। कम्पनी में असुरक्षा और तनाव का वातावरण व्याप्त था। उनका सामाजिक जीवन बिल्कुल अस्त–व्यस्त था। वे सदैव मानसिक परेशानियों में घिरे हुए रहते थे। कम्पनी के प्रबन्धकों ने कर्मचारियों के विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की, लेकिन तनाव के वातावरण में कोई कमी नहीं आयी। अतः सन् 1924 में इस कम्पनी ने विभिन्न प्रकार के अध्ययनों के लिए ''नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज''(National Academy of Sciences) से सहयोग मांगा। इस प्रकार इस संस्था में एल्टन मेयो की अध्यक्षता में प्रयोग शुरु हुए।

हॉथोर्न प्रयोग की शृंखला में मानव सम्बन्धों से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये गये थे, जिन्हे प्रमुखतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता हैं– **1. जाँच कक्ष अध्ययन 2. साक्षात्कार अध्ययन 3. अवलोकन अध्ययन**

1. जाँच कक्ष अध्ययन (The Test Room Studies): हॉथोर्न प्रयोगों की शृंखला का प्रथम भाग जाँच कक्ष अध्ययन था। इसका प्रमुख उद्देश्य कार्यदशाओं तथा भौतिक कारको का मनुष्य की कार्यदक्षता पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना था। जाँच कक्ष अध्ययन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये गये। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार हैं :–

(1) प्रकाश प्रयोग (Illumination Experiments):

हॉथोर्न प्रयोगों की पहली शृंखला में प्रकाश प्रयोग किए गए। ये प्रयोग 1924 में प्रारम्भ किए गए। इस प्रयोग का मुख्य उद्देश्य इस बात का परीक्षण करना था कि प्रकाश व्यवस्था में परिवर्तन का कर्मचारी की दक्षता और उत्पादकता पर क्या प्रभाव पड़ता हैं ? इस प्रयोग के लिए छः–छः महिला श्रमिकों के दो दल बनाए गए। इन दोनों दलों में से एक दल को ऐसे कमरे में कार्य करने के लिए रखा गया जहाँ कार्यकाल के दौरान एक जैसा प्रकाश बनाए रखा अर्थात् प्रकाश में न तो कमी की गई और न वृद्धि और दूसरे दल को ऐसे कमरे में कार्य हेतु रखा गया जहाँ प्रकाश में कमी एवं वृद्धि की गई। इस प्रकार दोनों दलों के सदस्यों की उत्पादकता पर प्रकाश के प्रभावों का अध्ययन किया गया। अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि न केवल दूसरे दल जिसके लिए प्रकाश में कमी एंव वृद्धि की गई, के उत्पादन में भी वृद्धि हुई अपितु प्रथम दल जिसके लिए सदैव एकसा प्रकाश रहा, के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इससे यह स्पष्ट हुआ कि कर्मचारियों की उत्पादकता में वृद्धि का कारण केवल प्रकाश या कार्य दशाओं में सुधार ही नहीं हैं अपितु अन्य कारण भी हैं जो कर्मचारियों की उत्पादकता को प्रभावित करते है। अतः इन कारणों की खोज हेतु मेयो और उनके सहयोगियो ने अनेक प्रयोग किये।

(2) रिले एसेम्बली टैस्ट रुम (Relay Assembly Test Room Experiments):

इस प्रयोग का उद्देश्य प्रकाश प्रयोग से उत्पन्न संदेहों को दूर करना तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों का उत्पादन की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस तथ्य की जाँच करना था। ये प्रयोग काफी (मार्च, 1927 से जून, 1929 तक) समय तक चलते रहे और इनसे अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये । इन प्रयोगों के लिए छः लडकियों का एक छोटा–सा समूह बनाया गया और उन्हें एक अलग कमरे में टेलिफोन के छोटे–छोटे उपकरणों को जोडने का कार्य दिया गया। ये सभी लड़कियाँ औसत दर्जे की थी। समूह को कार्य करते समय बातचीत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इनके कार्य की देखरेख के लिए एक पर्यवेक्षक की नियुक्ति की गई। इस पर्यवेक्षक का कार्य समूह के व्यवहार का अवलोकन करना तथा उत्पादकता का मापन करना था। इस प्रयोग के दौरान कार्यदशाओं में कई परिवर्तन किये गये। जैसे – कार्य के घण्टों में कमी, आराम की सुविधा, चाय–कॉफी की व्यवस्था, कार्यानुसार मजदूरी आदि। इन परिवर्तनों के लागू करने के पश्चात् समूह की उत्पादकता में वृद्धि हुई। प्रयोग के आखिरी सप्ताह में कार्यानुसार मजदूरी के अलावा समस्त सुविधाएँ समाप्त कर दी गई। आश्चर्यजनक तथ्य यह था कि सब सुविधाओं के समाप्त करने के बाद भी समूह की उत्पादकता पूर्व के सप्ताहों से अधिक रही।

इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला गया कि कार्य पर तथा व्यक्तियों की उत्पादन क्षमता पर भौतिक तत्व तथा दशाओं का अधिक प्रभाव नही पड़ता। इस प्रयोग में लडकियों को

स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्रदान किया था फलस्वरुप उनके बीच अनौपचारिक सम्बन्ध तथा टीम भावना विकसित हो गई, अतः भौतिक सुविधाओं की अनुपलब्धता की स्थिति में भी उनकी उत्पादकता में वृद्धि हुई। वास्तव में भौतिक तत्वों की अपेक्षा कार्य पर स्वतन्त्रता, सामाजिक सम्बन्ध, अनौपचारिक संगठन तथा उच्च मनोबल कर्मचारियों की उत्पादकता को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है।

(3) द्वितीय रिले एसेम्बली समूह (Second Relay Assembly Group):

ये प्रयोग नवम्बर 1928 में शुरु किये गये तथा नौ सप्ताह तक चलते रहे। इस प्रयोग का उद्देश्य प्रेरणाओं के प्रभाव की जाँच करना था। प्रयोग के लिए पाँच अनुभवी रिले कर्मचारियों का चयन किया गया। इन कर्मचारियों की कार्यदशाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इन्हें प्रेरणा के रूप में समूह बोनस दिया गया। इस प्रयोग के पश्चात् यह स्पष्ट हुआ कि प्रति कर्मचारी उत्पादन दर में वृद्धि हुई तथा कुल उत्पादन में भी 13 प्रतिशत की बढोतरी दर्ज की गई अर्थात् समूह बोनस दिए जाने से कर्मचारियों की उत्पादन क्षमता बढ़ती है।

(4) माइका स्प्लिटिंग ग्रुप (Mica Splitting Group):

इस प्रयोग में भी पाँच लडकियों के एक समूह को एक–दूसरे जाँच कक्ष में रखा गया। दो वर्षों की अवधि में कार्य की दशाओं में पाँच बार परिवर्तन किया गया। उनसे अधिक समय भी कार्य करवाया गया। भुगतान की पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इस समूह में जो लडकियाँ थी वे किसी भी प्रकार से मानसिक व सामाजिक रूप से एक दूसरे से परिचित नहीं थी। प्रयोग के पश्चात् यह पाया गया कि कार्य करते–करते ये लडकियाँ एक सामाजिक समूह में बदल गयी। कार्य वातावरण के दौरान स्वतन्त्रता के कारण उनकी सन्तुष्टि में वृद्धि हुई तथा उत्पादन बढ़ा। उनमें अनौपचारिक व्यवहार के कारण आपसी सहयोग, अन्तः क्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि ''एक बडी सीमा तक कार्य सन्तुष्टि समूह के औपचारिक सामाजिक प्रारूप पर निर्भर करती है। जहाँ एक ओर सहयोग एवं उत्पादन अपने को महत्वपूर्ण मानने की भवना के कारण बढता है, वहीं दूसरी ओर भौतिक कार्य दशाओं का प्रभाव अत्यन्त सीमित होता है।'' इस प्रयोग ने अनौपचारिक समूह की अवधारणा को महत्ता प्रदान की।

2. साक्षात्कार अध्ययन (Interview Studies):

हॉथोर्न प्रयोगों का एक अन्य मुख्य भाग साक्षात्कार कार्यक्रम था। सितम्बर, 1928 से 1932 के बीच मेयो व उसकी टीम ने मानव व्यवहार और भावनाओं पर एक गहन अध्ययन प्रारम्भ किया। इसे ''साक्षात्कार अध्ययन '' भी कहा जाता है। यह साक्षात्कार अध्ययन हॉथोर्न शृंखला का सबसे बड़ा अध्ययन था, इसमें 2100 व्यक्तियों का साक्षात्कार करने की योजना बनायी गयी । ताकि उधोग में मानव दृष्टिकोण एवं भावनाओं के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सके। इस कार्यक्रम की शुरूआत एक जाँच शाखा से की गई जिसमें कुशल एवं अकुशल लगभग 1600 कर्मचारियों का साक्षात्कार लिया गया। इस अध्ययन में साक्षात्कार के माध्यम से श्रमिकों से प्रबन्धन की नीतियों और कार्यक्रमों, काम की कार्यदशाओं , प्रबन्धको के बर्ताव आदि पर विचार जानने के प्रयास किए गए। इस कार्यक्रम के अर्न्तगत आरम्भ में प्रत्येक कर्मचारी को एक प्रश्नावली दी गई और उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया । लेकिन बाद में साक्षात्कार कार्यक्रम की इस प्रत्यक्ष विधि के स्थान पर अप्रत्यक्ष विधि जिसे गहराई साक्षात्कार के नाम से जाना जाता है, को अपनाया गया। आरम्भ में कुछ कठिनाईयों के पश्चात् शोध के परिणाम स्पष्ट होने लगे कोई सुधार किए बिना ही श्रमिक के व्यवहार में परिवर्तन आने लगा। श्रमिकों को अपनी शिकायतें व्यक्त करने के बाद लगा कि काम का माहौल बदल गया है ऐसा अनुभव हुआ कि दिल का गुबार निकालने का अवसर मिलने से श्रमिक बेहतर महसूस करने लगे है। इस अध्ययन के प्रमुख परिणाम इस प्रकार है :–

1. किसी भी कर्मचारी को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने एवं परिवेदनाएँ प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करने से उसके मनोबल में वृद्धि होती है।
2. कर्मचारियों की मांगों पर कारखाने के भीतर और बाहरी वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।
3. कर्मचारियों द्वारा प्रस्तुत शिकायतें सदैव वास्तविक स्थिति का चित्रण नहीं करती है। वे तो केवल कार्मिकों के मन की गहराई में व्याप्त असन्तोष का लक्षण होती है।
4. जब तक कर्मचारियों की भावनाओं एवं संवेगों को न समझा जाएगा तब उनकी वास्तविक समस्याओं को समझना कठिन है।
5. कर्मचारियों को अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होने से वे यह महसूस करते है कि प्रबन्ध ने उनको व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से महत्वपूर्ण माना है। भविष्य में कम्पनी के परिचालन एंव अन्य क्रियाकलाप में उनकी सहभागिता बढ़ेगी।

3. अवलोकन अध्ययन (Observation Studies):

अवलोकन अध्ययन हॉथोर्न प्रयोगों का अन्तिम चरण माना जाता है। यह प्रयोग 1931–32 में सामूहिक व्यवहार का अध्ययन करने के लिए किया गया। यह अध्ययन सामाजिक प्रकृति का था इस अध्ययन का उद्देश्य कार्य पर सामाजिक अनौपचारिक सम्बन्धों के प्रभावों को देखना था। इससें अवलोकन विधि का उपयोग किया गया । अध्ययन के लिए कर्मचारियों का एक समूह चुना गया जिसमें 9 वायरमैन 3 सोल्डरमैन तथा 2 इंस्पैक्टर थे, जो रिले एसेम्बली बैंक में टेलिफोन एक्सचेंज विभाग में कार्यरत थे । इस शोध कार्यक्रम को बैंक वायरिंग प्रयोग के नाम से जाना जाता है। समूह के सदस्यों को एक पृथक कमरें में कार्य करने के लिए कहा गया इन श्रमिकों को वेतन समूह प्रोत्साहन योजना के अनुसार दिया जाता था। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को समूह के कुल उत्पादन के आधार पर उसका अंश मिलता था । श्रमिकों के सम्मुख उत्पादन का औपचारिक लक्ष्य निश्चित कर दिया गया था इस प्रयोग के दौरान कार्यदशाओं के आपसी सम्बन्धों तथा व्यवहार का अवलोकन किया गया। शोध में यह पाया गया कि कर्मचारियों ने उत्पादन के मानक तय कर लिए थे, जो प्रबन्धन द्वारा निर्धारित लक्ष्य से कम थे। इस निर्धारित मानक से

कम या ज्यादा उत्पादन की अनुमति समूह नहीं दे सकता था। यद्यपि वे उत्पादन बढ़ा सकते थे पर उन्होंने उत्पादन में एकरूपता रखी । ये कर्मचारी अपने सामाजिक समूह से एकताबद्ध थे तथा अनौपचारिक दबाव का प्रयोग किया जाता था। इस समूह ने एक आचार संहिता का भी निर्माण कर रखा था। जो इस प्रकार थी :–

1. समूह द्वारा निर्धारित किये गये अनौपचारिक लक्ष्यानुसार प्रत्येक श्रमिक उत्पादन करेगा। समूह में जो भी व्यक्ति समूह द्वारा निर्धारित किये गये लक्ष्य से कम काम करेगा वह कामचोर या धोखेबाज (Chesler) कहलायेगा।
2. जो व्यक्ति समूह द्वारा निर्धारित किये गये उत्पादन के लक्ष्य से आगे बढ़ेगा वह शेखीखोर या रेट बस्टर (Rate Buster) कहलाएगा।
3. समूह के किसी भी सदस्य को अपने साथियों की चुगली निरीक्षक या प्रबन्ध के प्रतिनिधि से नही करनी चाहिए जिससे किसी साथी सदस्य को हानि पहुँचे। इस नियम को तोडने वाला चुगलखोर/भेदिया या स्कवीलर (Squealer) कहलाएगा।
4. किसी भी व्यक्ति को समूह से दूरी नही बनानी चाहिए और न ही कार्यालयी व्यवहार करना चाहिए।

इस प्रकार बैंक वायरिंग अवलोकन प्रयोग के निष्कर्षों ने संगठन को एक सामाजिक पद्धति के रुप में विकसित किया। प्रत्येक व्यक्ति को भौतिक लाभ की अपेक्षा समूह की मान्यताओं, विचारों , नियमों व सामाजिक बहिष्कार की अधिक चिन्ता रहती है। प्रत्येक समूह के कुछ सिद्धान्त व कार्य करने के तरीके होते हैं, जो समुह के प्रत्येक सदस्य के व्यवहार को नियन्त्रित व नियमित करते रहते हैं। कार्य के दौरान कर्मचारियों के लिए अनौपचारिक सामाजिक सम्बन्धों का अत्यधिक महत्व होता हैं। इस प्रकार बैंक वायरिंग अवलोकन समूह प्रयोग हॉथोर्न प्रयोगों की अन्तिम कड़ी था।

एल्टन मेयो के प्रयोगों के निष्कर्ष (Conclusions of Elton Mayo's Experiments):

एल्टन मेयो व उनके साथियों द्वारा किए गये विभिन्न प्रयोगों के पश्चात् मानव सम्बन्ध विचारधारा में कई बातें स्पष्ट हुई। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. मेयों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन उधोगों में मानव तत्व की स्थापना करना है।
2. मेयो ने रैबल परिकल्पना का खण्डन किया जो यह मानती है कि समाज असंगठित लोगों का समूह है। मूलतः अपने स्वार्थो से परिचालित होता है।
3. कर्मचारियों की उत्पादकता पर भौतिक कारकों जैसे प्रकाश आदि का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है ।
4. भौतिक एवं वातावरण सम्बन्धी घटक कर्मचारियों की कार्य के प्रति रुचि और कुशलता पर भी कोई विशेष प्रभाव नहीं डालते है।
5. मनुष्य केवल आर्थिक व्यक्ति नहीं होता बल्कि वह एक सामाजिक प्राणी है।
6. इन प्रयोगों के द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि संगठन के अन्तर्गत अनौपचारिक समूह की उत्पति स्वतः होती है।
7. मनुष्य एक सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्राणी है अतः उसकी कुछ सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ होती है।
8. कार्मिकों के मनोबल के स्तर में वृद्धि होने से उत्पादकता में भी वृद्धि होती है। कार्मिकों को मान्यता एवं स्वतन्त्रता प्रदान करने से उनके मनोबल के स्तर में वद्धि होती है।
9. जब भी कार्मिक शिकायत करते है तो उसमें उनका मानसिक असन्तोष छुपा हुआ होता है अतः कार्मिकों को अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करके उनके असन्तोष को कम किया जा सकता है।
10. प्रबन्धकों का मानवीय व्यवहार, कुल उत्पादन में भी वृद्धि के साथ–साथ कर्मचारियों को सामाजिक सन्तुष्टि भी प्रदान करता है।

एल्टन मेयो के प्रयोगों की आलोचना (Criticism of Elton Mayo's Experiments):

एल्टन मेयो के प्रयोगों के पश्चात् औधोगिक जगत में मानव सम्बन्ध की दृष्टि से नये युग का प्रारम्भ हुआ । परम्परागत विचारधारा की जगह नवीन अवधारणा मानव सम्बन्धवाद का विकास हुआ। परन्तु कुछ आलोचकों ने इन प्रयोगों की आलोचनाएँ भी है। जो इस प्रकार है :–

1. डब्ल्यू.एच.व्हाइट ने मेयो की यह कहकर आलोचना कि हैं कि उन्होंने कर्मचारियों के व्यक्तिगत जीवन में नियोक्ताओं के हस्तक्षेप को प्रोत्साहित किया है।
2. मेयो एवं उनके सहयोगी प्रबन्धकों द्वारा आमन्त्रित किये गये थे अतः वे सदैव प्रबन्धकों के प्रति पक्षपात पूर्ण रहे हैं। सभी प्रयोग श्रमिकों पर आधारित थे कोई भी प्रयोग प्रबन्धकों पर नही किया गया। प्रबन्ध सदैव विवेकपूर्ण तथा श्रमिक भावनापूर्ण होते है,यह मान्यता भी दोषपूर्ण थी।
3. मेयो द्वारा प्रयोंगो के लिए अपनायी गयी शोध विधि दोषपूर्ण थी। इसमें वैज्ञानिक शोध पद्धति का प्रयोग नहीं किया गया।
4. हेरोल्ड शेपर्ड तथा लारेन बारिज के अनुसार मेयो ने स्वतन्त्र समाज में श्रम संघो की भूमिका को नजरअंदाज किया। कुछ लोग मेयो को श्रमिक संघो के विरोधी तथा प्रबन्धकों का पक्षधर बताते हैं।
5. 1949 में यूनाइटेड ऑटो वर्क्स के कर्मचारियों ने मेयो और उसके शोध दल को गाय जैसे भीरु समाजशास्त्री (Cow Sociologist) कहा है।
6. पीटर एफ. ड्रकर में मानव संबंध विचारधारा में आर्थिक दृष्टिकोण का अभाव बताया। ड्रकर के अनुसार मेयो के शोध दल ने कार्य की प्रकृति की उपेक्षा कर अपना समस्त ध्यान वैयक्तिक संबंधों पर केन्द्रित किया।
7. डेविड ईस्टन के अनुसार उनके प्रयोगों में विस्तृत सामाजिक संदर्भ का अभाव है क्योंकि मेयों ने संगठन की समग्र सामाजिक स्थिति पर ध्यान नही दिया। इससे प्रयोगों के निष्कर्षों की उपयोगिता एवं विश्वसनीयता कम हो गई है।

8. कैरी जैसे आलोचकों का कहना था कि हॉथोर्न समूह के अपने पहले प्रयोग के लिए कुछ लडकियों को चुना जो उनके शोध कार्यक्रम में भाग लेने के लिए तैयार थी और इस प्रकार का शोध निष्कर्ष बेकार था क्योंकि पाँच या छः के उदाहरण को सामान्यीकरण के लिए विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।
9. सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मेयो के निष्कर्ष सत्य हैं, परन्तु यह स्वाभाविक है इनमें कोई नवीनता नही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा समूह में रहना पसन्द करता है, यह पूर्व स्थापित तथ्य है इसमें कोई नवीन बात स्पष्ट नही होती है।
10. कुछ आलोचकों का यह भी कहना है कि प्रबन्ध एक सामाजिक विज्ञान है। अतः शुद्व विज्ञानों की तरह इसके प्रयोग प्रयोगशाला विधि से नहीं किये जा सकते है।

मूल्यांकन (Evaluation):

वर्तमान लोक प्रशासन के क्षेत्र में मानव सम्बन्ध विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके आधार पर पूँजी और श्रम, प्रशासन और अधीनस्थ, मालिक और नौकर, व्यक्ति और समाज आदि के मध्य उत्पन्न संघर्ष समाप्त किये जा सकते हैं। इसके माध्यम से मानव शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग राष्ट्र, समाज, परिवार और व्यक्ति के कल्याण के लिए किया जा सकता है। यह विचारधारा संगठन व प्रशासन को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए प्रेरणा देती है।

आज प्रशासन व औधोगिक संस्थानों में आयें दिन अनेक प्रकार कि मानवीय समस्याऐं उत्पन्न होती रहती है और प्रशासकों का अधिकांश समय इनके समाधान में जाता हैं। इन समस्याओं की और पर्याप्त ध्यान नही दिये जाने के कारण प्रशासन व औधोगिक संस्थनों में हड़ताले, घेराव, प्रदर्शन और यहाँ तक की हिंसात्मक कार्यवाहियाँ होने लगती है और प्रशासन व औधोगिक संस्थानों में अशान्ति का साम्राज्य व्याप्त हो जाता हैं। अतः इन मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए मानव सम्बन्ध विचारधारा को अविलम्ब स्वीकार करना होगा, इससे न केवल संगठन में मानवीय सम्बन्धों में सुधार होगा, अपितु औधोगिक शान्ति की स्थापना के कारण समस्त राष्ट्र आर्थिक उन्नति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होगा।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. मानवीय सम्बन्धों से तात्पर्य नियोक्ताओं और कार्मिकों के उन संबंधों से है जो कानूनी मानको द्वारा नियंत्रित नही होते। ये संबंध नैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों से संबंधित हैं। यह विचारधारा व्यक्तियों और उनकी प्रेरणाओं पर बल देती हैं।
2. हॉथोर्न प्रयोगों में मेयो को सहयोग देने वाले अनुसन्धान कर्त्ताओं में रोथलिसबर्जर,, टी,एन. व्हाइटहैड़ एवं विलियम जे. डिक्सन प्रमुख थें।
3. मानव सम्बन्ध विचारधारा का पूरा ध्यान ''मानव'' पर केन्द्रित हैं।
4. संगठन में श्रमिकों के मध्य, साथ कार्य करते–करते आपसी अन्तक्रियाओं एवं मेलजोल के कारण कार्यस्थल पर इनके अनेक छोटे–छोटे समूह बन जाते है जो अनौपचारिक संगठन कहलाता हैं।
5. मानव सम्बन्ध विचारधारा का विकास 1930 की आर्थिक मंदी, पूँजी आधारित उधोगों की स्थापना, तकनीकी प्रगति, टेलरवाद की उत्पत्ति की प्रतिक्रिया, वर्ग विरोध और मेयों के हॉथोर्न प्रयोगों के कारण हुई थी।
6. एल्टन मेयो को मानव सम्बन्ध विचारधारा का जन्मदाता माना जाता है।
7 एल्टन मेयो और उनके साथियों द्वारा 1924 से 1932 के बीच किए गये अध्ययन एवं प्रयोगों को हॉथोर्न प्रयोग के नाम से जाना जाता हैं।
8. हॉथोर्न प्रयोगों को मानव सम्बन्ध विचारधारा की आधारशिला माना जाता हैं।
9. मेयो के जाँच कक्ष अध्ययनों का निष्कर्ष – कर्मचारियों की कार्यक्षमता पर भौतिक वातावरण की अपेक्षा प्रबन्धकों के व्यवहार और कर्मचारियों के मनोबल का अधिक प्रभाव पड़ता है। कार्य का स्वतन्त्र वातावरण एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध उत्पादन वृद्धि में सहायक होते है। अनौपचारिक संगठन व सामाजिक सम्बन्ध औपचारिक संगठन के समान ही महत्वपूर्ण हैं।
10. साक्षात्कार अध्ययन का निष्कर्ष – कर्मचारियों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार एवं शिकायतें प्रस्तुत करने के अवसर प्रदान करके उनके मनोबल में वृद्धि की जा सकती है। कर्मचारियो की माँगो पर कारखाने के भीतर व बाहरी वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता हैं।
11. अवलोकन अध्ययन का निष्कर्ष–प्रत्येक व्यक्ति भौतिक लाभ की अपेक्षा समूह की मान्यताओं, विचारों, नियमों व सामाजिक बहिष्कार की अधिक चिन्ता करता है।
12. रैबल परिकल्पना (भीड परिकल्पना) सम्पूर्ण समाज को असंगठित व्यक्तियों का एक झुण्ड मानती है जो स्वार्थ से परिचालित होते है। मेयो इसका खण्डन करता है।
13. मानव सम्बन्ध विचारधारा, प्रबन्ध और श्रमिकों के बीच संघर्ष को समाप्त कर सकती हैं। इससे अव्यवस्था हडताल, अनुशासन हीनता, असन्तोष जैसी समस्याओं का उचित समाधान खोजा जा सकता हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. मानव सम्बन्ध विचारधारा प्रमुखता देती हैं :
   (अ) संगठन के सिद्धान्तों को
   (ब) संगठन की संरचना को
   (स) संगठन में मानव को
   (द) संगठन में कार्य के नियमों को
2 'मैनेजमेन्ट एण्ड वर्कर्स'' पुस्तक के लेखक हैं :
   (अ) रोथलिस बर्जर और डिक्सन
   (ब) एल्टन मेयो
   (स) रोथलिस बर्जर और मेयो

(द) मेयो और व्हाइटहैड

3 मानव सम्बन्ध विचारधारा निम्न में से किस पर ध्यान केन्द्रित करती है :

(अ) औपचारिक संगठन (ब) लालफीताशाही
(स) विशेषीकरण (द) अनौपचारिक समूह

4. ''मानव सम्बन्ध विचारधारा'' की आधारशिला हैं :

(अ) हॉथोर्न (ब) मिशीगन प्रयोग
(स) ओहियो प्रयोग (द) कोई नही

5 मानव सम्बन्ध विचारधारा के लाभ है :

1. श्रमिक और प्रबन्ध में अच्छे सम्बन्ध
2. श्रमिकों की अनुशासनहीनता में कमी
3. हडतालों श्रमिक असन्तोष जैसी समस्याओं से छुटकारा
4. अच्छे श्रम सम्बन्धों से अधिक उत्पादन सम्भव

(अ) केवल 1 (ब) केवल 1और 2
(स) केवल 1,2 और 3 (द) सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. मानव सम्बन्ध विचारधारा का सामान्य अर्थ बताइए ?
2. टेलरवाद की प्रतिक्रिया स्वरुप किस विचारधारा का जन्म हुआ ?
3. एल्टन मेयो की दो पुस्तकों के नाम लिखिए।
4. हॉथोर्न प्रयोगों में मेयो के सहयोगियों के नाम बताइए।
5. मेयो के दो आलोचको के नाम बताइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. मानव सम्बन्ध विचारधारा की चार प्रंमुख विशेषताए बताइए।
2. अनौपचारिक संगठन किसे कहते हैं।
3. मानव सम्बन्ध विचारधारा में व्यक्ति का क्या महत्व हैं?
4. मानव सम्बन्ध विचारधारा और शास्त्रीय विचारधारा की तुलना कीजिए ?
5. मानव सम्बन्ध विचारधारा के विकास के कोई तीन कारण बताइए ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. मानव सम्बन्ध विचारधारा के उदय के कारणों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. मानव सम्बन्ध विचारधारा की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. मानव सम्बन्ध विचारधारा के क्षेत्र में एल्टन मेंयो के ''हॉथोर्न प्रयोगों'' के प्रमुख योगदान की विवेचना कीजिए।
4. मानव सम्बन्ध विचारधारा की प्रमुख आलोचनाएँ क्या हैं ? क्या आप इनसे सहमत है ?

उत्तरमाला :

1. (स)	2. (अ)
3. (द)	4. (अ)
5. (द)	

अध्याय – 6
सम्प्रेषण अथवा संचार
(Communication)

सम्प्रेषण व्यवस्था प्रशासन की कई महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में से एक है। संगठन के उद्देश्यों और नीतियों की सफलता के लिए प्रभावशाली सम्प्रेषण व्यवस्था आवश्यक है। सम्प्रेषण कार्य–सम्पादन को सम्भव बनाता है तथा प्रशासकों और अधिकारियों को समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक आधार प्रस्तुत करता है, सम्प्रेषण व्यवस्था को प्रशासन का ''प्रथम सिद्वान्त ''माना जाता है।

मिलट ने सम्प्रेषण को ''प्रशासकीय संगठन की रक्तधारा''कहा है। और पिफनर ने इसे ''प्रबन्ध का हृदय' कहा है। संगठन में आन्तरिक सहयोग और समन्वय की प्राप्ति के लिए सम्प्रेषण व्यवस्था का होना–नितान्त आवश्यक है।

हर्बर्ट साइमन इसका महत्व बताते हुए लिखते है कि–''सम्प्रेषण के अभाव में संगठन सम्भव नही है क्योंकि ऐसी स्थिति में कोई थी ऐसा समुह नही रहेगा जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित कर सकें।

वस्तुतः हम पाते है कि सम्प्रेषण का महत्व सभी प्रशासकीय कार्यो, प्रक्रियाओं और गतिविधियों में सर्वोपरी महत्व है। सचार साधनों के बल पर ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम ''एक विश्व'' की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं।

सम्प्रेषण का अर्थ :

सम्प्रेषण का आशय सूचना या सन्देश भेजने की व्यवस्था मात्र नही है। लोक प्रशासन के सम्बन्ध में इसका अर्थ अधिक विस्तृत एवं व्यापक है। अंग्रेजी का ''Communication'' 'शब्द लैटिन के ''Communis'' से बना है जो विचारों सूचनाओं और संवादो की भिन्न–भिन्न स्थानों के व्यक्तियों के पास जाकर किसी विषय अथवा वस्तु के प्रति सामान्य भावना, साझेदारी अथवा सहभागिता उत्पन्न करता है। इस प्रकार संचार का मूल अर्थ सूचना नही बल्कि समझना है। मिलट ने सम्प्रेषण को ''किसी साझे के प्रयोजन की ''साझा–समझ'' (Shared Understanding for A Shared Purpose) के रुप में परिभाषित किया है।

ऑडवे टीड के अनुसार–''सम्प्रेषणा का मूल लक्ष्य समान विषयों पर मस्तिष्को का मेल है।''

हर्बर्ट साइमन के अनुसार,–''सम्प्रेषण वह एक प्रकिया है जिसके द्वारा निणयों को संगठन के एक सदस्य से दूसरे सदस्य तक पहुँचाया जा सके।''

थियो हेमेन के अनुसार–''सम्प्रेषण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचनाएँ एव समझ हस्तान्तारित करने की प्रकिया है।''

लुई ए. ऐलन के अनुसार–''सम्प्रेषण एक व्यक्ति के मस्तिष्क को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क से जोडने वाला पुल है।''

एफ.जी.मेयर के अनुसार ''मानवीय विचार और सम्मतियों को शब्दो, पत्रों एवं सन्देशों के माध्यम से आदान–प्रदान ही सम्प्रेषण है।''

न्यूमैन एव समर के अनुसार–''सम्प्रेषण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों, सम्मतियों अथवा भावनाओं का पारस्परिक आदान–प्रदान है।

पीटर एफ. ड्रकर के शब्दो में–''सम्प्रेषण किसी उद्यम के भीतर विभिन्न कार्यात्मक समूहों की वह क्षमता है, जिसके माध्यम से वे एक–दूसरे के कार्यो और चिन्ताओ को समझते है।''

सी.जी. ब्राउन के अनुसार–''सम्प्रेषण विचारों तथा भावनाओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को स्थानान्तरित करने की प्रकिया है। इसका उद्देश्य सूचना पाने वाले व्यक्ति से समझ पैदा करना है।''

कीथ डेविस के शब्दों में –''सम्प्रेषण वह प्रकिया है जिसमें सन्देश और समझ को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाया जाता है।''

इलियट जैम्बिस के अनुसार ''प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रुप में जाने और अनजाने में व्यक्त की गई भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ और इच्छाएँ सम्मिलित रुप में सम्प्रेषण है।''

इन सभी परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सम्प्रेषण या संचार एक सत्त प्रकिया है। जिसमे दो या दो से अधिक व्यक्ति अपने सन्देशों, विचारों, तर्को, अपनी भावनाओं और सम्मतियों आदि का परस्पर आदान प्रदान करते हैं। यह एक कला है जिसके माध्यम से सूचनाओं का आदान–प्रदान होता है इसके लिए शब्दों, पत्रों हावभावों, मौन, चिह्नों अथवा अन्य उपलब्ध साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

सम्प्रेषण की विशेषताएँ :

1. सम्प्रेषण एक सतत् प्रक्रिया है।
2. सम्प्रेषण में संन्देशों, विचारों, तर्कों, सूचनाओं, भावनाओं आदि का परस्पर विनिमय होता है।
3. सम्प्रेषण में अनेक माध्यमों (लिखित, मौखिक,व सार्केतिक) का प्रयोग किया जा सकता है।
4. सम्प्रेषण की सफलता समय पर आधारित होती है।
5. सम्प्रेषण उर्ध्वगामी, अधोगामी या समतल हो सकता है।
6. सम्प्रेषण, प्रेषक, सूचना, माध्यम, प्राप्तकर्ता तथा प्रत्युत्तर इत्यदि तत्वों से युक्त होता है।

सम्प्रेषण के उद्देश्य :

1. आदेशों और निर्देशों, निर्णयों को सभी सम्बधित व्यक्तियों को सही तथा स्पष्ट पहुँचाना।
2. कार्यकर्ताओं को संस्था की प्रगति से अवगत करना
3. संगठन की नीतियों, योजनाओं और निणयों से कर्मचारियों को अवगत करना।
4. विचारों तथा सूचनाओं का स्वतन्त्र आदान–प्रदान करना।
5. कर्मचारियों से आवश्यक सूचनाएँ और सुझाव प्राप्त करना।
6. समुचित सम्प्रेषण व्यवस्था के माध्यम से संगठन में मधुर मानवीय सम्बन्धों का निर्माण करना।

सम्प्रेषण का महत्व :

सम्प्रेषण संगठन का एक महत्वपूर्ण सिद्वान्त है और संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। प्रभावी सम्प्रेषण के अभाव में प्रबन्ध की कल्पना तक नही की जा सकती है। प्रशासन में सम्प्रेषण के महत्व के स्वीकारते हुए **थियो हेमेन** कहते है कि–''सभी प्रबन्धकीय कार्यो की सफलता सफल सम्प्रेषण पर निर्भर है।'' **पीटर्स** के अनुसार –''अच्छा सम्प्रेषण सुदृढ़ प्रबन्ध की नींव है।''पीटरसन तथा प्लोमैन के अनुसार–''सम्प्रेषण प्रबन्ध का एक आवश्यक कार्य है।'' **एल्विन डॉड** लिखते है कि–''संचार प्रबन्ध की मुख्य समस्या है।''

जॉर्ज आर.टेरी लिखते है कि–''सम्प्रेषण उस चिकने तेल (Lubricating Oil) का कार्य करता है जिससे प्रबन्ध प्रकिया सुगम हो जाती है।'

कीथ डेविस के अनुसार–''एक व्यवसाय के लिए सम्प्रेषण का उतना ही महत्व है जितना कि एक व्यक्ति के लिए रक्तधारा का है।''

आधुनिक सगठनों में सम्प्रेषण का महत्व इस प्रकार जाना जा सकता है :

1. सम्प्रेषण योजना के निर्माण एव उसके क्रियान्वयन दोनो के लिए अनिवार्य है। अनेक प्रकार की सूचनाऐ, तथ्य, ऑंकडे इसी के माध्यम से प्राप्त होते है।
2. सम्प्रेषण के कारण संगठन में गतिशीलता तथा जीवन्त वातावरण बना रहता है। चेस्टर आई. बर्नार्ड के शब्दो में,सम्प्रेषण की एक सुनिश्चित प्रणाली की आवश्यकता संगठनकर्ता का प्रथम कार्य है।
3. संगठन में समन्वय स्थापित करने का सशक्त उपकरण सम्प्रेषण होता है। **न्यूमैन** के अनुसार –''अच्छा सम्प्रेषण समन्वय में सहायक होता है।'' **मेरी कुशिंग नाइल्स** के अनुसार–''समन्वय हेतु अच्छा सम्प्रेषण अनिवार्य है।''
4. अच्छी सम्प्रेषण व्यवस्था के अभाव में सगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति की कल्पना करना व्यर्थ है। चेस्टर आई. बर्नार्ड के शब्दो में –''सम्प्रेषण वह साधन है जिसके द्वारा किसी संगठन में व्यक्तियों को एक समान उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु परस्पर संयोजित किया जा सकता है।''
5. कार्मिको में अभिप्रेरणा, प्रोत्साहन, मनोबल उत्पन्न करने हेतु अच्छे सम्प्रेषण की आवश्यकता होती है। पीटर एफ,ड्रकर के अनुसार– ''सूचनाएँ प्रबन्ध का एक विशेष अस्त्र है। प्रबन्धक, व्यक्तियों को हाँकने का कार्य नही करता वरन् वह उनको अभिप्रेरित, निर्देशित और संगठित करता है। ये सभी कार्य करने हेतु मौखिक अथवा लिखित शब्द अथवा अकों की भाषा ही उसका एकमात्र औजार होती है।
6. संगठनात्मक कार्यकुशलता, प्रभावशीलता, सगंठनात्मक विकास, सुधार एव नवाचार, हेतु सम्प्रेषण की आवश्यकता होती है।
7. सही समय पर सही निर्णय लेने हेतु पर्यात तथ्यों और आकडो की आवश्यकता होती है। यह कार्य भी प्रभावी सम्प्रेषण प्रणाली द्वारा ही सम्भव है।
8. अच्छी सम्प्रेषण व्यवस्था के माध्यम से प्रभावी नियन्त्रण सम्भव हो पाता है।
9. कुशल सम्प्रेषण व्यवस्था कार्मिको में समूह भावना का विकास करती है। उनकी कार्य सन्तुष्टि में अभिवृद्वि करती है।

इस प्रकार सम्प्रेषण की महत्ता को स्पष्ट करते हुए थियो हैमेन ने लिखा है कि–''प्रबन्धकीय कार्यो की सफलता, कुशल सम्प्रेषण प्रणाली पर आधारित होती है।''

सम्प्रेषण प्रकिया:

सम्प्रेषण प्रकिया के प्रमुख चरण निम्नानुसार है :

1. **सम्प्रेशक या संवाददाता (Sender)** : सम्प्रेषण प्रकिया का प्रारम्भ सम्प्रेषक से होता है। सम्प्रेषक जानकारी, ऑंकड़े, विचार,
सूचना, निर्णय, भावना आदि को एक या अधिक व्यक्तियों के पास भेजता है।

2. **सूचना या संदेश (Message)** सम्प्रेषण प्रकिया का दूसरा महत्वपूर्ण चरण संदेश (संवाद) है। संवाद ''अर्थात क्या करना है'' की तैयारी संवाददाता करता है। यह संवाद आदेश, निदेश, सुझाव, शिकायत, प्रशंसा, परिवेदना आदि किसी भी रुप में हो सकता है।

3.**माध्यम (Medium)** माध्यम का तात्पर्य उस स्वरुप से है जिसमे सूचना का संचरण होता है सामान्यतः सम्प्रेषण को पहुँचाने के लिए मौखिक, लिखित, सांकेतिक, प्रतीकात्मक तथा दृश्य माध्यमों को अपनाया जाता है। परन्तु इसमें कौन–सा माध्यम श्रेष्ठ होगा यह संवाद की प्रकृति, संवाद प्राप्तकर्ता की अभिरुचि आदि बातो पर निर्भर करता है।

4. **संवाद प्राप्तकर्ता (Receiver)** संवादप्राप्तकर्ता वह पक्षकार है जिसके पास संवाद भेजा जाता है। इसके अभाव में सम्प्रेषण प्रकिया अधूरी रहती है। अतः यह भी सम्प्रेषण प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है।

5. **प्रतिक्रिया (Feedback)** :संवाद प्राप्तकर्ता द्वारा संवाद को प्राप्त करते ही निर्देशानुसार कार्य किया जाए तथा उसकी प्रतिकिया का ज्ञान संवाद भेजने वाले को कराया जाए , तो वह प्रतिक्रिया या प्रत्युत्तर कहलाता है। संवाद उस समय पूर्ण माना जाता है, जब संवाद को उसी अर्थ में समझा जाये जो अर्थ संवाद भेजने वाले का है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया

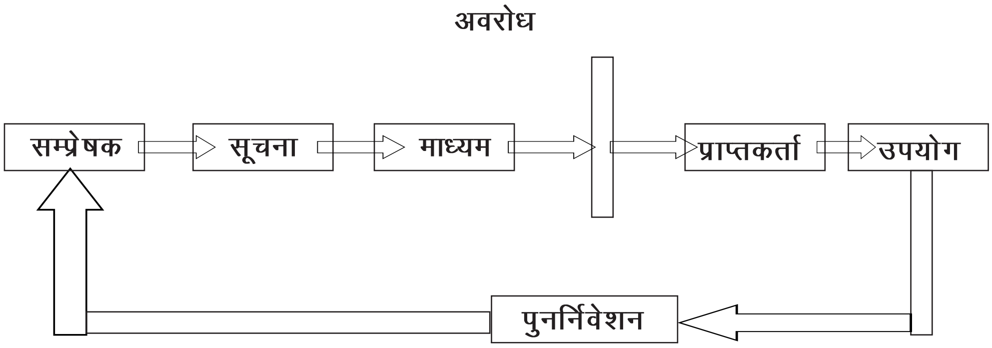

सम्प्रेषण के प्रकार :

1. औपचारिक सम्प्रेषण (Formal Communication) :

जब संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्ता के मध्य औपचारिक सम्बन्ध हो तो उनके बीच संवादों के आदान –प्रदान को औपचारिक सम्प्रेषण कहा जाता है। औरपचारिक सम्प्रेषण नियमों के अन्तर्गत और व्यवस्था में होता है। संगठन की आचार संहिता या नियमावली में उसका उल्लेख होता है। औपचारिक सम्प्रेषण प्रायः लिखित में होते है,ये स्थायी आदेश, वार्षिक प्रतिवेदन, पत्रिकाओं आदि के माध्यम से भेजे जाते हैं।

2. अनौपचारिक सम्प्रेषण (Informal Communication) :

अनौपचारिक सम्प्रेषण वह होता है जो संगठन में कार्यरत कर्मचारियों के व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित होता है। अनौपचारिक सम्प्रेषण में संवादो का आदान–प्रदान संगठन चार्ट द्वारा निर्धारित मार्गो के अनुसार न होकर संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्ता के मध्य पारस्पारिक सम्बन्धों के आधार पर होता है। इसमें हावभाव, नेत्रों से किये जाने वाले इशारे, सिर हिलाना, मुस्कराना, क्रोधित होना आदि माध्यमों का उपयोग किया जाता है। अनौपचारिक सम्प्रेषण को ग्रेपवाइन के नाम से भी जाना जाता है।

3. मौखिक सम्प्रेषण (Verbal Communication)

मौखिक सम्प्रेषण से आशय संवाददाता द्वारा कोई संवाद अथवा सूचना मुख से उच्चारण करकें सवाद प्राप्तकर्त्ता को प्रेषित करने से है। सम्प्रेषण का यह सर्वाधिक लोकप्रिय तथा परम्परागत तरीका है। लॉरेन्स ए. एप्पले के अनुसार मौखिक शब्दो द्वारा पारस्परिक सम्प्रेषण,सम्प्रेषण की सर्वश्रेष्ठ कला है। व्यावसायिक जगत में 75प्रतिशत समय मौखिक सम्प्रेषण में ही व्यतीत होता है।मौखिक सम्प्रेषण के मुख्य साधन दो पक्षो के मध्य प्रत्यक्षवार्ता, टेलीफोन पर बात करना, रेडियो, फिल्में, साक्षात्कार, विचार गोष्ठियां, सम्मेलन या सभाएँ, प्रशिक्षण पाठ्यक्रम टेलीविजन, श्रम–संघ जो की नियोजक और कर्मचारियों के मध्य सम्प्रेषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है, आदि है।

मौखिक सम्प्रेषण के लाभ :

1. श्रेष्ठ नेतृत्व प्रदान करने में सहायक होता है।
2. इस पद्वति से कागजी कार्यवाही कम होती है तो समय और धन दोनो की बचत होती है।
3. मौखिक सम्प्रेषण अधिकार–प्रत्यायोजन को सरल बनाता है।
4. मौखिक सम्प्रेषण में भावाभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली और सरलता से समझने योग्य होती है अतः सन्देहो का तुरन्त निवारण हो जाता है।
5. संगठन में समूह–भावना का विकास होता है।
6. मौखिक सम्प्रेषण लिखित सम्प्रेषण की तुलना में अधिक लचीला होता है।
7. इस पद्वति से सन्देश तुरन्त प्रसारित होते है।
8. मौखिक सम्प्रेषण से संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्ता में मध्य पारस्परिक सद्‌विश्वास में वृद्धि होती है।

मौखिक सम्प्रेषण के दोष :

1 मौखिक सम्प्रेषण के लिए दोनों पक्षों (संवाददाता और संवाद प्राप्तकर्त्ता) का संवाद के प्रेषण के समय उपस्थित होना अनिवार्य होता है। अतः प्रत्यक्ष सर्म्पक के अभाव में सम्प्रेषण की यह विधि अनुपयुक्त है।

2 मौखिक सम्प्रेषण में लिखित साक्ष्य का अभाव होता है,अतः कोई भी पक्ष अपनी स्थिति से विमुख हो सकता है जिससे वैधानिक कार्यवाही कार्यवाही में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

3 मौखिक सम्प्रेषण भावी सन्दर्भ के लिए अनुपयुक्त है।

4 मौखिक सम्प्रेषण में संवाददाता को संवाद के प्रेषण में प्रायः सोचने के लिए समय कम मिलता है। ऐसी स्थिति में दोनो पक्षों के बीच तनाव या मन–मुटाव खड़े हो सकते है।

4. लिखित सम्प्रेषण (Written Communication):

लिखित सम्प्रेषण से तात्पर्य है कि संवाददाता द्वारा किसी संवाद को लिखित या मुद्रित स्वरुप में प्रेषित किया जाये। लिखित सम्प्रेषण हेतु पत्र–पत्रिकाएँ पुस्तके, पोस्टर, बुलेटिन,

रिपोर्ट, आदेश पत्र, डायरिया, हैण्डबुक, मैनुअल, सुझाव पुस्तिकाओं, नियमावली, चार्ट, समाचार–पत्र, संगठन अनुसूचियां आदि का प्रयोग किया जाता है।

लिखित सम्प्रेषण के लाभः

1 लिखित सम्प्रेषण में दोनों पक्षों की प्रत्यक्ष उपस्थिति आवश्यक नहीं है।
2 लिखित सम्प्रेषण विस्तृत और जटिल सूचनाओं के लिए अधिक उपयुक्त है।
3 लिखित संदेश में स्पष्टता आ जाती है जिससे यह अधिक प्रभावशाली हो जाता है।
4 लिखित संवाद प्रमाण का काम करता है तथा भावी सन्दर्भ के लिए भी उसका उपयोग किया जा सकता है।
5 लिखित संदेश द्वारा कई व्यक्तियो को एक साथ सूचना दी जा सकती इस विधि में समय कम लगता है।

लिखित सम्प्रेषण के दोष :

1. इसमें श्रम, समय और धन का व्यय होता है यदि संदेश छोटा हो तो भी संन्देश को लिखकर भेजने में अपव्यय होगा।
2. इस पद्वति से प्रत्येक छोटी–बडी बात हमेशा लिखित रुप में ही प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होता है।
3. लिखित सम्प्रेषण में प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव होने के कारण सन्देश के सम्बन्ध में प्राप्तकर्त्ता की प्रतिकिया का ज्ञान शीघ्र नही हो पाता है।
4. लिखित सम्प्रेषण में संवाद को गोपनीय रखा कठिन होता है।
5. लिखित सम्प्रेषण से कार्य विलम्बन से होते है सगठन में लालफीतशाही बढ़ती है, क्योंकि लिखित सूचना में अनेक औपचारिकताओं का पालन करना पडता है।

मौखिक और लिखित सम्प्रेषण विधियों में से कौन सी विधि श्रेष्ठ है,उसका निर्णय करना एक कठिन कार्य है। वास्तव में दोनों ही विधियों के अपने–अपने गुण तथा दोष हैं अतः संगठन में परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कौनसी विधि को अपनाया जाये। **हैमेन** लिखते है कि–''यदि प्रबन्धक केवल एक विधि को चुनता है तो उसे गम्भीर असफलता का सामना करना होगा । मौखिक और लिखित सम्प्रेषण वास्तव में सम्प्रेषण प्रकिया की दो धाराएँ है,एक सिक्के के दो पहलू है।''

5. सांकेतिक सम्प्रेषण :

सम्प्रेषण की इस विधि में न तो बोलना पडता है और न लिखना होता है, बल्कि सवादों का सम्प्रेषण सकेंतों, हावभावों, इशारों आदि के द्वारा होता है। सांकेतिक सम्प्रेषण में, होठों पर अंगुली रख कर चुप रहने का इशारा, पीठ थपथपाना, आंखो से इशारा करना, अंगूठा उठाकर प्रोत्साहित करना, हँस कर या सिर हिलाकर प्रशंसा करना आदि सम्मिलित है।

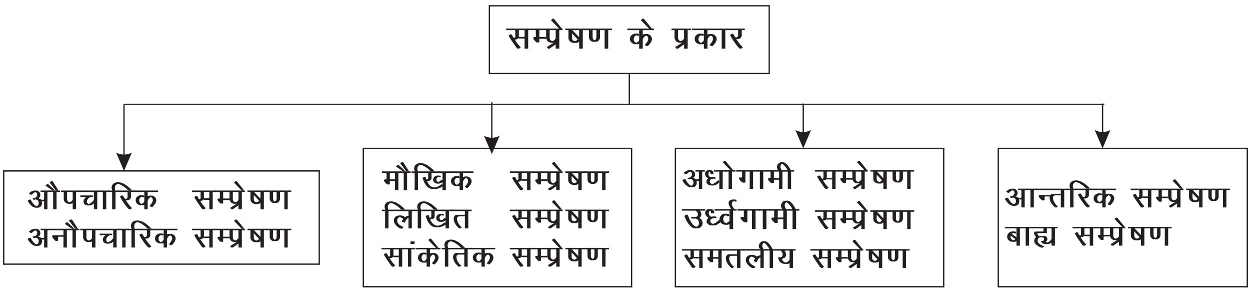

अधोगामी सम्प्रेषण (Downward Communication):

संगठन में उच्च स्तर से निम्न स्तर की और होने वाला संचार अधोगामी संचार कहलाता है जिसमें आदेश, निर्देश, परिपत्र इत्यादि सम्मिलित है।

उर्ध्वगामी सम्प्रेषण (Upward Communication):

संगठन में निम्न स्तरों से उच्च स्तरों की ओर किया जाने वाला संचार उर्ध्वगामी संचार कहलाता है। सामान्यतः आवेदन, प्रतिवेदन, सुझाव, तथ्यात्मक अभियुक्ति, सलाह इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

समतलीय सम्प्रेषण (Equal Level Communication):

संगठन में एक ही स्तर के मध्यम होने वाला संचार समतलीय संचार कहलाता है। किसी अधिकारी द्वारा अपने समकक्ष अधिकारी को भेजा गया पत्र इसका उदाहरण है। उक्त तीनों सम्प्रेषण वस्तुतः आन्तरिक सम्प्रेषण के ही प्रकार हैं।

आन्तरिक सम्प्रेषण (Internal Communication) :

संगठन या विभाग के भीतर का संचार प्रवाह आन्तरिक संचार कहा जाता है। यह अधोगामी, उर्ध्वगामी अथवा समतलीय हो सकता है।

बाह्य सम्प्रेषण (External Communication) :

किसी संगठन द्वारा अपने संगठन या उपक्रम से बाहर के किसी अन्य संगठन से किया गया संचार बाहृय संचार की श्रेणी में आता हैं।

अच्छे सम्प्रेषण की आवश्यक शर्ते :

श्रेष्ठ संचार वह है जिसमें स्पष्टता, एक अर्थता, समय अनुकूलता एवं विशिष्टता हो तथा जो समझ में आने योग्य हो ।

टेरी ने अच्छे संचार की आठ शर्ते बताई है :

1. सर्वप्रथम संचार से सम्बन्धित विषय पर समस्त जानकारी एवं तथ्य जुटायें जाएँ, जिससे की संचार परस्पर विरोधाभासी न रहे।
2. जिससे संचार किया जाना है उसे विश्वास में लिया जाए जिससे की वह उसे स्वीकार करने हेतु तत्पर रहें ।
3. संचार की भाषा एवं शब्दावली एक अर्थ वाली हों ।
4. संचार में अनुभव के आधार पर एक समान धरातल खोजा जाए, जिससे की सूचना प्राप्तकर्त्ता सूचना को समझ सकें।
5. संचार में सन्दर्भ और प्रसंग का ध्यान रखा जाए ।
6. सूचना प्राप्तकर्त्ता का ध्यान आकर्षित रखा जाए।
7. संचार में उदाहरणों एवं रेखाचित्रों का प्रयोग किया जाए।
8. ऐसे संचार से बचा जाए जिससे प्रतिक्रिया देरी से प्राप्त हो।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. संचार दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य तथ्यों, विचारों ,सम्मतियों अथवा भावनाओं का पारस्परिक आदान–प्रदान है।
2. संप्रेषण लिखित, मौखिक एवं सांकेतिक हो सकता है। यह उर्ध्वगामी, अधोगामी या समतल हो सकता है। औपचारिक एवं अनौपचारिक हो सकता है। आन्तरिक एवं बाह्य हो सकता है।
3. सम्प्रेषण प्रक्रिया में : (अ) सम्प्रेषक (ब) सूचना या संदेश (स) माध्यम (द) संवाद प्राप्तकर्त्ता तथा (य) प्रतिक्रिया प्रमुख चरण है।
4. अनौपचारिक सम्प्रेषण को 'ग्रेपवाइन' की संज्ञा दी जाती है। संगठनों में सामान्यतः औपचारिक एवं लिखित सम्प्रेषण साधनों का प्रयोग किया जाता है। जैसे – कार्यालय आदेश, निर्देश , वार्षिक प्रतिवेदन , गोपनीय प्रतिवेदन , सूचना, परिपत्र इत्यादि।
5. लिखित सम्प्रेषण में गोपनीयता रखना कठिन होता है। संदेश प्राप्तकर्त्ता की प्रतिक्रिया का तत्काल ज्ञान नहीं हो पाता है तथा संगठन में लालफीताशाही बढ़ती है।
6. लिखित सम्प्रेषण विस्तृत एवं जटिल सूचनाओं के लिए उपयुक्त है । इसके माध्यम से कई व्यक्तियों को एक साथ सूचना दे सकते है तथा इससे सामान्यतः एक ही अर्थ प्रकट होता है।
7. अच्छे संचार हेतु आवश्यक है कि वह स्पष्ट , एकार्थी, समयानुकूल, प्रांसगिक तथा आवश्यकतानुसार उदाहरणों एवं चित्रों सहित हो।

अभ्यास प्रश्न :

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. संचार को ''प्रशासकीय संगठन की रक्त धारा'' किसने कहा है ?

(अ) मिलेट (ब) पिफनर
(स) एल.डी. व्हाइट (द) विलोबी

2. ''सम्प्रेषण समान विषयों पर मस्तिष्कों का मेल है।'' उक्त कथन किसने कहा है ?

(अ) हर्बर्ट साइमन (ब) पीटर ड्रकर
(स) कीथ डेविस (द) ऑडवे टीड

3. निम्न में से सम्प्रेषण प्रक्रिया का सही क्रम कौनसा है ?

(अ) सम्प्रेषक, सूचना, संवाद प्राप्तकर्त्ता, प्रतिक्रिया, माध्यम
(ब) सम्प्रेषक, सूचना, माध्यम, संवाद प्राप्तकर्त्ता, प्रतिक्रिया
(स) संवाद प्राप्तकर्त्ता, सम्प्रेषक, सूचना, प्रतिक्रिया, माध्यम
(द) सूचना, सम्प्रेषक, प्रतिक्रिया, माध्यम, संवाद प्राप्तकर्त्ता

4. लिखित सम्प्रेषण के सम्बन्ध में कौनसा कथन सही नहीं है ?

(अ) लिखित सम्प्रेषण से संदेश में स्पष्टता रहती है।
(ब) इसका साक्ष्य के रूप में उपयोग नहीं कर सकते है।
(स) लिखित सम्प्रेषण में दोनों पक्षों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है।
(द) लिखित सम्प्रेषण विस्तृत एवं जटिल सूचनाओं के लिए उपयुक्त है ।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. सम्प्रेषण को परिभाषित कीजिए ।
2. ''ग्रेपवाइन'' से आप क्या समझते है ?
3. लिखित सम्प्रेषण के उदाहरण बताइयें।
4. औपचारिक सम्प्रेषण क्या है ?
5. किसने सम्प्रेषण को ''प्रबन्ध का हृदय'' कहा है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. लिखित सम्प्रेषण के क्या लाभ है ?
2. मौखिक सम्प्रेषण के क्या लाभ है ?
3. अच्छे संचार की शर्ते बताइये ।
4. सम्प्रेषण में ''माध्यम'' से आप क्या समझते है ?
5. सम्प्रेषण के उद्देश्य बताइयें।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. सम्प्रेषण को परिभाषित करते हुए इसके उद्देश्यों तथा महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. सम्प्रेषण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए ।
3. सम्प्रेषण प्रक्रिया के विभिन्न चरणों को बताइये।

उत्तरमाला :

1. (अ) 2. (द) 3. (ब) 4. (द)

अध्याय–7
अभिप्रेरणा
(Motivation)

किसी भी उपक्रम में वह निजी क्षेत्र का हो या लोक क्षेत्र का, कर्मचारियों में कार्य की इच्छा और शक्ति को बनाए रखने के लिए अभिप्रेरणा एवं प्रेरणाओं का विशेष महत्व होता है। अभिप्रेरणा मूलतः एक मनोवैज्ञानिक प्रकिया है। जो व्यक्ति को कार्यशील बनाती है। उसे कार्य निष्पादन के लिए प्रेरित करती है। और व्यक्ति उससे अभिप्रेरित होकर ही कार्य करता है। एक व्यक्ति कितना भी योग्य, अनुभवी और कार्य करने की क्षमता क्यों न हो, यदि अभिप्रेरणा नही है तो वह उसका प्रभावशाली रुप में प्रयोग नही कर पायेगा। मानव की बडी–बडी सफलताए अभिप्रेरणा के कारण है, इसलिए रेन्सिस लिकर्ट ने अभिप्रेरणा को ''प्रबन्ध का हृदय'' कहा है।

अभिप्रेरणाः अर्थ एव परिभाषा :

'अभिप्रेरणा''शब्द अंग्रेजी भाषा के मोटीवेशन (Motivation) का हिन्दी रुपान्तर है जो लेटिन भाषा के मूवियर' (Movere) शब्द से बना है। जिसका अर्थ है गतिशील होना। इसी से मोटिव' (Motive) बना है,जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रेरणा अर्थात् इच्छा शक्ति को जाग्रत करना। आधुनिक अर्थ में अभिप्रेरणा शब्द का उपयोग 1938 में अब्राहम मैस्लो द्वारा किया गया था।

अभिप्रेरणा प्रमुख परिभाषाऐं :

माइकेल जे. जुसियस के अनुसार –''अभिप्रेरणा निश्चित कार्यो को प्राप्त करने हेतु स्वंय या किसी अन्य व्यक्ति को एक विशेष प्रकार के कार्य करने हेतु प्रेरित करने की क्रिया है।''

गिलफोर्ड के अनुसार–''अभिप्रेरणा ऐसी कोई विशेष आन्तरिक कारक या दशा है जो क्रिया को आरम्भ करने तथा बनाय रखने की ओर प्रवृत होती है।''

फेड लुथांस के शब्दों में –''अभिप्रेरणा एक प्रक्रिया है जो शारीरिक या मानसिक कमियों या आवश्यकता से शुरु होती है तथा किसी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु व्यवहार को क्रियाशील करती है।''

जूसियस एवं भलेडर के अनुसार–''अभिप्रेरणा किसी को इच्छित कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने की क्रिया है।''

मैक्फरलैण्ड ने लिखा है–''अभिप्रेरणा का विचार मुख्यत मनोवैज्ञानिक है। यह उन कार्यकारी शाक्तियों से संबंधित है जिन्हें व्यक्तिगत रुप में कर्मचारी को अथवा उसके अधीनस्थ को निर्धरित दिशा में कार्य करने या नही करने के रुप में परिभाषित किया जा सकता है ।''

अभिप्रेरणा से तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा, कार्य निष्पादन की तत्परता तथा कार्य करने की इच्छा को जाग्रत करने की प्रक्रिया से है। जिसके अन्तर्गत भावुक होकर मनुष्य अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

अभिप्रेरणा की विशेषताऐं :

1. अभिप्रेरणा एक अनन्त प्रकिया है : यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति कार्योन्मुख होता है। कार्य के प्रति उदासीनता को त्याग कर निरन्तर अधिक कार्य करने की सोचता है। व्यक्ति को कार्य करने के लिए निरन्तर अभिप्रेरित करना पडता है। कार्य के प्रति अनुकूल वातावरण तैयार करने और अनुकूल दशाओं में काम करने के लिए प्रेरित करना की अभिप्रेरणा है। अभिप्रेरणा की क्रिया निरन्तर चलती रहती है।

2. अभिप्रेरणा प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर से आती है : अभिप्रेरणा आन्तरिक है, जो व्यक्ति में स्वयं में होती है इच्छाऐं तथा मौलिक मानवीय आवश्यकताऐं मानवीय व्यवहार के शाक्तिशाली अभिप्रेरक हैं जो अचेतन रुप से कार्य करती रहती हैं यद्यपि किसी बाह्य प्रभाव की तुलना में आन्तरिक अभिप्रेरणा का मानव व्यवहार पर ज्यादा प्रभाव पडता है।

3. सम्पूर्ण व्यक्ति अभिप्रेरित होता है, उसका एक भाग नहीं : प्रत्येक व्यक्ति एक सम्पूर्ण तथा अविभाज्य इकाई है। अतः उसकी सब आवश्यकताएँ परस्पर सम्बन्धित होती है केवल उसका एक भाग नहीं ।

4. अभिप्रेरणा एक मनोवैज्ञानिक धारणा है : मैक्फरलैण्ड के अनुसार ''अभिप्रेरणा मुख्यत' मनोवैज्ञानिक है क्योंकि यह व्यक्ति कि मानसिक शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है वह अपने कार्य में अधिक रुचि ले और कार्य के प्रति नवीनता अनुभव करें।

5. अभिप्रेरणा वित्तीय और गैर वित्तीय हो सकती हैं : वित्तीय अभिप्रेरणा में मजदूरी अथवा वेतन वृद्धि, बोनस, पुरस्कार , पदोन्नति, पेंशन आदि को सम्मिलित किया जाता है जब कि गैर–वित्तीय अभिप्रेरणा में प्रंशसा–पत्र, कार्य मान्यता, सद्व्यवहार, कार्य सुरक्षा , मानवोचित व्यवहार , उ़त्तम कार्य दशाएँ आदि सम्मिलित है।

6. अभिप्रेरणा सन्तुश्टि का कारण नही, परिणाम है : अभिप्रेरणा एक मानसिक विचार है । जिसके द्वारा व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। वर्तमान अथवा सम्भावित प्रलोभन के आधार पर उसे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है, अर्थात व्यक्ति की कार्य पर सन्तुष्टि का परिणाम है।

7. अभिप्रेरणा व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करती है : व्यक्ति चाहे कुशल हो या अकुशल, अभिप्रेरणा द्वारा अधिक कुशलता, मितव्ययिता तथा प्रभावशीलता से कार्य करता है, जब अधिक रुचि से कार्य किया जाएगा तो स्वाभाविक है कि वस्तु की

किस्म में सुधार होगा। लागत मूल्य में कमी आयेगी एंव उत्पादन क्रिया में अपव्यय कम होगा।

8. अभिप्रेरणा और मनोबल में भिन्नता है : अभिप्रेरणा एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव कार्य के लिए प्रेरित होता है जब कि मनोबल स्वयं कार्य करने की इच्छा है जो अभिप्रेरणा द्वारा अधिक प्रभावशली होती है। अभिप्रेरणा से कर्मचारी का मनोबल बढता है और वह अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित होता है।

9. अभिप्रेरणा क्षमता और इच्छा को जोड़ने वाले तत्व है : प्रत्येक व्यक्ति में कार्य करने की क्षमता एव इच्छा शक्ति दोनो होती है , फिर भी वह कार्य नही कर पाता हैं अभिप्रेरणा क्षमता एव इच्छा के मध्य पुल का कार्य करते हुई नई शक्ति प्रदान करती है।

अभिप्रेरणा के उद्देश्य :

अभिप्रेरणा प्रदान करने के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है :

1. कार्मिकों के मनोबल को ऊँचा उठाना, उनमे आत्मविश्वास और निष्ठा की भावना पैदा करना।
2. कार्मिकों को स्वेच्छा से अधिकाधिक कुशलतापूर्वक और मितव्ययिता से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना।
3. कार्मिकों की आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक, मनौवैज्ञानिक एवं शारीरिक आवश्यकताओ को सन्तुष्टि प्रदान करना।
4. कार्मिकों से स्वेच्छिक सहयोग प्राप्त करना।
5. संगठन में स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों का विकास करना
6. कार्मिकों की कार्य कुशलता में अधिकाधिक वृद्वि करना ।
7. बाह्य नियत्रंण के स्थान पर कर्मचारियो में आत्म नियन्त्रण की प्रवृति को प्रोत्साहित करना।
8. कार्मिकों में परस्पर सहयोग एवं सहकारिता की भावना को प्रोत्साहित करना ।
9. उपलब्ध मानवीय साधनों का अधिकतम सदुपयोग करना।
10. सगंठनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना।

अभिप्रेरणा का महत्व :

1 अभिप्रेरणा से संगठन के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना सरल हो जाता है।

2 अभिप्रेरणा कर्मचारियों के मनोबल का निर्माण करने और उसमें वृद्धि करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

3 इससे सगठंन में उपलब्ध मानवीय, भौतिक, वित्तीय संसाधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव हो पाता है।

4. कर्मचारियों को आवश्यक प्रेरणाएँ प्रदान करने से मधुरतम श्रम सम्बन्धो की स्थापना में सहायता मिलती है।
5. कर्मचारियों से स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त करने का एक श्रेष्ठ साधन है।
6. अभिप्रेरणा से कार्मिकों में संतुष्टि का स्तर बढता है। इसके परिणाम स्वरुप वे संगठन में स्थायी सेवा प्रदान करने के लिए उत्सुक रहते है।
7. अभिप्रेरणा से संगठन में स्वस्थ मानव–सम्बन्धों का विकास होता है।

अभिप्रेरणा के प्रकार :

अभिप्रेरणा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और समय–समय पर विभिन्न परिस्थितियो में विभिन्न प्रकार की अभिप्रेरणाओं का उपयोग करना पड़ता है। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की अभिप्रेरणाओं से अभिप्रेरित होते है। अभिप्रेरणा को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. धनात्मक एव ऋणात्मक अभिप्रेरणाऐं :

धनात्मक अभिप्रेरणाऐं : धनात्मक अभिप्रेरणा से तात्पर्य एक ऐसी प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा सम्भावित लाभ या पारिश्रमिक का प्रलोभन देकर कार्मिकों को अपनी इच्छानुसार कार्य लेने हेतु प्रेरित किया जाता है। धनात्मक अभिप्रेरणा के कई रुप हो सकते है जैसे : नकद पारिश्रमिक, श्रेष्ठ कार्य हेतु पुरस्कृत करना, प्रेरणात्मक मजदूरी एव अन्य भत्ते, अच्छे कार्य की प्रशंसा, मान–सम्मान देना, कुशल एव योग्य कार्मिकों की सूचनाएँ प्रसारित करना, उनकी समस्याऍ सुनना और दूर करना, निर्णयों में सम्मिलित करना आदि ।

ऋणात्मक अभिप्रेरणाऐं : ऋणात्मक अभिप्रेरणा में भय, डर, दबाव या नकारात्मक वातावरण से प्रभावित किया जाता है। ऋणात्मक अभिप्रेरणा के कई प्रकार हो सकते है जैसे–वेतन,भत्तो में कमी, डॉंटना, आलोचना का पात्र बनाना, सहयोगियों द्वारा सम्मान नही मिलना, अन्य सहयोगियों द्वारा कार्य में सहयोग नही देना। कठोर नियन्त्रण एव पर्यवेक्षण रखना, जबरन छुट्टी, कार्मिकों की समस्या न सुनना, पदोन्नति रोकना आदि।

ऋणात्मक अभिप्रेरणाओं का प्रयोग अन्तिम विकल्प के रुप में किया जाना चाहिए,क्योकि कुछ समय के लिए तो कर्मचारी काम करने के लिए बाध्य हो सकते है किन्तु वे लम्बे समय तक सन्तोषजनक कार्य नही कर पाते और कर्मचारियो में असन्तोष के कारण विभिन्न प्रकार के संगठनात्मक विवाद व विद्रोह उत्पन्न होने लगते है। सन्तुष्ट श्रमिक ही संगठन के हित में कार्य कर सकते है।

2. मौद्रिक एवं अमौद्रिक अभिप्रेरणाऐं :

मौद्रिक अभिप्रेरणाऐं : जब कर्मचारियो को मुद्रा के रुप में प्रेरणा दी जाती है ताकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तो वह मौद्रिक अभिप्रेरणा कहलाती है। यह एक सामान्य मान्यता है कि अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए कार्मिको को अधिक मजदूरी और लाभाश दिया जाना चाहिए। इससे कर्मचारियो की मूलभूत आर्थिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि होती है। मौद्रिक अभिप्रेरणाओं में वेतन, बोनस, मजदूरी, नकद ईनाम, लाभांश आदि सम्मिलित है।

अमौद्रिक अभिप्रेरणाऐं : अमौद्रिक अभिप्रेरणा का सम्बन्ध कर्मचारियो की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से होता है। अमौदिक अभिप्रेरणा कर्मचारियो को मुद्रा के रुप में न दी जाकर अन्य किसी रुप में दी जाती है इसको प्रमुख प्रारुप है– सम्मान, आदर, भय का अभाव, नौकरी की सुरक्षा, मान्यता, प्रबन्ध में सहयोगिता, पदोन्नति के अवसर, वैयक्तिक स्थिति के प्रति आदर सामाजिक प्रतिष्ठा या दण्ड आदि।

अभिप्रेरणा के प्रकार

- **धनात्मक अभिप्रेरणा**
  - वेतन
  - बोनस
  - पदोन्नति
  - पुरस्कार
  - प्रेरणात्मक,मजदूरी
  - कार्य की प्रशंसा
  - सामूहिक सम्मान
- **ऋणात्मक अभिप्रेरणा**
  - वेतन,भत्तों में कमी
  - पदावनति
  - निलम्बन
  - पदमुक्ति
  - अनुशासनात्मक कार्यवाही,
  - प्राप्त सुविधाओं को बन्द करना
- **मौद्रिक अभिप्रेरणा**
  - वेतन
  - बोनस
  - नकद इनाम
  - लाभांश
  - प्रीमियम मजदूरी
- **अमौद्रिक अभिप्रेरणा**
  - सम्मान
  - आदर
  - प्रशंसा
  - कार्य सुरक्षा
  - प्रमाण पत्र
  - अवकाश बढाना
  - अच्छी कार्यदशाऐं देना
  - निर्णय मे सहभागिता
  - अधिकारों का प्रत्यायोजन
- **व्यक्तिगत अभिप्रेरणा**
  - प्रशंसा पत्र
  - प्रमाण पत्र
  - सम्मान
  - विकास के अवसर
  - नौकरी की सुरक्षा
- **सामुहिक अभिप्रेरणा**
  - लाभ सहभागिता
  - समूह से सुझाव मांगना
  - विभागीय पारितोषिक
  - अधिलाभांश
  - समितियों का निर्धारण

3. व्यक्तिगत एव सामूहिक अभिप्रेरणाऐं : व्यक्तिगत अभिप्रेरणा में किसी कर्मचारी अथवा कार्मिक को कार्य के प्रति अधिक प्रोत्साहित करने के लिए व्यक्तिगत रुप से अभिप्रेरित किया जाता है उदाहरण–स्वरुप–प्रशंसा पत्र, प्रमाण पत्र, सम्मान, विकास के अवसर,नौकरी की सुरक्षा आदि। यह नकारात्मक और सकारात्मक दोनो में रुप में प्रदान की जा सकती है। **सामूहिक अभिप्रेरणा** जैसे कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि किसी समूह से सम्बन्ध रखती है। अर्थात ये अभिप्रेरणा किसी एक व्यक्ति को न दी जाकर कर्मचारियो के समूह को दी जाती है उदाहरणार्थ : पूरे विभाग को पुरस्कार देना, समूह से सुझाव मांगना, लाभ सहभागिता, समितियों का निर्धारण आदि। सामूहिक अभिप्रेरणा से कर्मचारियों में आपसी मतभेदो और संघर्ष की सम्भावना कम होती है और, समूह भावना का विकास होता है।

अभिप्रेणा की विधियाँ या तकनीकें :

1. उद्देश्यों को स्पश्ट करना होना : सगंठन में कार्यरत कर्मचारी को संगठनात्मक उद्वेश्य और लक्ष्य की पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराई जानी चाहिए तथा साथ यह भी बताया जाना चाहिए कि उनके व्यक्तिगत हित संस्थागत हित से अलग नहीं है।

2. कुशल नेतृत्व : सगंठन में प्रबन्धकों का दायित्व है कि अपने कर्मचारियो की समस्या को जाने तथा उन्हें दूर करने का प्रयास करें तथा साथ ही समय–समय पर उनको मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन करे । इससे कर्मचारियो में आत्मविश्वास और संतोष की भावना का विकास होगा इसके परिणाम स्वरूप कर्मचारी स्वयं अभिप्रेरित होकर निष्ठार्पूक काम करेगा ।

3. सहयोग एवं भागीदारी : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह मे रहकर कार्य करना चाहता है। यदि सगंठनात्मक निर्णय या कार्यो मे उसे भागीदारी बनाया जाये, तो वह अभिप्रेरित होकर सभी कार्यो में सहयोग प्रदान करने लगता हैं । क्योकि सहभागिता उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की संतुष्टि करती है।

4. प्रतिस्पर्धा या चुनौती : संगठन में विभिन्न व्यक्तियों, इकाइयों तथा विभागों के मध्य स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देकर कर्मचारियों को अभिप्रेरित किया जा सकता है, तथा साथ ही प्रबन्धक संस्था में लक्ष्य को चुनौती के रूप में रख कर कर्मचारियों को अभिप्रेरित कर सकते है। चुनौती का सफलतापूर्वक सामना कर लेने पर तत्काल पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

5. अभिप्रेरणा के अन्य साधन : आदर्श आचरण प्रस्तुत करके, कार्यो को मान्यता प्रदान करके, कार्य की सुरक्षा प्रदान करके, कल्याणकारी सुविधाए देकर, प्रशिक्षण के माध्यम से, अच्छी कार्य दशाऐं उपलब्ध करा कर भी कार्मिकों को अभिप्रेरित किया जा सकता है।

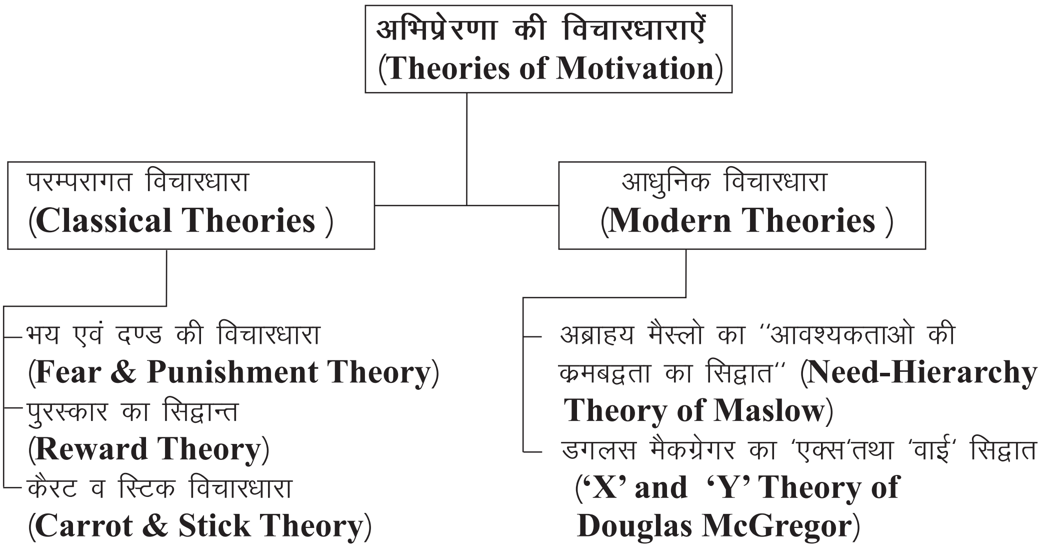

अभिप्रेरणा की विचारधाराऐं :

विभिन्न प्रवन्धशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने समय–समय पर अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्वातों अथवा विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन विचारधाराओं को दो वर्गो में अभिव्यक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में हम परम्परागत विचारधाराओं के रख सकते है और दूसरे वर्ग के रुप में आधुनिक विचारधाराओ को रख सकते है।

परम्परागत विचारधाराऐं निम्न प्रकार है :

1. भय एव दण्ड की विचारधारा
2. पुरस्कार का सिद्वान्त
3. कैरट व स्टिक विचारधारा।

आधुनिक विचारधाराऐ :

1. अब्राहम मैस्लों का आवश्यकता की क्रमबद्रता का सिद्वान्त
2. डगलस मैकग्रेगर का 'एक्स'' तथा ''वाई'' सिद्वान्त

अभिप्रेरणा सम्बन्धी कई सिद्वान्त प्रचालित है। जिनमें में हम दोनों आधुनिक विचारधाराओं का विस्तृत रुप से अध्ययन करेगें :

1. अब्राहम मैस्लो का आवश्यकता की क्रमबद्धता का सिद्वान्त : विख्यात मनोवैज्ञानिक प्रो.अब्राहम मैस्लों ने 1943 के ''सांइकॉलोजिकल रिव्यू'' में ए. थ्योरी ऑफ ह्यूमन मोटिवेशन'' **(A Theory of Human Motivation)** शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में मैस्लों ने अभिप्रेरणा के सिद्वान्त को ''आवश्यकताओं की क्रमबद्वता'' को आधार पर विकसित किया है। मैस्लो का विचार है कि व्यक्ति की कतिपय आवश्यकताऐं होती है और ये आवश्यकताऐं उसे अभिप्रेरित करती है। व्यक्ति किसी भी स्तर पर पूर्णातः सन्तुष्ट भी नही होता है। ज्योंही उसकी एक आवश्यकता पूरी हो जाती है, दूसरी आवश्यकता जाग्रत हो जाती है अर्थात आवश्यकताओं की क्रमबद्वता चलती रहती है। मैस्लो ने प्राथमिकता के आधार पर आवश्यकता को पाँच वर्गो में विभक्त किया है :

1. भारीरिक आवश्कताएँ : मैस्लो व्यक्तियों की सर्वप्रथम और आधारभूत आवश्यकता के रुप में शारीरिक आवश्यकताओं की पहचान करते है। वह शारीरिक आवश्यकताओं को जीवन–निर्वाह की मूलभूत आवश्यकता मानते है। इसमें भोजन, जल, वस्त्र, आवास, शारीरिक स्वास्थय आदि प्रमुख है। ये आवश्यकताऐ व्यक्ति को कार्य करने के लिए सबसे अधिक प्रेरित करती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर व्यक्ति एकदम असन्तुष्ट रहता है। उसके लिए अपना जीवन यापन करना भी कठिन हो जाता है। प्रथम स्तर की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होने पर ही अन्य आवश्यकताऐं जन्म लेती है।

2. सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ : शारीरिक मूलभूत आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हो जाने के उपरान्त व्यक्ति सुरक्षा, स्थायित्व और निश्चितता की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने का प्रयत्न करता है। यदि प्रथम स्तर की आवश्यकताओ से व्यक्ति पर्याप्त सन्तुष्ट हो जाता है तो वे द्वितीय स्तर की आवश्यकताऐं सर्वोच्च स्थान प्राप्त लेती है। व्यक्ति अपने रोजगार की सुरक्षा चाहता है और उसमें स्थायित्व तथा निश्चितता पाने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कर्मचारी की नियुक्ति अस्थाई है तो वह अपनी नौकरी को स्थाई बनाने का प्रयास करेगा इस हेतु वह ऐसी नौकरी में जाने का प्रयास करेगा जहॉं वेतन कार्यकाल आदि की सुरक्षा हो ।

3. सामाजिक आवश्यकताएँ : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहने के लिए उसे अनेक सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना आवश्यक है। अतः वह व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तः क्रिया करना चाहते है और प्रयास करते है कि समाज उन्हे स्वीकार करें। उस के मन में यह आशंका बनी रहती है कि कही उसका सामाजिक बहिष्कार न हो जाए। प्रथम दोनो स्तर की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होने पर सामाजिक आवश्यकताऐं सर्वोच्च हो जाती है और मनुष्य अपनत्व, सहयोग, स्नेह मित्रता आदि के लिए प्रयास करता है। अतः ये आवश्यकाऐ उनको अभिप्रेरित करने में सहायक होती है।

4. सम्मान तथा स्वाभिमान की आवश्यकताऐं : सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के बाद व्यक्ति सम्मान और स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। व्यक्ति चाहता है कि उसे समाज में प्रतिष्ठा मिले,जिस संस्था में वह काम कर रहा है उसमें सम्मान और मान्यता मिले, उसके अहम् की तुष्टि हो आदि। प्रत्येक व्यक्ति इन आवश्यकताओ की अधिकाधिक सन्तुष्टि चाहता है। किन्तु सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि प्रायः नही हो पाती । कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो जाती है और कुछ की जीवन–पर्यन्त भी नही हो पाती। एक व्यक्ति जितने ऊँचे पद पर होगा, उसकी सम्मान और स्वाभिमान की आवश्यकताऐं भी उतनी अधिक ऊँचे स्तर की होंगी । अनेक बार संगठन निम्न स्तर पर कार्य करने वाले कर्मचारियों को इन आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान नही करते और न ही इनकी सन्तुष्टि को वे अधिक महत्व देते है। जब व्यक्ति की सम्मान की आवश्यकताऐं अपूरित रहती है तो वह अपने आपको कमजोर, असहाय और अधीनस्थ समझने लगता है। अतः सम्मान की आवश्यकता व्यक्ति को अभिप्रेरित करने वाली प्रमुख शक्ति है।

5. आत्म विकास सम्बन्धी आवश्यकताएँ : मैस्लो के अनुसार आवश्यकताओं की क्रमबद्धता में अन्तिम स्थान आत्मविकास या आत्म परिपूर्ति की आवश्यकताओ का है, अर्थात् इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर व्यक्ति सबसे अन्त में ध्यान देता है । प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि जो कुछ उसमें बनने कि योग्यता है,वह उसके योग्य बन जाए–अर्थात् आत्म विकास की योग्यता की पूर्ति का वह आकॉक्षी होता है। जैसे कि मैस्लो कहते है एक मनुष्य जो सकता है, वह उसे अवश्य हो जाना चाहिए । मैस्लो लिखते है ''एक संगीतकार को संगीत रचना करनी चाहिए, एक कलाकार को रंग करना चाहिए, एक कवि को लिखना चाहिए, यदि वह अन्ततोगत्वा प्रसन्न होना चाहता है। एक व्यक्ति जो हो सकता है उसे वह होना चाहिए, इन्ही आवश्यकताओ को हम आत्म विकास कह सकते है। इस स्तर पर व्यक्ति जीवन के अनुभव से आनन्द, प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करते हैं।

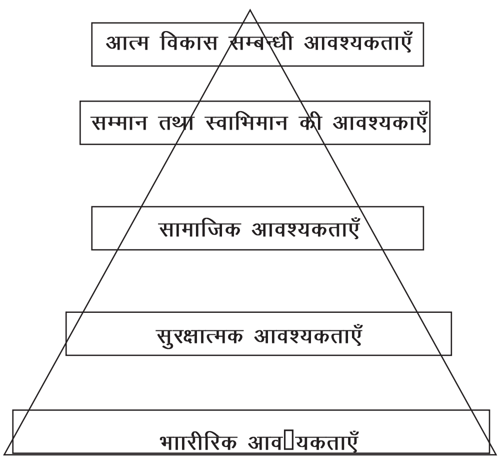

मैस्लों ने उपर्युक्त पाँच आवश्यकताओं को उच्च स्तरीय तथा निम्न स्तरीय आवश्यकताओं के रुप में वर्गीकृत किया है। इसमें शारीरिक एवं सुरक्षात्मक आवश्यकताओं को निम्न–स्तरीय आवश्यकताओं की संज्ञा दी है जबकि प्रेम, स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास की आवश्यकता को उच्च स्तरीय आवश्यकता माना है। मैस्लो का मत है कि उच्च स्तरीय आवश्यकताऐं आन्तरिक रुप से संतुष्ट होती है जब कि निम्न स्तरीय आवश्यकताऐं बाह्य रुप से संतुष्ट होती है। वास्तव में देखा जाए तो समाज में व्यक्ति प्रत्येक स्तर पर आंशिक रुप से सन्तुष्ट और आंशिक रुप से असन्तुष्ट पाए जाते है अर्थात किसी भी सगठन में उच्च स्तरीय आवश्यकताऐं निम्न स्तरीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हेतु प्रतीक्षा नही करती है। सभी प्रकार की आवश्यकताऐं एक ही साथ क्रियाशील रहती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मैस्लो का आवश्यकता – प्राथमिकता क्रम केवल सामान्य व्यवहार की जानकारी देने में समर्थ है। मैस्लो स्वय यह मानते है कि उनका यह सिद्धान्त अधिक कठोर नही है। इसमें विचलन भी पाए जाते है वह कहते है कि मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएँ और इच्छाएँ जिस समाज और संस्कृति में वह रहते हैं उसके अनुरुप होती हैं।

आलोचनात्मक मूल्याकन :

अब्राहम मैस्लों का सिद्वान्त आशावादी दृष्टिकोण पर आधारित है और यह प्रबन्ध जगत् में काफी लोकप्रिय भी है और इस बात पर बल देता है कि विभिन्न प्रकार की मानवीय आवश्यकताओ को प्राथमिकता के आधार पर सन्तुष्ट करने का प्रयास किया जाना चाहिए। मैस्लों का सिद्वान्त उपयोगी है तथापि अनेक दृष्टियों से इसकी आलोचना, विभिन्न प्रबन्ध शास्त्रियों नें और अनुसन्धानकर्ताओ द्वारा की गई है। इसके आलोचकों में वारेन बेनिस, क्रिस आर्ग्रेरिस, सेलेस, एल.जी. ब्रिडवेल आदि प्रमुख हैं।

– मैस्लों का सिद्वान्त अपनी अस्पष्ट , दार्शनिक और अति सरल व्याख्या के कारण भी आलोचनाओ का शिकार हुआ है। इस सिद्वान्त में आनुभविक के स्थान पर दार्शनिक व्याख्याओं का प्रयोग किया गया है, अतः ये सिद्वान्त अस्पष्टतओं से परिपूर्ण है। आत्म विकास की आवश्यकताए की मैस्लों की व्याख्या काफी अस्पष्ट तथा अति सामान्य है।

–''बेरनार्ड बास ''तथा गेराल्ड बैरेट यह मानते है कि मैस्लो का सिद्वान्त रुचिकर और लोकप्रिय तो है पर सत्य नही है।

''माइकल नेश'' भी मानते है कि मैस्लो का सिद्वान्त रुचिकर है पर वैध नही है।

–आवश्यकताओ की क्रमबद्धता का सिद्वान्त व्यवहारिक धरातल पर खरा नही उतर सकता। यह आदर्शवादी और सैद्वान्तिक अधिक है व्यवहारिक कम है,यह केवल मनोवैज्ञानिक तथ्यों का एकत्रीकरण हैं इसकी आनुभाविक पुष्टि नही हो सकती है।

–आवश्यकताओं का जो वर्गीकरण किया गया है वह प्रत्येक क्षेत्र में उपयुक्त नही माना जा सकता।

–यह आवश्यक नही है कि निम्न स्तर की आवश्यकताएँ पूरी होने पर ही उच्च स्तर की आवश्यकताऍ अभिप्रेरणा दे सकेगी।

–आवश्यकताओ का महत्व,देश, काल, संस्कृतियों तथा पारिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनीय होता है। जो

आवश्यकताऐं एक देश में या एक क्षेत्र में प्राथमिक हो सकती है तो वे ही दूसरे देश या क्षेत्र में गौंण हो सकती है।

–सामान्यतया व्यक्ति इतना अधिक दूरदर्शी नही होना है कि वह अपनी भावी आवश्यकताओं का पहले से ही अनुमान लगाकर प्राथमिकता क्रम निर्धारित कर सके।

–संतुष्ट आवश्यकताऐं व्यक्ति को सकारात्मक तरीके से उचित दिशा में अभिप्रेरित करे यह आवश्यक नही है। उसे निष्क्रियता की और भी ले जा सकती है।

उपर्युक्त तर्क आलोचनाऐं मैस्लो ने सिद्वान्त की उपयोगिता को समाप्त नही कर सकती । मैस्लो ने विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की और ध्यान आकर्षित किया है और अभिप्रेरणा विज्ञान को अधिक उन्नत बनाया है।

डगलस मैकग्रेगर का 'एक्स' एवं 'वाई'सिद्वान्त :

प्रसिद्ध व्यवहारवादी और मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर डगलस मैकग्रेगर ने 1960 में अपनी पुस्तक "द ह्यूमन साइड ऑफ एन्टरप्राइज"(The Human Side of Enterprise) में मानव प्रकृति और व्यवहार के सम्बन्ध में किसी प्रबन्धक द्वारा रखी जा सकने वाली मान्यताओं के आधार पर दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिपादन किया। "एक्स सिद्वान्त" और"वाई सिद्वान्त । "एक्स सिद्वान्त" जहाँ निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है वही "वाई–सिद्वान्त आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

'एक्स' सिद्वान्त : एक्स सिद्वान्त की प्रमुख मान्यताऐं निम्नानुसार है :

1. एक सामान्य व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य काने को उत्सुक नही होता है। और कार्य करने से दूर रहना चाहता है।
2. एक सामान्य व्यक्ति में कार्य के प्रति प्रायः अरुचि की भावना होती है।
3. अधिकांश व्यक्ति महत्वाकांक्षी नही होते अतः उनमें "कुछ कर दिखाने" की भावना नही होती है।
4. अधिकांश व्यक्तियों में उत्तरदायित्व वहन क्षमता बहुत कम होती है, और वे यह चाहते हैं कि उन्हे समय –समय पर अधिकारियो का निर्देशन प्राप्त होता रहे ताकि वे निर्देशानुसार काम करते रहे । अर्थात उन्हे निर्देशित होना अधिक पसन्द होता है।
5. सामान्य व्यक्ति स्वार्थ केन्द्रित होता है तथा संगठन के उद्देश्य के प्रति उदासीन रहता है।
6. अधिकाश व्यक्तियों में प्रबन्धकीय समस्याओं को सुलझाने की रचनात्मक क्षमता नही होती है।
7. सामान्य व्यक्ति परिवर्तन विरोधी होते है,नवीनता को पसन्द नही करते है तथा सुरक्षा चाहते है।
8. सामान्य व्यक्तियो से कार्य लेने के लिए उन पर दबाव डालना या उन्हे भय दिखाना आवश्यक है।

   डराना, लताड़ना, धमकाना आदि नकारात्मक उपायों को काम में लेना चाहिए क्योंकि व्यक्ति तभी कार्य करने को तैयार होते है।
9. अधिकांश व्यक्ति वित्तीय प्रलोभन के आधार पर भी कार्य करते है। यदि उन्हें अधिक पारिश्रामिक दिया जाएगाा तो वे अधिक समय तक और अच्छा कार्य करने के लिए तत्पर होगे।
10. अधिकांश व्यक्ति परम्परागत ढग से कार्य सम्पन्न करना चाहते है।

यह विचारधारा सगठन में निकट के पर्यवेक्षण व कड़े नियन्त्रण के साथ–साथ अधिकारो के केन्दीकरण पर भी जोर देती है। अधिकाश परम्परावादी सिद्वान्त उपरोक्त मान्यताओ पर आधारित है।

कालान्तर में मैकग्रेगर ने यह अनुभव किया की बदली हुई परिस्थितियो में मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित उपरोक्त मान्यताए सही नही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। स्वतन्त्र समाज में रहता है, उसकी आवश्यकाओं, शिक्षा तथा रहन–सहन के स्तर में परिस्थितियों के अनुसार सुधार होता रहता है। वह प्रबन्धक से अच्छे व्यवहार की आशा करता है। यह मानव–स्वभाव है कि वह दण्ड और भय के वातावरण के विरुद्ध विदोह कर सकता है। मैकगेगर ने यह अनुभव किया है कि प्रबन्धकीय क्रियाओं के सकल सचालन के लिए व्यक्ति की प्रकृति तथा उसके प्रेरक विचारों को समझना आवश्यक है। अपनी इस परिवर्तित विचारधारा के आधार पर मैकग्रेगर ने वाई–सिद्वान्त का प्रतिपादन किया।

वाई सिद्वान्त : मैक्गेगर ने 'एक्स' सिद्वान्त को मानव स्वभाव ने अनुकूल नही माना है और सगठनात्मक उद्वेश्यो की पूर्ति में इसे सहायक नही माना है अतः उन्होने एक्स सिद्वान्त के दोषो को दूर करने के लिए 'वाई' सिद्वान्त का प्रतिपादन किया। यह मानवीय मूल्यो तथा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पर आधारित है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य करना चाहता है और उसमें आशावादी तथा रचनात्मक प्रकृति होती है।

वाई सिद्वान्त की मान्यताएँ :

1. व्यक्ति स्वतन्त्र वातावरण चाहता है और प्रबन्धक से सद्व्यवहार की अपेक्षा करता है।
2. व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य करना चाहता है, अतः उसे कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए।
3. कार्य करना उतना ही स्वभाविक है जितना की खेलना और विश्राम करना आदि।
4. एक औसत व्यक्ति महत्वाकांक्षी होता है वह स्वयं ही दायित्व को निभाना सीख लेता है।
5. सामान्य व्यक्ति सुस्त नहीं होता है उसमें, साहस, शक्ति, आशा आदि गुण विद्यमान होते है। प्रबन्धकों को चाहिए कि इन गुणों के समुचित विकास के लिए कर्मचारियो को पूरा अवसर प्रदान करें।
6. बाह्य नियन्त्रण, भय, प्रताड़ना, कठोर, अनुशासन जैसी विधियां ही व्यक्ति को कार्य के लिए प्रेरित नही करती वरन् स्वयं निर्देशित और नियत्रित होता है तथा जिस कार्य के लिए उसे नियुक्त किया जाता है,उसको पूरा करना अपना उत्तरदायित्व समझता है।
7. व्यक्ति में उत्तरदायित्व से बचने की प्रवृति स्वभाविक नही वरन् इसका मूल कारण प्रेरणा का अभाव होता है।
8. व्यक्ति, कार्य–निष्पादन केवल वित्तीय प्रलोभन के कारण ही नहीं करता है बल्कि गैर वित्तीय प्रलोभन भी उसे कार्य करने

के लिए अभिप्रेरित करते है। इसी प्रकार कार्य–निष्पादन के लिए अभिप्रेरणा केवल पुरस्कार से ही नही मिलती बल्कि यह भी आवश्यक है कि उसकी उपलब्धियो की प्रशसा की जाए। कार्य को मान्यता देना भी अपने आप में एक पुरस्कार है।

9. संगठन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने की सृजनात्मक विवेक शक्ति समान्यतः सभी लोगो में पाई जाती है। यह कुछ में कम और कुछ में अधिक होती है। प्रबन्ध को चाहिए कि वह कर्मचारियों से काम लेते समय इन गुणों का लाभ उठाए।
10. आधुनिक औद्योगिक युग में व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता का आशिंक उपयोग ही सम्भव हो पाता है।

वाई सिद्धान्त लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित है और कर्मचारियों की सन्तुष्टि पर बल देता है। इस सिद्धान्त का मूलभूत उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक रुप में उन दशाओं का सृजन करना है, जिनके माध्यम से संगठन अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। मैंकग्रेगर के शब्दो में –''एक प्रभावशाली संगठन वह है जहा नियन्त्रण तथा निर्देशन के स्थान पर निष्ठा और सहयोग स्थापित हो गया है तथा प्रत्येक निर्णय में उससें प्रभावित होने वाले व्यक्ति सम्मिलित किए जाते है। वाई सिद्धान्त सहभागिता विचारधारा के महत्व पर बल देती है। जिसमें कर्मचारियों को अधिक कार्य लेने के लिए अभिप्रेरित करने हेतु सस्था के प्रत्येक स्तर पर भागीदारी दी जानी चाहिए।

मूल्यांकन :

मैकग्रेगर का ''एक्स'' और ''वाई'' सिद्धान्त प्रबन्ध जगत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व लोकप्रिय सिद्धान्त हैं। यह संगठनों के संचालन में काफी उपयोग सिद्ध हुआ है तथा साथ ही यह सिद्धान्त मानवीय प्रकृति को समझने में काफी सहायक है। मैकग्रेगर के विचारों की प्रशंसा के साथ–साथ निम्न आधारों पर आलोचना भी की गई है।

1. मैकग्रेगर का सिद्धान्त मात्र मान्यताओं पर आधारित है न कि किसी आनुभाविक शोध कार्यों पर।
2. ''एक्स'' और ''वाई'' सिद्धान्त मानवीय प्रकृति की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि मानवीय व्यवहार काफी जटिल होता है तथा विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। वह एक स्थिति में आलस्य प्रदर्शित कर सकता है, वही दूसरी स्थिति में सक्रिय हो सकता है।
3. सिद्धान्त ''एक्स'' पूर्णतया नकारात्मक और निराशावादी दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण आज के समय में काफी सीमित महत्व रखता है। ''यदि कर्मचारी आलसी, तटस्थ, अनिच्छुक, जिम्मेदारी से कतराने वाला,असहयोगी प्रकृति वाला है तो सिद्धान्त ''वाई'' के अनुसार इसके कारण संगठन के प्रबन्ध की तकनीक व नियन्त्रण व्यवहारो में खोजे जाने चाहिए। फिर भी यह सिद्धान्त प्रबन्ध जगत पर प्रभावशाली प्रभाव छोड़ते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मैकगेग्रर की अभिप्रेरणा के सिदान्त ''एक्स'' और ''वाई'' मानवीय प्रकृति की वितरीत मान्यताओं पर आधारित है। वर्तमान में प्रशासन सिद्धान्त वाई की मान्यताओ की और बढ रहा है। जो वर्तमान परिस्थितियो की मांग भी है, और ऐसा होना भी चाहिए।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. अभिप्रेरणा शब्द अंग्रेजी भाषा के ''Motivation'' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। जो लैटिन भाषा के ''Movere'' से बना है। जिसका अर्थ है 'आगे बढ़ना' या 'गतिशील होना' ।
2. अभिप्रेरणा निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु स्वयं अथवा अन्यों को प्रेरित करने की क्रिया है।
3. अभिप्रेरणा एक सतत् प्रक्रिया है जो व्यक्ति के अन्दर से आती है और व्यक्ति की संतुष्टि का परिणाम है न कि कारण यह व्यक्ति की कार्य क्षमता में वृद्धि करती है।
4. अभिप्रेरणा धनात्मक तथा ऋणात्मक , मौद्रिक तथा अमौद्रिक , व्यक्तिगत तथा सामूहिक हो सकती है।
5. अभिप्रेरणा की परम्परागत विचारधाराओं में निम्नलिखित प्रमुख है :
   (अ) भय अथवा दण्ड का सिद्धान्त
   (ब) पुरस्कार का सिद्धान्त
   (स) पुरस्कार एवं दण्ड का सिद्धान्त ।
6. आधुनिक विचारधाराओं में मैस्लों का 'आवश्यकताओं की क्रमबद्धता का सिद्धान्त' तथा डगलस मैकग्रेगर का ''एक्स'' तथा ''वाई'' सिद्धान्त महत्वपूर्ण है।
7. मैस्लो के अनुसार आवश्यकताऐं व्यक्ति को अभिप्रेरित करती है ।
8. मैस्लो ने व्यक्ति की आवश्यकताओं को पाँच समूहों में बाँटा है। (1) शारीरिक आवश्यकताऐं (2) सुरक्षात्मक आवश्यकताऐं (3) सामाजिक आवश्यकताऐं (4) सम्मान एवं स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताऐं (5) आत्मविकास सम्बन्धी आवश्यकताऐं।
9. डगलस मैकग्रेगर का ''एक्स' सिद्धान्त नकारात्मक मान्यताओं पर आधारित है। इसके अनुसार व्यक्ति सामान्यतः कार्य से बचने की प्रवृत्ति वाला, अमहत्वाकांक्षी तथा उत्तरदायित्व वहन की क्षमता न रखने वाला होता है।
10. डगलस मैकग्रेगर का ''वाई' सिद्धान्त सकारात्मक मान्यताओं पर आधारित है। इसके अनुसार व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य करने वाला, महत्वाकांक्षी, उत्तर दायित्व की क्षमता एवं इच्छा रखने वाला तथा मौद्रिक एवं अमौद्रिक दोनों प्रकार की अभिप्रेरणाओं से प्रेरित होने
वाला होता है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

. निम्न में से किसने अभिप्रेरणा को ''प्रबन्ध का हृदय'' कहा है ?

(अ) रेन्सिस लिकर्ट (ब) एल.डी.व्हाइट
(स) विलोबी (द) ऑडवे टीड

2. अमौद्रिक अभिप्रेरणाओं में कौनसा सम्मिलित नहीं है ?

(अ) प्रशंसा (ब) आदर
(स) निर्णय में सहभागिता (द) बोनस

3. निम्न में से कौनसा ऋणात्मक अभिप्रेरणा का उदाहरण नहीं है ?

(अ) पदावनति (ब) निलम्बन
(स) पुरस्कार (द) पदोन्नति

4. निम्न में से कौनसी आवश्यकता को मैस्लो ने उच्चतम स्तर की आवश्यकता बतलाया है ?

(अ) शारीरिक आवश्यकता
(ब) आत्म विकास सम्बन्धी आवश्यकता
(स) सामाजिक आवश्यकता
(द) स्वाभिमान/सम्मान संबंधी आवश्यकता

5. मैकग्रेगर का 'वाई' सिद्धान्त व्यक्ति के सम्बन्ध में किस प्रकार की मान्यताऐं रखता है ?

(अ) सकारात्मक (ब) नकारात्मक
(स) तटस्थ (द) मानकीय

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. अंग्रेजी का **"Motivation"** शब्द किस भाषा से उत्पन्न हुआ है ?
2. अभिप्रेरणा की कोई दो विशेषताऐं बतलाइयें ?
3. मैस्लो द्वारा बतलाये गये आवश्यकताओं के पाँच समूहों के नाम लिखिए है।
4. अमौद्रिक अभिप्रेरणाऐं कौन–कौनसी है ?
5. मैग्रेगर के अभिप्रेरणा के सिद्धान्तों के नाम बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित कीजिए।
2. अभिप्रेरणा की विशेषताओं को बतलाइये।
3. अभिप्रेरणा का क्या महत्व है ?
4. अभिप्रेरणा के प्रमुख उद्देश्य क्या है ?
5. अभिप्रेरणा के 'एक्स' सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताऐं बताइये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित करते हुए, इसके महत्व तथा प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
2. अब्राहम मैस्लों के 'आवश्यकता की क्रमबद्धता' के सिद्धान्त को समझाइयें।
3. मैकग्रेगर के 'एक्स' और 'वाई' सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं को बताइये।

उत्तरमाला :

1. (अ) 2. (स) 3. (स)
4. (ब) 5. (अ)

अध्याय–8
निर्णय निर्माण
(Decision Making)

मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट प्रकार " प्रशासनिक व्यवहार" हैं। प्रशासनिक व्यवहार उन व्यक्तियों और समूह के व्यवहार को कहते है, जो कि प्रशासनिक संगठनों में औपचारिक अथवा अनौपचारिक रुप से कार्य करते है। विभिन्न वैज्ञानिकों ने मनुष्य के प्रशासनिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन किया हैं जिनमें हबर्ट साइमन, राबर्ट मरर्ट, चेस्टर बर्नाड, पीटर ब्लाउ, कर्ट लेविन, रेन्सिस लिकर्ट इत्यादि प्रमुख हैं। हबर्ट साइमन से अपनी पुस्तक "एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर" (Administrative Behaviour) जो वर्ष 1947 में प्रकाशित हुई, इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण किया हैं। उन्होने प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने के लिए निर्णयन या निर्णय निर्माण (Decision Making) को प्रमुख इकाई है। निर्णय या विनिश्चियन के अध्ययन के द्वारा उन्होने प्रशासन को नवीन तकनीकें, शब्दावली एवं दृष्टिकोण प्रदान किया है।

मनुष्य का व्यवहार वास्तव में निरन्तर लिए जाने वाले निर्णयों की ही एक श्रृंखला होता है। जहाँ व्यवहार एक वृहद इकाई (Macro Unit) है वहीं निर्णय उसकी एक सूक्ष्म इकाई (Micro Unit) है। लगातार लिए गए निर्णयों की श्रृंखला से ही व्यवहार बनता है। साइमन के अनुसार निर्णय निर्माण संगठन मे सभी स्तरों पर व्याप्त होता है। अतः उन्होने संगठन को निर्णयनकर्ताओं की एक श्रृंखला के रुप में देखा है। उन्होने प्रशासन और निर्णय निरुपण के मध्य समानता बतलाई हैं क्योकि वास्तव में प्रशासन का प्रत्येक पहलु निर्णय निर्माण के इर्द–गिर्द घूमता है।

साइमन के अनुसार निणर्य लेने का कार्य सामान्य नीति निर्धारण के कार्य तक ही सीमित नही होता हैं अपितु वह संगठन के प्रत्येक स्तर तथा प्रत्येक भाग तक व्याप्त होता हैं। जिस प्रकार हृदय मानव शरीर को जीवित रखता हैं तथा मानव शरीर के प्रत्येक भाग तथा गतिविधि से उसका सम्पर्क रहता है उसी प्रकार निर्णयन भी संगठन को जीवित रखता है तथा संगठन के प्रत्येक भाग एवं गतिविधि का वह आधार होता है। अतः साइमन ने निर्णय की प्रशासनिक क्रियाकलापों का केन्द्र भाग (Core of Adiministerative Activities) कहा हैं।

निर्णय का अर्थ :

सामान्यतः निर्णय से आशय निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपलब्ध विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन करने से हैं। अतः अपनी प्रकृति में मूलतः समस्या समाधान करने वाला हैं। निर्णय से सम्बन्धित कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्न है :

वैबस्टर शब्दकोष के अनुसार–"निर्णय लेने से आशय अपने मस्तिष्क में सम्मति अथवा कार्यवाही के तरीके निर्धारण से है।"

जॉर्ज टैरी के अनुसार– "निर्णय दो या अधिक संभावित विकल्पो में से एक व्यवहारिक विकल्प का चुनना है।"

चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार –"निर्णय मुख्यतः विकल्पों को सीमित करने की तकनीक है।"

मैक्फरलैण्ड के अनुसार–"निर्णय लेना चयन की क्रिया है, जिसमें कोई प्रबन्धक किसी विशिष्ट परिस्थिति में एक निर्णय पर पहुँचता है कि क्या किया जाना चाहिए ? निर्णय किसी व्यवहार का प्रतिनिधित्व करता है जिसका चयन अनेक सम्भव विकल्पों में से किया जाता है।"

हरबर्ट साइमन के अनुसार : यह उपलब्ध वैकल्पिक समाधानों के मध्य से अनुकूलतम तार्किक चयन (The optimum rational choice between alternatives course of action) है।

हेमेन के अनुसार –"निर्णय निर्धारित की गई एक ऐसी स्थिति है जो कार्य के वास्तविक रूप में सम्पन्न होने से पहले आती है। यह प्रबन्धक द्वारा लिया गया एक निष्कर्ष है कि उसको तथा दूसरो को उसके बाद क्या करना चाहिए।"

निर्णय के लक्षण (Characteristics of Decision)

निर्णय के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएं निम्न है :

1. सामान्यतः तर्क पूर्ण एवं पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात ही निर्णय लिये जाते है।
2. निर्णय प्रक्रिया मे किसी कार्य को करने के अनेक विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है।
3. निर्णय संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं।
4. निर्णय वास्तविक तथ्यात्मक स्थितियों (Factual situations) के समरूप होते है।
5. निर्णय नकारात्मक भी हो सकते हैं अर्थात् निर्णय न करना भी एक निर्णय है।
6. निर्णय स्वयं में एक लक्ष्य नहीं है, यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन है।
7. निर्णय में समय तत्व का विशेष महत्व रहता है। जो निर्णय आज सही प्रतीत होता है, वह कल गलत हो सकता है अथवा जो निर्णय आज कठोर लगता है, वह भविष्य में अच्छा सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार वर्तमान में किसी निर्णय को कर लेने के पश्चात् भविष्य में अन्य विकल्प चयन सीमित हो जाता है।

8. निर्णय नियोजन का अगं है अर्थात नियोजन की समस्त प्रक्रिया निर्णयन पर आधारित है–

निर्णय निरूपण में ''तथ्यात्मक'' एवं मूल्यात्मक तत्वः

हर्बर्ट साइमन के अनुसार : प्रत्येक निर्णय में दो प्रकार के तत्व निहित होते है, जिनको ''तथ्यात्मक'' और ''मूल्यात्मक'' तत्व कहा जाता है। यह निर्णय के आधार होते है। प्रशासक द्वारा जो भी निर्णय लिये जाते है वे कुछ आधारभूत तथ्यों एवं सूचनाओं पर आधारित होते हैं। तथ्य एवं मूल्य प्रशासनिक तथा नीतिगत निर्णयों में अन्तर को स्पष्ट करते है। प्रशासनिक निर्णय कार्यक्रमात्मक निणयों को कहा जाता है। ये निर्णय दिन प्रतिदिन के कार्य संचालन से सम्बन्धित होते है। ये निर्णय तथ्यों पर आधारित होते है। तथ्यों का परीक्षण किया जा सकता है कि वे सही है या गलत, नीतिगत निर्णय प्रशासकीय नीति को प्रतिबिम्बित करने वाले होते है। अतः ये निर्णय मूल्यों से अधिक प्रभावित होते है। प्रत्येक संगठन के अपने मूल्य होते है, जिन्हें प्रशासन बनाये रखता है।

तथ्य किसी वास्तविक स्थिति के बारे में किया गया कथन होता है। जो ''क्या है'' को स्पष्ट करता है। जबकि मूल्य किसी के प्रति प्राथमिकता क्रम को अभिव्यक्त करते है और ''अच्छा'' अथवा ''बुरा'' आदि प्रतीक बातों से जुड़े होते है। साइमन निर्णय को इन तथ्यात्मक और मूल्यात्मक तत्वों का ही योग मानते है।

निर्णयन में तार्किकता या विवेकशीलता :

साइमन ने निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में तार्किक या विवेकशीलता पर अत्यधिक बल दिया है। वह तार्किकता को साधन–साध्य की मदद से समझाते है। साइमन के अनुसार एक निर्णय उस स्थिति में तार्किक/विवेकपूर्ण कहा जाता है जब कि वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त साधनों का चयन किया जाए। ''साधन'' शब्द अर्थात् कारणात्मक उद्‌देश्य उस स्थिति या अवस्था को इंगित करता है जो उद्देश्यों की श्रृंखला में बाद में आती है। चाहे गये उद्देश्य तक पहुँचने के लिए यदि उपर्युक्त साधन अपनाया जाएँ तो निर्णय तार्किक होता है। फिर भी तार्किकता के इस साधारण परीक्षण में अनेक कठिनाइयाँ आती है। क्योंकि साधनों को साध्य से अलग करना मुश्किल होता है। वर्तमान में जो साध्य दिखाई देते है वह किसी भविष्यगत साध्य का साधन हो सकते है।

इसे ही साध्य साधन–श्रृंखला या क्रमिकता कहा गया है। साइमन कहते है कि साधन–साध्य की क्रमिकता यदा–कदा ही एकीकृत और पूरी तरह से जुड़ी हुई श्रृंखला होती है। अक्सर संगठन की गतिविधियाँ और उद्देश्यों के बीच सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होते है या उद्देश्य पूरी तरह से तय किए हुए नहीं होते या उद्‌देश्य को प्राप्त करने के लिए चुने गये साधनों में अन्तर विरोध और आन्तरिक द्वन्द्व होता है। अतः साधन – साध्य विश्लेषण करते समय निम्न तीन बातों पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए।

1. विशेष व्यवहार के विकल्पों के चयन से जो साध्य प्राप्त किये जाते है वे प्रायः अपूर्ण और असत्य वर्णित होते है।
2. वास्तविक परिस्थितियों मं साधनों को साध्य से पूरी तरह अलग करना असम्भव है।
3. साधन–साध्य तकनीक के कारण निर्णय–निर्माण प्रक्रिया में समय तत्व की भूमिका धुँधली हो जाती है।

साइमन निर्णय प्रक्रिया में **तार्किकता/विवेकशीलता के विभिन्न प्रकारों** का उल्लेख करते है।

1. वस्तुनिष्ठ विवेकशीलता (Objectively Rational) वस्तुनिष्ठ विवेकशीलता उस समय मानी जाती है जब एक निश्चित स्थिति में निश्चित मूल्यों को आधिकतम करने का प्रयास किया जाता है। किसी व्यक्ति द्वारा सिर दर्द होने पर अपने सम्पूर्ण ज्ञान से यह मानते हुए की यह सिर दर्द की दवा है किसी सिर दर्द की ही दवा का ले लेना वस्तुनिष्ठ विवेकशीलता का उदाहरण है।

2. व्यक्तिनिष्ठ विवेकशीलता – (Subjectively Rational) : जब व्यक्ति अपने वास्तविक ज्ञान की तुलना में उपलब्धि को अधिकतम करता है तो वह व्यक्तिनिष्ठ विवेकशीलता कहलाती है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने सम्पूर्ण ज्ञान से यह बात सही मानते हुए की कोई दवा सिर दर्द की दवा है उसे खा लेना, जबकि वह दवाई सिर दर्द की नहीं है व्यक्तिनिष्ठ विवेकशीलता का उदाहरण है।

3. संचेतन विवेकशीलता (Consciously Rational) : इसमें साधन तथा साध्य (लक्ष्य) का समायोजन एक सचेतन प्रक्रिया के रूप में किया जाता है।

4. संकल्पित या जानबूझकर की गई विवेकशीलता (Deliberately Rational) इसमें प्रशासक द्वारा जानबूझकर या विवेक पूर्ण तरीके से साधन एवं साध्यों (लक्ष्यों) में उच्च स्तर तक सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

5. संगठनात्मक विवेकशीलता : (Organizationally Rational) एक निर्णय उस समय संगठनात्मक रूप से विवेकशील हो सकता है जब कि वह संगठन के लक्ष्यों की ओर उन्मुख हों। दो सेनाओं के मध्य युद्ध की स्थिति में अपने बंकर से बाहर निकलकर अपनी जान खतरे में डालकर दुश्मन पर आक्रमण करना संगठनात्मक विवेकशीलता का उदाहरण है।

6. व्यक्तिगत विवेकशीलता (Prsonally Rational) जब एक निर्णय व्यक्तिगत उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने में अधिक सहायक होता है तो वह व्यक्तिगत विवेकशीलता कहलाती है। दो सेनाओं के मध्य युद्ध की स्थिति में बंकर में बैठकर सुरक्षित रहते हुए युद्ध करने वाले का निर्णय व्यक्तिगत विवेकशीलता का उदाहरण है।

निर्णय प्रक्रिया के प्रतिमान (Models of Decision Making)

1. तार्किक/शास्त्रीय/आर्थिक मानव मॉडल : (Rational/Classical/Economic Man Model) निर्णय प्रक्रिया से सम्बन्धित यह तार्किक मॉडल दो मूल अवधारणाओं पर आधारित है :

1. मनुष्य अपने व्यवहार में तार्किक (Rational) होता है।
2. तथा वह अपने लाभों को अधिकतम करने का प्रयास करता है।

यह मॉडल यह मानकर चलता है कि मनुष्य एक तार्किक प्राणी है अतः वह समस्त उपलब्ध विकल्पों की एक योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित क्रम में खोज करता है। प्रत्येक विकल्प तथा उसके परिणामों पर विचार करता है। विकल्पों की तुलना करता है। उन्हें एक निष्पक्ष मानदण्ड के आधार पर क्रम में जमाता है तथा अन्त में सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चयन कर लेता है। इसे ही निर्णय प्रक्रिया का शास्त्रीय मॉडल भी कहते है तथा क्योंकि यह व्यक्ति द्वारा अपने प्रतिलाभों/लाभों को अधिकतम् करने की अवधारणा पर आधारित है। अतः इसे आर्थिक मानव मॉडल भी कहते है।

इस मॉडल की मुख्य कमी यह है कि इसकी आधारभूत मान्यताऐं गलत है। यह मनुष्य तथा उसके व्यवहार को अत्यन्त सरलीकृत रूप से देखता है जबकी वास्तविकता में मानवीय व्यवहार अत्यन्त जटिल है तथा कुछ परिस्थितियों में यह अत्यन्त गूढ एवं रहस्यात्मक होता है। वह हमेशा तार्किक नहीं होता है। यदि मनुष्य का व्यवहार हर समय तार्किक रहे तो उसके कार्यो मे मशीन जैसे सुस्पष्टता एवं परिशुद्धता होगी जो वास्तविक व्यवहार में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यह भी सम्भव नही है कि सभी सम्भावित विकल्पों के बारे में समस्त प्रकार की सूचनाऐं जुटा ली जायें। समय, धन एवं संसाधनों इत्यादि की सीमाऐं भी उसे सीमित करती है।

2. सीमित विवेकता मॉडल अथवा प्रशासनिक मानव मॉडलः

(Bounded Rationality Model/Administrative Man Model)

हरबर्ट साइमन ने निर्णय प्रकिया से सम्बन्धित सीमित विवेकता का सिद्धांत दिया। साइमन ने कहा कि प्रशासनिक व्यवहार में पूर्ण तार्किकता सम्भव नही है, मनुष्य का विवेक सीमित होता है तथा वह अपने व्यवहार में शत प्रतिशत विवेकपूर्ण नही होता है। अनेक तत्व उसकी विवेकता अथवा बौद्धिकता को सीमित करते है जैसे :

1. मनुष्य को समस्त विकल्पों का ज्ञान नहीं होता है।
2. उसे विकल्पो के समस्त परिणामों का ज्ञान नहीं होता है।
3. विकल्पो को प्राथमिकता क्रम में जमाना अत्यन्त मुश्किल एवं कभी—कभी असम्भव होता है।
4. मनुष्य की स्वयं की पसन्द, इच्छा, पूर्वाग्रह, आदतें इत्यादी उसे विवेकपूर्ण होने से रोकती है।
5. सीमित समय एवं संसाधन उसे समस्त सूचनाऐं एकत्रित करने से रोकते है।
6. संगठनात्मक तत्व जैसे प्रक्रियाऐं, नियम, उपनियम, संचार माध्यम इत्यादी विवेकपूर्ण निर्णय में बाधक हो सकते है।
7. पर्यावरणीय एवं बाह्य तत्व उसकी विवेकता में बाधक हो सकते हैं।
8. संगठनात्मक उद्देश्यों का निरंतर परिवर्तित होते रहना भी शत—प्रतिशत में बाधक होता है।

उक्त सभी तत्व मनुष्य को निर्णय प्रक्रिया में विवेकीकरण से परे ले जाते है तथा वह सर्वश्रेष्ठ निर्णय या शत प्रतिशत सही निर्णय (Maximising decision) के स्थान पर केवल संतुष्टिकारक निर्णय(Satisfing decision) ही कर पाता हैं। संतुष्टिकारक निर्णय हैं। जो शत प्रतिशत सही नहीं होता हैं। किंतु उपलब्ध जानकारी एवं परीस्थितियों में संतोषजनक अथवा पर्याप्त अच्छा होता हैं। साइमन ने इसे प्रशासकीय मानव मॉडल का नाम दिया हैं।

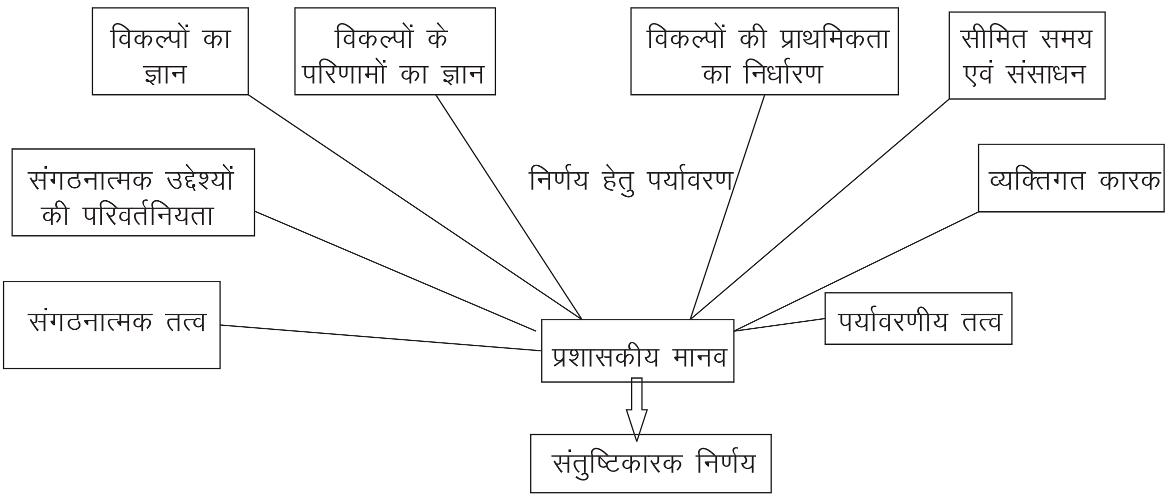

निर्णय के प्रकार (Types of Decision)

साइमन ने निर्णय के दो प्रकार बताये हैं।

(1) कार्यक्रमित निर्णय (Programmed Decision)

(2) अकार्यक्रमित निर्णय (Unprogrammed Decision)

कार्यक्रमित निर्णय :

कार्यक्रमित निर्णय वे होते हैं। जो अपनी प्रक्रति में नैत्यिक (Routine) तथा बार बार लिये जाने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में निर्णय लेने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया विकसित कर ली जाती हैं। तथा प्रत्येक मामले में निर्णय के लिए अलग अलग विचार की आवश्यकता नहीं होती हैं तथा उन समस्त मामलों में निर्णय एक ही प्रक्रिया के आधार पर ले लिया जाता हैं जैसेः अवकाश की स्वीकृति, विद्यालयों में प्रवेश देने संबंधी मामले, ड्राईविंग लाईसेंस जारी करना इत्यादि।इस तरह के निर्णयों के लिए सामान्यत संगठनों द्वारा प्रपत्र या फार्म विकसित कर लिये जाते हैं। तथा उनकी कतिपय शर्तों को पूर्ण करने पर निर्णय उसी अनुरूप पक्ष अथवा विपक्ष में दे दिया जाता हैं। इस तरह के निर्णयों के लिए सामान्यतः निम्न प्रक्रियाएं विकसित की जाती हैं :

1. आदत (Habit)
2. लिपिक नैत्यिक कार्य (Clerical Routine) तथा मानकीकृत कार्य संचालन प्रक्रियाएं (Standard Operating Procedures)
3. इलैक्ट्रॉनिक डेटा प्रोसेसिंग (कम्प्यूटर जनित)
4. गणितीय विश्लेषण पद्धतियाँ।

अकार्यक्रमित निर्णय :

अकार्यक्रमित निर्णय वे होते हैं जो नवीन तथा असंरचित होते हैं। ऐसे प्रत्येक मामले पर पृथक से विचार किया जाना आवश्यक होता है। इस प्रकार के निर्णयों के संबंध में प्रायः कोई पूर्व उदाहरण या पूर्व निर्णय स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है तथा इस प्रकार के निर्णय प्रायः नीतिगत होते हैं। इन निर्णयों को सामान्य समस्या समाधान प्रक्रियाओं द्वारा नहीं लिया जा सकता है। किसी नवीन योजना की शुरूआत करना, नये विभाग की स्थापना या किसी उद्योग का विनिवेशीकरण इत्यादि ऐसे निर्णय हैं जो अकार्यक्रमित निर्णयों की श्रेणी में आते हैं।

कार्यक्रमित निर्णय संगठन में निम्न स्तरों (Lower Levels) पर ही ले लिये जाते हैं तथा उन्हें शीर्ष अधिकारियों के पास नहीं भेजा जाना चाहिए । सगंठन के शीर्ष अधिकारियों का समय महत्वपूर्ण होता है। अतः केवल अकार्यकृमित निणय ही शीर्ष अधिकारियों के पास भेजे जाने चाहिए । फेयोल ने इसे अपवाद का सिद्धान्त (Law of Exception) कहा है। अर्थात रोजमर्रा के मामले या नैत्यिक प्रकृति के मामले संगठन के निम्न स्तरों पर ही निपटा दिये जाने चाहिए तथा उन्हें अपवाद स्वरूप ही शीर्ष स्तर पर भेजा जाना चाहिए। यह अवधारणा सगंठन में प्रत्यायोजन से जुड़ी हुई है।

निर्णय प्रकिया के चरण
(Stages of Decision Making) :

विभिन्न विचारकों ने निर्णय निर्माण की प्रक्रिया पर विचार किया है तथा उसके विभिन्न चरणों को दर्शाया है। साइमन ने निर्णय प्रकिया के निम्न तीन चरण बतलाये है :

1. अन्वेषण गतिविधि (Intelligence Activity)
2. अभिकल्प अथवा डिजाइन गतिविधि (Design Activity)
3. चयन गतिविधि (Choice Activity)

अन्वेषण गतिविधि :

अन्वेषण गतिविधि के तहत निर्णयकर्ता सर्वप्रथम समस्या की पहचान करता है, उसे समझता है। वह समस्या के कारणों का विश्लेषण करता है। समस्या की गम्भीरता तथा क्षेत्र को पहचानता है एवं समस्या तथा समस्या रहित स्थितियो के मध्य अन्तर को समझता है, इस चरण में वह समस्या को परिभाषित करता है। वह देखता है कि समस्या में तथ्यात्मक बातें कौनसी हैं तथा कौनसी ऐसी बातें हैं जो तथ्यों से जुड़ी हुई नहीं है।

अभिकल्प अथवा डिजाइन गतिविधि :

इस स्तर पर निर्णयकर्ता यह देखता है कि समस्या से संबंधित विभिन्न विकल्प (समाधान) कौन–कौन से हो सकते है? विकल्पों के परिणाम क्या हो सकते है ? वह प्रत्येक विकल्प की व्यवहार्यता की जॉच करता है। उन विकल्पों के परिणामों का विश्लेषण करता है तथा उनकी सम्भावित स्वीकार्यता को भी देखता है। इस स्तर पर वह विकल्पों का प्राथमिकता क्रम भी निर्धारित करता है अर्थात उन्हें क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि के रूप में रखता है ताकि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप निर्णय लिया जा सकें।

चयन गतिविधि :

इस चरण के अन्तर्गत निर्णयकर्ता उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक का चयन करता है। सामान्यतः यह वही विकल्प होता है जो उस समय की परिस्थितियों में तथा उपलब्ध जानकारी एवं सूचना की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। विकल्पों का चयन करते समय उसके दूरवर्ती परिणामों तथा निर्णय से उत्पन्न होने वाली भावी निर्णय की सम्भावनाओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए ।

लुण्डबर्ग ने निर्णय प्रकिया के छः चरण बतलाये हैं :

1. समस्या को परिभाषित करना , समझाना और सीमित करना ।
2. समस्या का मूल्यांकन करना ।
3. समाधन के मूल्यांकन की कसौटियां निर्धारित करना।
4. सूचना एवं सामग्री संकलित करना ।
5. समाधानों के विकल्पों में से एक का चयन ।
6. स्वीकृत समाधान का प्रयोग ।

इसी प्रकार पीटर ड्रकर ने निर्णय प्रक्रिया के निम्न चरण बतलाये हैं–

1. समस्या को परिभाषित करना ।
2. समस्या का विश्लेषण करना ।
3. वैकल्पिक समाधानों का विकासित करना ।

4. श्रेष्ठतम विकल्प का चयन करना।
5. निर्णय को प्रभावशाली क्रिया में परिणित करना ।

निर्णय प्रक्रिया से उक्त ज्ञान ने मनुष्य के व्यवहार को समझने में अत्यन्त सहायता प्रदान की है। इसने मानवीय निर्णयों की अतार्किकता को भी स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि श्रेष्ठ निर्णय हेतु विकल्पों तथा उनके परिणामों का अधिकाधिक ज्ञान चाहिए अर्थात हमारे पास ज्यादा से ज्यादा तथ्य होने चाहिए जिससे हम सर्वश्रेष्ठ निर्णय की और अग्रसर हो सकें । वर्तमान में कम्प्यटर एवं सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग ने इस हेतु सुगमता प्रदान की है तथा अधिकाधिक तथ्यों एवं सूचनाओं का संग्रहण कर निर्णयन को अधिक सटीक एवं वैज्ञानिक बनाने में सहयोग किया है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. प्रशासनिक व्यवहार मानव के सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रकार है।
2. निर्णय प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन की लघु इकाई है क्योकि संगठन में प्रत्येक स्तर पर एवं प्रत्येक भाग में निर्णय व्याप्त रहता है तथा लिया गया निर्णय ही व्यवहार के रूप में प्रकट होता है।
3. हर्बर्ट साइमन ने अपनी पुस्तक ''एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर'' (Administrative Behaviour) में निर्णयन का विस्तार से वर्णन किया है।
4. निर्णय उपलब्ध विकल्पों में से चयन को कहते है। निर्णय संबंधी आर्थिक मानव मॉडल मनुष्य के व्यवहार को पूर्ण तार्किक मानता है और यह मानता है कि वह शत प्रतिशत सही निर्णय लेता है।
5. हर्बर्ट साइमन का सीमित विवकेता सिद्धांत मनुष्य के विवके को सीमित मानता है तथा शत प्रतिशत सही निर्णय के स्थान पर व्यवहार में संतुष्टिकारक निर्णय लिये जाने के तथ्य को प्रकट करता है।
6. साइमन ने निर्णय के दो प्रकार बताये है। कार्यकृमित निर्णय एवं अकार्यकृमित निर्णय।
7. हर्बर्ट साइमन ने निर्णय प्रक्रिया के तीन चरण बतलाये है। (अ) अन्वेषण गतिविधि (ब) डिजाईन गतिविधि (स) चयन गतिविधि ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. ''एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर'' पुस्तक के लेखक कौन है?
(अ) वारेन बैनिस (ब) हर्बट साइमन
(स) चेस्टर बर्नार्ड (द) पीटर ड्रकर

2. ''एडमिनिस्ट्रेटिव बिहेवियर'' पुस्तक सर्वप्रथम कब प्रकाशित हुई थी ?
(अ) 1947 (ब) 1950 (स) 1946 (द) 1952

3. साइमन ने निम्न में से किसे निर्णय प्रक्रिया का चरण नहीं बतलाया है ?
(अ) अन्वेषण गतिविधि (ब) डिजाईन गतिविधि
(स) चयन गतिविधि (द) क्रियात्मक गतिविधि

4. निर्णय का सीमित विवेकता सिद्धान्त किसके द्वारा दिया गया था ?
(अ) हर्बर्ट साइमन (ब) डगलस मैकग्रेगर
(स) लुण्डबर्ग (द) चेस्टर बर्नार्ड

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. निर्णय की परिभाषा दीजिए।
2. कार्यकृमित निर्णय किसे कहते हैं ?
3. अकार्यकृमित निर्णय किसे कहते हैं ?
4. साइमन द्वारा बताये निर्णय प्रक्रिया के चरणों के नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. निर्णय के विभिन्न प्रकार बताइयें।
2. साइमन ने निर्णय प्रक्रिया के कौन–कौन से चरण बताये हैं ?
3. निर्णय की विशेषताओं को बताइये।
4. निर्णय से संबंधित आर्थिक मानव प्रतिमान (Economic Man Model) के बारे में बताइये।
5. मानवीय विवेक को सीमित करने वाले तत्व बताइये।

निबंधात्मक प्रश्नः

1. निर्णय प्रक्रिया से संबंधित प्रतिमानों (Models) को बताइये।
2. प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन में हर्बर्ट साइमन के योगदान पर लेख लिखिए।

उत्तरमाला : 1. (ब) 2. (अ) 3. (द) 4. (अ)

इकाई–4. तुलनात्मक लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन

अध्याय–9
तुलनात्मक लोक प्रशासन
(Comparative Public Administration)

तुलना करना मानवीय स्वभाव हैं। मानव सभ्यता के आरम्भ से ही तुलना का प्रचलन रहा हैं । लोक प्रशासन में तुलनात्मक ढंग से अध्ययन ही तुलनात्मक लोक प्रशासन है। यह लोक प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र में अपेक्षाकृत एक नवीन अवधारणा है, यद्यपि इसे पूर्णतः नवीन नहीं कहा जा सकता। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सामाजिक विज्ञानों को नए ढंग से सोचने एवं समझने हेतु मजबूर होना पड़ा । चूँकि यह युद्ध अपने साथ विभिन्न प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, भौगोलिक इत्यादि परिवर्तन साथ लाया। अतः युद्धोत्तर उद्भव का प्रथम मुख्य विकास तुलनात्मक लोक प्रशासन है। इसका लक्ष्य लोक प्रशासन में विचारधारा को मजबूत बनाते हुए एक अधिक वैज्ञानिक प्रकृति के लोक प्रशासन का विकास करना है। राबर्ट डहल ने कहा कि " जब तक लोक प्रशासन का अध्ययन तुलनात्मक नहीं होता है तब तक इसके विज्ञान होने का दावा खोखला है।" अतः लोक प्रशासन के अध्ययन में तुलनात्मक अध्ययन पर बल दिया जाना आरम्भ हुआ।

तुलनात्मक लोक प्रशासन के उदय के कारण :

तुलनात्मक लोक प्रशासन का आरम्भ अग्रलिखित कारणों से हुआ :

1. परम्परागत दृष्टिकोण की अपर्याप्तता :

लोक प्रशासन समय के साथ बदल रही परिस्थितियों से सहज ढंग से आत्मसात् नहीं कर पा रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आज की तरह वैश्विक स्तर पर तेजी से परिवर्तन आ रहे था जिनका प्रत्यक्ष – अप्रत्यक्ष प्रभाव निजी रूप से प्रत्येक देश पर पड़ रहा था। पारम्परिक लोक प्रशासन के अध्ययन हेतु समुचित उपागम का अभाव था अतः इनके अध्ययन तथा प्रभावी आकलन हेतु तुलनात्मक लोक प्रशासन का उदय हुआ । सरल शब्दों में कहे तो उस समय विद्यार्थी केवल एक देश के प्रशासन की जानकारी प्राप्त कर सकता था। किन्तु दूसरे देशों से उसकी समानता या अन्तर देखने में असमर्थ था।

2. शोध हेतु नवीन साधनों की शुरूआत :

लोक प्रशासन को विज्ञान के समान दर्जा दिलवाने हेतु इसके संकुचित एवं सीमित आवरण से बाहर निकालकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करने हेतु प्रयास किए गए। इस हेतु तुलनात्मक अध्ययनों की शुरूआत की गई।

3. अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता :

विभिन्न देशों एवं क्षेत्रों के मध्य बढते सम्पर्क ने इसमें योगदान दिया। आज कोई भी देश प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं हो सकता अतः अन्य देशों से आयात–निर्यात एवं मेलजोल बढ़ा जिससे स्वतः अन्य देशों के प्रशासनिक अभिकरणों की तुलना स्वयं के देश के अभिकरणों से होनी आरम्भ हुई।

4. विश्व युद्ध :

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अमेरिकन विद्वान तथा प्रशासक कई देशों में गए। जिससे उन देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं की विशेषताओं के सम्बन्ध में विभिन्न जानकारियाँ प्राप्त हुई।

5. नव स्वतन्त्र राष्ट्रों का उदय :

बीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत सहित अनेक अफ्रीकी एवं एशियाई देश विदेशी दासता से मुक्त होकर स्वतंत्र हुए। इन नव स्वतंत्र तथा पिछड़े देशों को तृतीय विश्व (Third World) नाम दिया गया। यहाँ तीव्र सामाजिक–आर्थिक विकास की गुंजाइश थी। इन देशों में विकास हेतु प्रशासनिक तंत्र का कौनसा प्रतिमान अधिक संगत हो इसकी जानकारी हेतु विद्वानों द्वारा अनेक शोध किए गए। इसी सन्दर्भ में अमेरिकी विदेशी सहायता कार्यक्रमों ने भी तुलनात्मक लोक प्रशासन के उत्थान में योगदान दिया। 1952 में प्रिन्सटन (अमेरिका) में आयोजित "तुलनात्मक प्रशासन सम्मेलन" द्वारा भी तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास प्रारम्भ हुआ।

तुलनात्मक लोक प्रशासन का अर्थ :

तुलनात्मक लोक प्रशासन से अभिप्राय ऐसे विषय से है जिसके अन्तर्गत दो या दो से ज्यादा देशों की प्रशासनिक इकाईयों की संरचना तथा इन संरचनाओं के कार्यों की परस्पर तुलना की जाती है। यह तुलना राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर सांस्कृतिक तथा सामयिक (समय) हो सकती है । राष्ट्रीय में एक ही राष्ट्र के विभिन्न राज्यों की या अलग – अलग विभागों की प्रशासनिक इकाइयों की तुलना की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय में दों विभिन्न देशों की प्रशासनिक संरचनाओं की तुलना की जाती है जैसे भारत तथा अमेरिका के अधिकारी तंत्र की तुलना या राष्ट्रपति चुनाव की प्रणाली की तुलना आदि। अन्तर सांस्कृतिक में दो विभिन्न संस्कृतियों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं की तुलना की जाती है, जैसे पूंजीवादी संस्कृति तथा समाजवादी या साम्यवादी संस्कृति या अन्य संस्कृतियों के विभिन्न पहलुओं का तुलना अध्ययन। सामयिक में विभिन्न समय विन्यास के दृष्टिकोण से तुलना की जाती है जैसे मौर्य काल एवं गुप्त काल की न्यायिक प्रणाली की तुलना। तुलना के विभिन्न स्वरूप स्पष्ट करते है कि आधुनिक तुलानात्मक लोक प्रशासन का कार्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है।

परिभाषाएँ :

1. निमरोद रफैली : " तुलनात्मक लोक प्रशासन, तुलनात्मक आधार पर लोक प्रशासन का अध्ययन है।"
2. तुलनात्मक प्रशासन समूह : " विभिन्न संस्कृतियों तथा राष्ट्रीय परिदृश्य में प्रयुक्त हुए लोक प्रशासन के सिद्वांत तथा तथ्यात्मक सामग्री जिसके द्वारा इसका विस्तार एवं परीक्षण किया जा सकता है।"
3. फैरल हैडी : "तुलनात्मक लोक प्रशासन सिद्वान्त निर्माण की प्रक्रिया के समान है।"
4. फ्रेड रिग्ज़ : "तुलनात्मक अध्ययन वह है जो अनुभव सम्बन्धी, नोमोथैटिक (सामान्य परक) तथा पारिस्थितिकीय हो"।
5. टी. एन. चतुर्वेदी : "तुलनात्मक लोक प्रशासन के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों में कार्यरत विभिन्न राज्यों की सार्वजनिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।"

व्यवहार में तुलनात्मक लोकप्रशासन ज्ञान की नई शाखा है जो दो या अधिक प्रशासनिक संगठनों, देशों तथा विभिन्न व्यवस्थाओं के मध्य तुलनात्मक अध्ययन करती है। इसमें विभिन्न प्रशासनिक अभिकरण, विभाग तथा निगम प्रक्रिया आदि होते हैं। यह सामान्यीकरण तथा वैज्ञानिक विधि पर बल देती है। यह अन्तर्विषयक दृष्टिकोण जो एक विषय का दूसरे विषय के साथ में मेल – जोल वाले सम्बन्ध पर बल देती है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन का उद्देश्य :

तुलनात्मक लोक प्रशासन के अनेक प्रयोजन है, यही कारण है कि आज विश्व के प्रायः सभी देशों में तुलनात्मक लोक प्रशासन के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है। इसके उद्देश्य अग्रलिखित है–

1. विशिष्ट प्रशासनिक समस्याओं, प्रणालियों इत्यादि का अध्ययन करके सामान्य नियमों तथा सिद्धान्तों का सृजन करना।
2. प्रशासनिक व्यवहार में विभिन्न संस्कृतियों, राष्ट्रों एवं व्यवस्थाओं का विश्लेषण तथा व्याख्या करना।
3. विविध देशों की प्रशासनिक प्रणालियों की तुलनात्मक परिस्थिति को पहचान कर उनकी सफलता एवं असफलता के कारणों की जाँच–पड़ताल करना।
4. प्रशासनिक सुधारों की कार्य–नीति को समझना।
5. लोक प्रशासन के अध्ययन के क्षितिज को व्यापक, व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक बनाना।

व्यवहार में लोक प्रशासन को समृद्ध, व्यापक तथा वैज्ञानिक बनाना ही तुलनात्मक लोक प्रशासन का उद्देश्य है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति : (Nature of Comparative Public Administration)

तुलनात्मक लोक प्रशासन नैसर्गिक रूप से ही वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत है। फैरल हैडी ने इसकी प्रकृति को चार प्रकार में विभक्त किया है :

1. सुधरी हुई पारस्परिक प्रकृति
2. विकासमान प्रकृति
3. सामान्य प्रणाली का प्रारूप
4. मध्यवर्ती सिद्धान्तों का प्रारूप

1. सुधरी हुई पारस्परिक प्रकृति :

तुलनात्मक लोक प्रशासन विविध प्रशासनिक संस्थाओं तथा संगठनों के मध्य परस्पर तुलना करता है तथा इनका विश्लेषण कर निष्कर्ष प्राप्त करता है।

2. विकासमान प्रकृति :

तुलनात्मक लोक प्रशासन सामाजिक – आर्थिक विकास को महत्व देता है अतः यह उन आकड़ों एवं तथ्यों पर बल देता है जिनकी सहायता से विकास सम्भव हैं।

3. सामान्य प्रणाली का प्रारूप :

इससे अभिप्राय है कि सामाजिक परिवेश के अनुरूप ही प्रशासनिक तंत्र संचालित होता है, अतः एक ऐसा प्रतिमान (मॉडल) बनाया जाता है जो सामान्य रूप से समाज व प्रशासन दोनों पर लागू किया जा सकें।

4. मध्यवर्ती सिद्वान्तों का प्रारूप :

इससे अभिप्राय उन सि्द्वान्तों के पालन से है जो सभी पक्षों पर व्यावहारिक रूप से लागू किए जा सकते है, तथा जिनका तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक परीक्षण किया जा सकें।

राबर्ट टी. गोलम्बस्की का मानना है कि तुलनात्मक लोक प्रशासन ध्यान केन्द्रित करने योग्य मुद्दों पर बल देता है यह परिणाम एवं निर्धारित अध्ययन पद्धति (उपागम) अपनाने हेतु अभिप्रेरणा प्रदान करता है। तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति को समझाने में सर्वाधिक योगदान फ्रेड रिग्ज़ का हैं।

रिग्ज़ ने 1962 में तुलनात्मक लोक प्रशासन की अग्रलिखित तीन प्रवृत्तियाँ बतलाई है :

1. आदर्शात्मक से अनुभवमूलक उन्मुखता (Normative to Emperical):

यह "क्या होना चाहिए" के स्थान पर "क्या है" पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। अर्थात् मात्र सैद्वान्तिक नियमों की व्याख्या करने या केवल आदर्शों की चर्चा करने के स्थान पर उन परिस्थितियों को अधिक महत्व दिया जाए जो वास्तव में हमारे समक्ष है। व्यवहार में तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति आदर्शमूलक (Normative) की जगह अनुभवमूलक (Emperical) ज्यादा है।

2. गैर पारिस्थितिकीय से पारिस्थितिकीय (Non Ecological to Ecological) :

अर्थात् पर्यावरण उन्मुख घटकों पर जोर दिया जाना चाहिए। लोक प्रशासन को प्रभावित करने वाले सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, एतिहासिक तथा भौगोलिक पर्यावरण का गहनता से अध्ययन किया जाना चाहिए। लोक प्रशासन के पूर्ववर्ती अध्ययन मूलतः गैर पारिस्थिकीय **(Non Ecological)** होते थे फलतः उनमें स्थानीय पर्यावरण का उल्लेख बेहद सीमित होता था , जबकि वास्तविकता यह है कि किसी भी देश का प्रशासन अपने आस–पास के समाज,

संसाधनों, सामाजिक –मूल्यों, राजनीतिक दशाओं , आर्थिक आदि। अनुभवमूलक (**Ecological**) घटकों से अत्यधिक प्रभावित होता है।

3. विशिष्टता से सामान्यपरकता : (Ideographic to Nomothatic)

रिग्ज़ के अनुसार विशिष्टता **(Ideographic)** अर्थात् किसी एकल संगठन, व्यक्ति या समाज के अध्ययन के स्थान पर तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति सामान्यपरक या अधिक व्यापकता लिए हुए है। सामान्यपरक **(Nomothatic)** से अभिप्राय ऐसे घटकों से है जो सभी में पाये जाते है। विशिष्टता की जगह सामान्यपरकता का समावेश तभी संभव है। जबकि तुलनात्मक अध्ययनों पर ज्यादा बल दिया जाए क्योंकि सामान्य घटकों की जानकारी तुलनात्मक अध्ययनों से ही संभव है।

व्यवहार में तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति में वैज्ञानिकता, सामान्यपरकता, वस्तुनिष्ठता के साथ परिणाम एवं अनुभव मूलकता के घटक निहित है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन का क्षेत्र : (Scope of Comperative Public Administration)

क्षेत्र से अभिप्राय विस्तार से है किसी भी विषय के सम्बन्ध में क्षेत्र का अर्थ है कि उस विषय के अध्ययन में क्या – क्या घटक शामिल है। तुलनात्मक लोक प्रशासन अपने जन्म के साथ ही वैश्वीकृत है, क्योंकि इसके अध्ययन का क्षेत्र विश्व के समस्त देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाएँ मानी जाती है। यद्यपि किसी भी देश के आन्तरिक प्रशासनिक संगठनों का अन्तर्देशीय (Intra Country) अध्ययन भी हो सकता है साथ ही विभिन्न देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय (Inter-National) अध्ययन अग्रलिखित तीन स्तरों पर किया जाता है।

1. वृहद्स्तरीय अध्ययन (Macro Level Study) :

इसके तहत किसी एक देश की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन किसी दूसरे देश की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था के साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन अमेरिका, फ्रांस आदि की प्रशासनिक व्यवस्था से किया जाता है। इस अध्ययन में दोनों देशों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक , राजनीतिक पर्यावरण का अध्ययन किया जाता हैं।

2. मध्यवर्ती अध्ययन (Meso Level Study) :

इस अध्ययन में दो देशों की प्रशासनिक व्यवस्था के किसी एक बड़े अंग का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है, जैसे भारत तथा अमेरिका की वित्तीय प्रणाली या स्थानीय प्रशासन का अध्ययन। इस अध्ययन का क्षेत्र किसी देश की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था नहीं होती तथा न ही इसमें इन व्यवस्थाओं के किसी सूक्ष्म अंग की तुलना की जाती है । लेकिन इन दोनों के प्रशासन के एक बड़े भाग की तुलना दूसरे देश की समस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था से की जाती है।

3. लघुस्तरीय अध्ययन (Micro Level Study) :

इसमें छोटे या सूक्ष्म दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। आजकल सामाजिक विज्ञानों में लघुस्तरीय अध्ययन अधिक प्रचलित है। इसमें तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र सीमित होता है। इसमें एक विशेष प्रक्रिया का अध्ययन दूसरे देश की समकक्ष प्रशासनिक व्यवस्था से किया जाता है जैसे भारत तथा अमेरिका में सोश्यल मीडिया (Social Media) का प्रशासन पर प्रभाव, भारत में नवम्बर 2016 में हुए विमुद्रीकरण से उपजे हालातों पर प्रबन्धन के सम्बन्ध में भारतीय रिजर्व बैंक एवं अन्य देश जहाँ विमुद्रीकरण (नोटबंदी) हुआ हो वहाँ के केन्द्रीय बैंक के प्रबन्धन का तुलनात्मक अध्ययन अथवा भारत एवं स्वीडन में भ्रष्टाचार से निपटने हेतु लागू किए गए सरकारी प्रयासों का तुलनात्मक अध्ययन। आजकल इस प्रकार के अध्ययन अत्यधिक प्रचलित है।

उपर्युक्त के साथ तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र में अन्तर्देशीय (देश के भीतर) , अन्तरसांस्कृतिक (दो देशों के प्रशासकों के कार्य व्यवहार , रीति रिवाज आदि का अध्ययन) , समसामयिक (वर्तमान भारत तथा जर्मनी की तुलना), संकर सामयिक (वर्तमान प्रशासन की प्राचीन काल के प्रशासन से तुलना) विकसित, विकासशील एवं अत्यन्त पिछड़े देशों के मध्य तुलना इत्यादि भी शामिल है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन का महत्व (Importance of Comperative Public Administration) :

तुलनात्मक लोक प्रशासन के माध्यम से लोक प्रशासन का सशक्तीकरण हुआ है। विषय के रूप में इससे लोक प्रशासन का विस्तार तथा अनेक नए सम्प्रत्य लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम में शामिल हुए। व्यवहारिक प्रशासन की दृष्टि से जब दो या

अधिक देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं की परस्पर तुलना की गई तो प्रशासन में सुधार हेतु स्वतः नई दिशा मिलनी आरम्भ हुई। इसी आधार पर भारत ने भ्रष्टाचार तथा कुप्रशासन को रोकने हेतु स्वीडन में स्थापित ओम्बुडसमैन प्रणाली को लोकपाल के रूप में भारत में लागू करने हेतु प्रयास आरम्भ किए। तुलनात्मक लोक प्रशासन के माध्यम से ही विभिन्न समाजों की व्यवस्थित तुलना करके उनकी समरूपता एवं विलक्षणताओं को स्पष्ट किया जा सकता है, अतः इसका अत्यधिक महत्व है, इसके महत्व को अग्रलिखित बिंदुओं की सहायता से समझ सकते है :

1. तुलनात्मक लोक प्रशासन के अध्ययन से लोक प्रशासन के विषय हेतु अनेक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है।
2. इससे लोक प्रशासन की अध्ययन पद्धति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार हुआ है।
3. इससे सामाजिक दृष्टि से अनुसंधान का क्षेत्र व्यापक तथा गहन हुआ है, जो पहले सीमित था।
4. तुलनात्मक अध्ययनों से विभिन देशों का प्रशासनिक व्यवस्थाओं के मध्य तुलना एवं विश्लेषण बढ़ा हैं। इससे विभिन्न देश एक–दूसरे के अनुभव से लाभ प्राप्त कर रहे है। एक देश की व्यवस्था को आवश्यकतानुसार संशोधित करके दूसरे देश में

लागू किया जा रहा है। इससे सुशासन (Good Governance) की प्राप्ति होना सरल हुआ है।

5. इससे लोक प्रशासन के विद्यार्थियों, शोधार्थियों, अध्यापकों एवं प्रशासकों को दूसरे देशों की व्यवस्था को समझने में सहायता मिलती है।

निष्कर्ष :

तुलनात्मक लोक प्रशासन ने लोक प्रशासन को जीवन दान दिया है, क्योंकि एक समय स्वयं लोक प्रशासन अस्तित्व के संकट के दौर से गुजरा है। इस संकट काल में तुलनात्मक लोक प्रशासन ने ही लोक प्रशासन को विषय के रूप में बने रहने हेतु सहारा दिया, तथापि तुलनात्मक लोक प्रशासन की भी अनेक आलोचनाएँ की जाती है जैसे :

1. वैज्ञानिक दृष्टिकोण को व्यवहार में लागू करने हेतु तुलनात्मक लोक प्रशासन स्पष्ट विधि या तरीका नहीं बना पाया
2. इसने लक्ष्य आधारित अनुभवमूलक सिद्धान्तों का विकास नहीं किया जिससे इसका व्यावहारिक पक्ष कमजोर बना हुआ है।
3. तुलना करने के स्पष्ट आधारों का अभाव है, क्योंकि प्रत्येक देश का पर्यावरण भिन्न प्रकृति का है, अतः कोई व्यवस्था एक देश में उचित है तो अन्य में वह अनुचित हो सकती है।

इन्हीं कारणों के चलते धीरे–धीरे 1970 के दशक की शुरूआत में तुलनात्मक लोक प्रशासन पर भी संकट छा गया। लेकिन 1980 के दशक की शुरूआत में कुछ विद्वानों द्वारा इसके **पुनरोत्थान** हेतु एक आन्दोलन चलाया गया। इन विद्वानों ने इस विषय की अधोमुखी प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास किया तथा इसमें कतिपय सुधार करके इसे एक ताजा जीवन दिया। इन विद्वानों मे फैरेल हैडी, चार्ल्स टी, गुडशेल, जुगं एस. जून, ओ. पी. द्विवेदी तथा अन्य शामिल हैं। इन प्रयासों के मुख्य–मार्गदर्शक फैरल हैडी थे। इन्होंने इस बात पर बल किया कि पुरानी कमियों का चिन्तन छोड़कर इस विषय के आकर्षक नवीन अवसरों के दोहन की आवश्यकता है। आज तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन लोक प्रशासन के साथ सफलतापूर्वक सभी देशों में हो रहा है। तुलनात्मक लोक प्रशासन द्वारा अनेक नये उपागमों का विकास किया गया है जिससे लोक प्रशासन की विषय एवं व्यवहार के रूप में जड़ें अत्यधिक मजबूत हुई हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु :

1. लोक प्रशासन में सन् 1952 में प्रिन्सटन (अमेरिका) मे आयोजित 'तुलनात्मक प्रशासन सम्मेलन' द्वारा तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास आरम्भ हुआ।
2. तुलनात्मक ढ़ंग से अध्ययन ही तुलनात्मक लोक प्रशासन है।
3. तुलनात्मक लोक प्रशासन का विकास द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ है।
4. परम्परागत दृष्टिकोण की अपर्याप्यता के कारण तुलनात्मक लोक प्रशासन का विकास हुआ।
5. तुलनात्मक लोक प्रशासन सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया के समान हैं।
6. इसका उद्देश्य विशिष्ट प्रशासनिक समस्याओं, प्रणालियों का अध्ययन करके सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का सृजन करना है।
7. तुलनात्मक लोक प्रशासन वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत है।
8. यह विकासमान प्रकृति का विषय है।
9. सामान्य प्रणाली प्रारूप से अभिप्रायः है कि सामाजिक परिवेश के अनुरूप ही प्रशासनिक तंत्र का संचालन होता है।
10. तुलनात्मक लोक प्रशासन में वृहद्स्तरीय, मध्यवर्ती तथा लघुस्तरीय अध्ययन किए जाते है।
11. तुलनात्मक लोक प्रशासन के पुनरूत्थान आन्दोलन के मार्गदर्शक फैरल हैडी थे।
12. तुलनात्मक लोक प्रशासन में अग्रणी भूमिका फ्रेड रिग्ज़ ने निभाई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. तुलनात्मक लोक प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका किसने निभाई ?
(अ) मेरी पार्कर फोलेट (ब) एल.डी.व्हाइट
(स) वुडरो विल्सन (द) फ्रेड रिग्ज़

2. फैरल हैडी ने तुलनात्मक लोक प्रशासन की प्रकृति को कितने भागों में विभक्त किया है ?
(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार

3. तुलनात्मक लोक प्रशासन के उदय का कारण है –
(अ) द्वितीय विश्व युद्ध (ब) अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता
(स) नव स्वतन्त्र (द) उपर्युक्त सभी

4. ''तुलनात्मक लोक प्रशासन, तुलनात्मक आधार पर लोक प्रशासन का अध्ययन है''। यह किसने कहा है ?
(अ) निमरोद रैफली (ब) फ्रेड रिग्ज
(स) फैरल हैडी (द) लूथर गुलिक

5. तुलनात्मक लोक प्रशासन को सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया के समान किसने माना है –
(अ) साइमन (ब) चेस्टर बर्नाड
(स) फैरल हैडी (द) विलोबी

6. फ्रेड रिग्ज ने तुलनात्मक लोक प्रशासन की कितनी प्रवृत्तियाँ बतलाई है ?
(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार।

7. एक देश की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था की किसी अन्य देश की प्रशासनिक व्यवस्था से तुलना कहलाएगी।
(अ) वृहद्स्तरीय अध्ययन (ब) मध्यवर्ती अध्ययन
(स) लघुस्तरीय अध्ययन (द) संकर सामयिक अध्ययन

8. निम्नलिखित में से कौनसी तुलनात्मक लोक प्रशासन की आलोचना है ?
(अ) स्पष्ट विधि का अभाव
(ब) अनुभव मूलक सिद्धान्तों का विकास नहीं होना।
(स) तुलना के स्पष्ट आधारों का अभाव
(द) उपर्युक्त सभी।

9. तुलनात्मक लोक प्रशासन पर संकट कब आया ?
(अ) 1950 के दशक में (ब) 1960 के दशक में।
(स) 1970 के दशक में (स) 1980 के दशक में।

10. तुलनात्मक लोक प्रशासन हेतु पुनरोत्थान आन्दोलन किसके मार्गदर्शन में चलाया गया ?
(अ) फ्रैड रिग्ज़ (ब) हेनरी फेयोल
(स) फैरल हैडी (द) विलोबी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1.तुलनात्मक लोक प्रशासन की परिभाषा बताइये।
2. इडियोग्राफिक से नोमोथेटिक का अर्थ बताइये।
3. वृहद्स्तरीय अध्ययन किसे कहते है ?
4. संकर सामयिक अध्ययन किसे कहते है ?
5. तुलनात्मक लोक प्रशासन में अग्रणी भूमिका किसकी रही हैं ?
6. तुलनात्मक लोक प्रशासन का उदय कब हुआ ?
7. तुलनात्मक लोक प्रशासन का पुनरोत्थानवादी आन्दोलन क्या हैं ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. तुलनात्मक लोक प्रशासन का अर्थ बताइये।
2. फ्रेड रिग्ज द्वारा बतलाई गई तीन प्रवृत्तियाँ समझाइये।
3. तुलनात्मक लोक प्रशासन के उदय के कारण लिखिए।
4. तुलनात्मक लोक प्रशासन में अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता से क्या अभिप्राय है ?
5. लघुस्तरीय अध्ययन को उदाहरण सहित समझाइये।
6. फैरल हैडी की चार प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए।
7. लघुस्तरीय अध्ययन को उदाहरण सहित समझाइये।
8. तुलनात्मक लोक प्रशासन पर आए संकट के कारण स्पष्ट कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. तुलनात्मक लोक प्रशासन की अवधारणा की समझाते हुए इसकी प्रकृति बतलाइये।
2. तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
3. तुलनात्मक लोक प्रशासन का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसका महत्त्व समझाइये।
4. तुलनात्मक लोक प्रशासन के उदय तथा इसका पुनरोत्थानवादी आन्दोलन पर लेख लिखिए।

उत्तर माला :

1. (द)	2. (द)	3. (द)	4. (अ)
5. (स)	6. (स)	7. (अ)	8. (द)
9. (स)	10. (स)		

अध्याय – 10
विकास प्रशासन
(Development Administration)

विकास प्रशासन का अर्थ विकास से सम्बन्धित प्रशासन से लिया जाता है । यह सरकार द्वारा योजनाबद्ध ढंगं से राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में परिमाणात्मक एवं गुणात्मक बदलाव लाने की दिशा में एक प्रयास है। यह सरकार की प्रत्येक उस गतिविधि का नाम है, जिसमें जनकल्याण या राष्ट्रीय विकास निहित है। यह न केवल सामान्य / नियामकीय प्रशासन (Regulatory Administration) से जुडा है, वरन मानवीय जीवन के सभी पहलुओं तथा सामाजिक, आर्थिक आदि से भी सम्बन्धित है। विकास प्रशासन एक नवीन अवधारणा है जिसमें विकास से सम्बन्धित घटक शामिल है। सामान्य अथवा नियामकीय प्रशासन पारम्परिक प्रशासन को कहते है। पारम्परिक प्रशासन का मुख्य ध्येय सुरक्षा एवं कानून तथा व्यवस्था (Law and order) बनाए रखना होता है। जबकि विकास प्रशासन का मुख्य लक्ष्य लोक कल्याण है।

'विकास प्रशासन' शब्द का प्रयोग पहली बार एक भारतीय अध्येता यू. एल. गोस्वामी ने 1955 में छपे अपने लेख 'दि स्ट्रक्चर ऑफ डेवलेपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया' में किया था। लेकिन अमेरिकी विद्वान जॉर्ज गैंट को विकास प्रशासन का पिता माना जाता है। उन्होंने भी इसी काल में इस शब्द का प्रयोग शुरू किया। उनकी पुस्तक **''डेवलपमैंट एडमिनिस्ट्रेशनः कॉन्सेप्टस् ,गोल्स एडं मैथड्स्''** पहली बार 1979 में प्रकाशित हुई। एडवर्ड वीडनर विकास प्रशासन के सबसे बडे भाष्यकार है। वे विकास प्रशासन की परिभाषा की पहली बार अवधारणात्मक रूप में व्यवस्था करने वाले व्यक्ति भी है।

उद्भव (Emergence) :

1950 और 1960 के दशक में विकास प्रशासन लोक प्रशासन के एक उप क्षेत्र के रूप में उभरा । जिन कारकों ने इसमें योगदान किया वे हैं :

1. पारपरिक लोक प्रशासन द्वारा प्रशासन के अध्ययन पर ज्यादा और प्रशासन के लक्ष्यों के अध्ययन पर जोर कम देना।
2. उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की समाप्ति के साथ एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका में नव स्वाधीन विकासशील देशों का उदय
3. बहुपक्षीय तकनीकी मदद और वित्तीय सहायता द्वारा विकासशील देशों में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रायोजित विकास योजनाओं को सफल बनाने हेतु यहाँ के प्रशासन के अध्ययन पर जोर दिया गया ।
4. नवोदित विकासशील देशों तक अमेरिका आर्थिक और तकनीकी सहायता योजनाओं का विस्तार
5. अमेरिकन सोसाइटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन के नेतृत्व में 1960 में कम्पेरिटिव एडमिनिस्ट्रेशन ग्रुप (CAG) की स्थापना।
6. विकासशील देशों में पश्चिमी प्रतिमानों की नाकामी के कारण, इन देशों की विकास संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नए स्वदेशी प्रशासनिक मॉडल की खोज करना।

तुलनात्मक लोक प्रशासन की भाँति विकास प्रशासन भी लोक प्रशासन के विकास का एक नया आयाम है। विकास प्रशासन एक गतिशील अवधारणा है, जो समाज में आर्थिक , सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है। इसमें विकास के कार्यों को प्राथमिकता दी जाती है आज विश्व के देश विकास कार्यों को में लगे है, अतः उन कार्यों को सुधार रूप में लागू करने के लिए विकास प्रशासन की आवश्यकता है इसलिए आज लोक प्रशासन में विकास प्रशासन का महत्त्व तथा उपयोगिता स्पष्ट है।

विकास प्रशासन :

विकास प्रशासन शब्द आधुनिक समय में ही प्रयोग में आया है। सर्वप्रथम एडवर्ड डब्ल्यू.वीडनर ने विकास प्रशासन की अवधारणा का प्रतिपादन किया । बाद में प्रो.रिग्स,पालोम्बरा, वाटसन आदि विद्वानों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। विकास प्रशासन का विशेष महत्व विकासशील देशों के लिए है क्योंकि तीसरी दुनिया के देशों के समक्ष मुख्य कार्य तेजी से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास करना है। अतः विकास की इस अवधारणा ने परम्परागत प्रशासन को विकासात्मक प्रशासन की और उन्मुख कर दिया।

अर्थ : विकास प्रशासन की रचना का उद्देश्य यह अध्ययन करना है कि लोक प्रशासन सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार से परिवर्तित भी होता है। इस विस्तृत परिप्रेक्ष्य में ''विकास प्रशासन'' शब्द की अनेक व्याख्याएँ की गयी है। विकास शब्द का कोषगत अर्थ उदेश्यमूलक है, क्योंकि इसका उल्लेख प्रायः उच्चतर,पूर्णतर और अधिकतर परिपक्वता स्थिति की और बढना है। ''विकास'' को मन की एक स्थिति तथा ''एक दिशा'' के रूप में भी देखा गया है। एक निश्चित लक्ष्य की अपेक्षा विकास एक विशिष्ट दिशा में परिवर्तन की गति है इसके अतिरिक्त विकास को परिवर्तन के उस पक्ष के रूप में देखा गया है, जो नियोजित तथा अभीष्ट है और शासकीय कार्यों से निर्देशित हो। ये विभिन्न व्याख्याऐं बताती है कि विकास प्रशासन शब्द दो शब्दों के योग से बना है– विकास तथा प्रशासन।

विकास शब्द का अर्थ होता है निरन्तर आगे बढ़ना और प्रशासन का अर्थ है सेवा करना । विकास प्रशासन में जनता की सेवा के लिए विकास कार्यों को करना निहित है। लोक प्रशासन में विकास का तात्पर्य किसी सामाजिक संरचना का प्रगति की और बढ़ना हैं। इस प्रकार समाज में प्रगति की दिशा में जो भी परिवर्तन होता है। उन्हें विकास की संज्ञा दी जाती है। विकास एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है।

विकास प्रशासन की विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित है :

प्रो. ए. वीडनर के अनुसार, '' विकास प्रशासन राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्गदर्शन करता है। यह मुख्य रूप से एक कार्योन्मुख एवं लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक प्रणाली पर जोर देता है।

प्रो.फ्रैंड रिग्ज़ ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि '' विकास प्रशासन का सम्बन्ध विकास कार्यक्रमों के प्रशासन, बड़े संगठनों विशेषकर सरकार की प्रणालियों, विकास लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए नीतियों और योजनाओं को क्रियान्वित करने से है।

डोनाल्ड सी. स्टोन का कहना है कि ''विकास प्रशासन निर्धारित लक्ष्यों की प्रगति के लिए संयुक्त प्रयास के रूप में सभी तत्त्वों और साधनों (मानवीय और भौतिक) का सम्मिश्रण है। इसका लक्ष्य निर्धारित समयक्रम के अन्तर्गत विकास के पूर्व निर्धारित उद्‌देश्यों की प्राप्ति है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में भिन्नता के बावजूद भी यह देखने को मिलता है विकास प्रशासन लक्ष्योन्मुखी और कार्योन्मुखी है। परिभाषाओं के विश्लेषण के बाद विकास प्रशासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तत्व सामने आते है।

1. विकास प्रशासन निरन्तर आगे बढ़ने की एक गतिशील प्रक्रिया है।
2. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह एक संयुक्त प्रयास है ।
3. यह तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।
4. यह पिछड़े समाज के परिवर्तन, आधुनिकीकरण, और विकास के लिए शासन तन्त्र है।

विशेषताएँ : विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है जो लक्ष्योन्मुखी होता है, बल्कि यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। संक्षेप में, विकास प्रशाासन की निम्नलिखित विशेषताएँ है :

1. परिवर्तनशील : विकास प्रशासन का केन्द्र बिन्दु परिवर्तनशीलता है। यह परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक है। विकासशील देशों में प्रशासन को निरन्तर परिवर्तनों के दौर से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता विकास प्रशासन की बहुमूल्य पूँजी है जिसके सहारे वह सक्रिय बना रहता है।

2. विकासात्मक प्रकृति : विकास प्रशासन नवीन सुधारों तथा अभिनवकरणों पर निर्भर करता है। इसकी प्रकृति विकासात्मक कार्यक्रमों को लेकर चलने की होती है। इसका प्रमुख उदेद्श्य सामाजिक , आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से पिछड़े समाज का विकास करना है।

3. प्रजातान्त्रिक मूल्यों से सम्बन्धित : विकास प्रशासन जन आकांक्षाओं की पूर्ति के प्रति प्रयत्नशील रहता है। साथ ही विकास प्रशासन का प्रजातान्त्रिक मूल्यों से सम्बन्ध रहता है क्योंकि इसमें मानव अधिकारों और मूल्यों के तत्त्व निहित रहते है। चूंकि विकास प्रशासन का सम्बन्ध सरकारी प्रशासन द्वारा किये जाने वाले प्रयासों से है, और सरकारी प्रशासन जनकल्याण और प्रजातान्त्रिक मूल्यों से जुड़े सरकारी प्रयास जनकल्याण और प्रजातान्त्रिक मूल्यों से जुड़े रहते है, अतः विकास प्रशासन को प्रजातान्त्रिक मूल्यों से पृथक नहीं किया जा सकता।

4. आधुनिकीकरण : विकासशील देशों के विकास के लिए आधुनिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक हो गया है। साथ ही आज के आधुनिक उदेश्यों को प्राप्त करने हेतु विकास प्रशासन को अपने आपको योग्य बनाना पड़ता है इसके लिए प्रशासनिक आधुनिकीकरण को विकास प्रशासन विकसित देशों से मापदण्ड और तकनीक प्राप्त करता है।

5. प्रशासनिक कुशलता : कुशलता प्रशासन की सफलता की शर्त है। विकास प्रशासन में प्रशासनिक कुशलता को इसलिए महत्त्व दिया जाता है। कि इसके अभाव में विकास के उदेश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करना सम्भव नहीं है। विकास प्रशासन इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है कि प्रशासनिक विकास के माध्यम से प्रशासन की कार्यकुशलता में वृद्धि की जाए।

6. आर्थिक विकास : आर्थिक विकास और विकास प्रशासन का परस्पर महत्वपूर्ण सम्बन्ध है प्रशासनिक विकास के लिए आर्थिक विकास भी आवश्यक है। विकासशील देशों की विभिन्न आर्थिक योजनाएँ एवं विकास सम्बन्धी कार्यक्रम विकास प्रशासन के सहयोग से ही लागू किये जाते है। विकास प्रशासन ऐसे प्रशासनिक संगठन की रचना करता है जो देश की आर्थिक प्रगति को सम्भव बनाता है तथा आर्थिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करता हैं राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक योजनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। और इन्हें लागू करने में विकास प्रशासन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

7. परिणामोन्मुखी : विकास प्रशासन का परिणामोन्मुखी होना इसकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है विकास प्रशासन से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्धारित सीमा के अन्तर्गत कार्यों को सम्पन्न करें और परिणाम अच्छे हों अतः इसमें परिणाम को अधिक महत्व दिया जाता है।

8. प्रतिबद्धता : विकास प्रशासन को समाज के पिछड़े एवं वंचित वर्गो के कल्याण हेतु कटिबद्ध होना पड़ता है। इन व्यक्तियों तक प्रशासन के माध्यम से कल्याणकारी कार्यक्रम पहुंचाने के लिए आवश्यक है कि नियंत्रणकर्त्ता एवं प्रशासकों की उन कार्यक्रमों तथा योजनाओं को प्रभावशाली ढंग से लागू करने के प्रति प्रतिबद्धता हो।

9. तात्कालिकता : विकासशील राष्ट्रों में लोक कल्याण हेतु प्रशासनिक निर्णय एवं नीतियाँ तात्कालिकता के आधार पर तय होती है। विकास प्रशासन द्वारा समय, स्थान तथा परिस्थिति का बहुत महत्व दिया जाता है। अतः आवश्यकता के अनुसार तत्काल निर्णय करना विकास प्रशासन हेतु अनिवार्य है।

10. जन सहभागिता : विकास कार्यों की सफलता हेतु विकास

कार्यक्रमों में आम जनता की भागीदारी अत्यंत आवश्यक है चूँकि ये कार्यक्रम जनता हेतु बनाए जाते है , अतः इनकी भागीदारी के अभाव में ये निष्फल हो जाते है। उदाहरण के लिए **मनरेगा** (महात्मा गांधी, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी अधिनियम) एवं **जनधन** (प्रधानमंत्री जनधन योजना का उद्देश्य देश में सभी व्यक्तियों के बैंक में खाते खुलवाकर वित्तीय समावेशन के लक्ष्य की प्राप्ति करना है) आदि राष्ट्रीय कार्यक्रमों में जनता की अच्छी सहभागिता रही। अतः इनके परिणाम भी सुखद रहे।

विकास प्रशासन बनाम परम्परागत प्रशासन (Development Administration Vs Traditional Administration) :

कुछ विद्वानों ने विकास प्रशासन को परम्परागत प्रशासन (गैर विकास) प्रशासन या सामान्य प्रशासन या नियामक प्रशासन से अलग रूप में अवधारणाबद्ध करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार विकास प्रशासन भिन्नताओं से भरा लोक प्रशासन है। वे कहते है कि ये दोनों बेहद महत्वपूर्ण रूपों में एक दूसरे से भिन्न है। संक्षेप में इने भिन्नताओं को अग्रलिखित रूप में दर्शाया जा सकता है।

व्यवहार में पारम्परिक प्रशासन भी आवश्यक है, क्योंकि जब तक कानून एवं व्यवस्था की स्थापना नहीं हो तब तक विकास करना असम्भव है। अतः इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि विकास प्रशासन और प्रारम्परिक प्रशासन एक दूसरे के पूरक हो। विलियम वुड तो विकास प्रशासन एवं पारम्परिक प्रशासन में कोई अन्तर ही नहीं मानते है। एक के अभाव में दूसरा भी कायम नहीं रह सकता इसलिए दोनों के बीच भेद करना अवास्तविक, अव्यावहारिक और अतिसरल होगा "विकास प्रशासन केवल विकासशील देशों के प्रशासन से सम्बद्ध है, यह सोच सिर्फ विकास प्रशासन की अवधारणा की उपयोगिता और विकासशील देशों के तुलनात्मक विश्लेषण में इसकी उपयोगिता को कम करती है। विकास प्रशासन की आवश्यकता प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था एवं शासन व्यवस्था में रहती है। चूँकी विकास की कोई सीमा नहीं होती तथा विकास की सम्भावनाएं सदैव बनी रहती है अतः विकास प्रशासन भी सदैव बना रहता है।

निष्कर्ष :

विकास प्रशासन सरकार के वैकासिक कार्यों, कार्यक्रमों, योजना तथा परियोजनाओं पर जोर देता है, जिससे आज प्रत्येक शासन व्यवस्था के लिए यह अपरिहार्य हो गया है। विकास प्रशासन विकास के लिए प्रशासन का निर्माण है। भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व विकास प्रशासन नहीं था। यही कारण है कि

विकास प्रशासन	प्रशासनिक प्रशासन
1. यह परिवर्तन निर्देशित है। 2. यह गतिशील और लचीला है। 3. यह लक्ष्य प्राप्ति की प्रभाविता पर जोर देता है। 4. इसके उद्देश्य जटिल और अनेक है। 5. इसका सरोकार नई जिम्मेदारियों से है। 6. यह विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखता है। 7. यह योजना पर बहुत निर्भर करता है। 8. यह रचनात्मक और आविष्कारक है। 9. यह प्रशासन की जनवादी और सहभागिता पूर्ण पद्धति को लागू करता है। 10. इसके कामों का विस्तार क्षेत्र व्यापक है। 11. यह निश्चित समय में कार्यो को पूरा करता है। 12. यह बहिर्मुखी है।	1. यह यथास्थिति निर्देशित है। 2. यह पदसोपान क्रम वाला और कठोर है। 3. यह मितव्ययता पर जोर देता है। 4. इसके उद्देश्य सरल है। 5. इसका सरोकार दैनिक सामान्य कार्यों से है। 6. यह केन्द्रीकरण में विश्वास रखता है। 7. यह योजना पर उतना निर्भर नही करता है। 8. यह संगठन बदलाव का विरोध करता है 9. यह प्रशासन की अधिकारिक और निर्देशात्मक पद्धति को लागू करता है। 10. इसके कामों का विस्तार क्षेत्र सीमित है। 11. यह पूर्णतः निर्देशित नहीं है। 12. यह अन्तर्मुखी है।

हमने आजादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं को विकास का माध्यम बनाया एवं विकास करने हेतु अनेक नई संस्थाओं, विभागों एवं नए प्रकार के अधिकारियों –कर्मचारियों को देश में बढावा दिया है। विकास प्रशासन ने विकास एवं देश की उन्नति में आने वाली समस्याओं एवं इनके निदान के आवश्यक उपायों का व्यापक विश्लेषण किया है। इसके पूर्व विकास एवं कल्याण सरकारी कार्य क्षेत्र में नहीं आते थे । अग्रलिखित बिन्दुओं से विकास प्रशासन की प्रासंगिकता एवं उपादेयता (महत्त्व) सिद्ध होती है :

1. विकास प्रशासन से लोक प्रशासन के सिद्धान्त (विषय के रूप में) एवं व्यवहार (प्रशासन का क्रियान्वयन पक्ष) के विकास में उल्लेखनीय परिवर्तन आए है। इससे लोक प्रशासन के क्षेत्र में लोकनीति, मानवाधिकार, सतत् विकास एवं समावेशी विकास आदि महत्वपूर्ण घटकों का प्रवेश हुआ है।
2. कार्यरत प्रशासकों एवं शिक्षाविदों के लिए इसका प्रत्यक्ष महत्त्व है। चूँकि ये ही विकास की समस्याओं एवं विकास प्रक्रिया द्वारा उत्पन समस्याओं में प्रत्यक्ष रूप से उलझे है।
3. विकास प्रशासन ने विकास के पश्चिमी प्रतिमान की अपर्याप्तताओं की ओर सफलतापूर्वक ध्यान आकृष्ट किया है जिससे विकास हेतु स्वजात (Indigenous) प्रयासों को बल एवं सफलता मिली है।
4. विकास प्रशासन के आधार पर ही आज विभिन्न विकासशील देश तीव्र गति से आगे बढ़ रहे है। चीन तथा भारत की विकास दर आज 9 से 10 प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ रही है सभी ब्रिक्स देशों (यह ब्राजील, रूस, भारत, चीन तथा दक्षिण अफ्रीका का विकास हेतु बना संगठन है) में विकास प्रशासन ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।
5. विकास प्रशासन के कारण अनेकानेक नई व्यवस्थाओं की शुरूआत हुई है। इससे लोक कल्याणकारी राज्य तथा भारत में संविधान के नीति निदेशक तत्वों को साकार करने में सफलता मिली है। इससे देश में प्रशासनिक तंत्र का सशक्तीकरण हुआ है। इससे नए प्रकार के सामाजिक मूल्य तथा परम्पराओं का विकास हुआ है साथ ही अनेक दबाव समूह एवं गैर सरकारी संगठनों (NGOs) को आगे बढ़ने का अवसर मिला है । इससे जनता में राजनीतिक चेतना एवं जनसहभागिता का प्रसार हुआ है।

व्यवहार में विकास के बिना अधिकार की व्यावहारिक व्याख्या संभव नहीं है। विकास प्रशासन में देश को सकारात्मक ढंग से बदलने की क्षमता है। अतः इसका महत्व बना रहेगा। विकास प्रशासन के साथ प्रशासनिक विकास का भी महत्व है। ये परस्पर पूरक है। **आगामी अध्याय में प्रशासनिक विकास के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।**

महत्त्वपूर्ण बिन्दु :

1. विकास प्रशासन मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से जुड़ा हुआ है।
2. विकास प्रशासन का अर्थ विकास से सम्बन्धित प्रशासन से लिया जाता है।
3. सामान्य अथवा नियामकीय प्रशासन पारम्परिक प्रशासन होता है। इसका मुख्य लक्ष्य राज्य में कानून एवं व्याख्या बनाए रखना होता है।
4. विकास प्रशासन शब्द का प्रयोग प्रथम बार एक भारतीय यू.एल.गोस्वामी द्वारा 1955 में किया गया।
5. विकास प्रशासन का जनक जार्ज गैंट को माना जाता है।
6. विकास प्रशासन की सबसे विस्तार से व्याख्या एडवर्ड वीडनर ने की है।
7. 1950 तथा 1960 के दशक में विकास प्रशासन लोक प्रशासन के सहायक विकास कर रहे है। इन्हें अभी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक विकास करना है।
8. विकास प्रशासन में विकास का अर्थ निरन्तर आगे बढ़ना तथा प्रशासन का अर्थ सेवा करना है।
9. वीडनर के अनुसार विकास प्रशासन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्गदर्शन करता है।
10. विकास प्रशासन परिवर्तनशील, विकासात्मक, नवाचारोन्मुख, प्रजातान्त्रिक, आधुनिक, परिणामोन्मुखी, प्रतिबद्ध एवं जन सहभागी होता है।
11. वर्तमान में ब्रिक्स देशों (BRICS) ने विकास प्रशासन के माध्यम से उल्लेखनीय प्रगति की है।

अभ्यासार्थ प्रश्न :

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. विकास प्रशासन शब्द का प्रथम बार प्रयोग किसने किया?
(अ) यू.एल.गोस्वामी (ब) विलियम वुड
(स) फैरल हैडी (द) महात्मा गाँधी।

2. विकास प्रशासन का जनक किसे कहते है ?
(अ) फैरल हैडी (ब) वीडनर
(स) जार्ज गैन्ट (द) फ्रेड रिग्ज

3. विकास प्रशासन की विस्तृत व्याख्या किसने की है ?
(अ) यू.एल.गोस्वामी (ब) फेयोल
(स) फ्रेड रिग्ज़ (द) वीडनर

4. विकास प्रशासन की विशेषता है।
(अ) परिवर्तनशील (ब) प्रजातांत्रिक
(स) आधुनिक (द) सभी

5. निम्नलिखित में कौनसी विकास प्रशासन की विशेषता नहीं है?
(अ) जन सहभागिता (ब) रचनात्मकता
(स) अंतर्मुखी (द) प्रतिबद्धता

6. विकास प्रशासन किन किन देशों में अपनाया जाता है ?
(अ) विकसित (ब) विकासशील
(स) अल्प विकसित (द) सभी।

7. पारम्परिक प्रशासन के लक्षण है।
(अ) यथा स्थिति निर्देशित (ब) कठोर
(स) केन्द्रीकृत (द) सभी

8. ब्रिक्स (BRICS) संगठन में कौनसाा देश शामिल नहीं है?
(अ) इण्डोनेशिया (ब) रूस
(स) चीन (द) भारत

अति लघूतरात्मक प्रश्न :

1. भारत में विकास प्रशासन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया ?
2. विकास प्रशासन की अवधारणाओं का विस्तृत ढंग से किसने विकास किया ?
3. विकास का अर्थ समझाइये।
4. विकास प्रशासन में प्रतिबद्धता से क्या अभिप्राय है ?
5. विकास प्रशासन की कोई दो विशेषता बताइये ।
6. विकास प्रशासन की परिभाषा दीजिए।
7. विकास प्रशासन का प्रमुख लक्ष्य बताइये।
8. परम्परागत प्रशासन किसे कहते है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. विकास प्रशासन के उद्भव के कारण बताइये।
2. विकास प्रशासन का अर्थ तथा परिभाषा लिखिए।
3. पारम्परिक प्रशासन किसे कहते है ?
4. विकास प्रशासन एवं पारम्परिक प्रशासन में अन्तर बताइये।
5. विकास प्रशासन की किन्हीं पाँच विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
6. विकास प्रशासन की उपादेयता समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. विकास प्रशासन का अर्थ, परिभाषा एवं उद्भव बताइये।
2. विकास प्रशासन की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. विकास प्रशासन एवं पारम्परिक प्रशासन के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
4. विकास प्रशासन का महत्त्व (उपादेयता) समझाइये।

उत्तरमाला :

1. (अ)	2. (स)	3 (द)	4. (द)
5. (स)	6. (द)	7.(द)	8. (अ)

अध्याय 11
प्रशासनिक विकास
(Administrative Development)

सुदृढ़ एवं सक्षम प्रशासन हेतु प्रशासनिक विकास आवश्यक घटक है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व के बहुत से देशों में प्रशासन की कार्य कुशलता में सुधार करने हेतु निश्चयात्मक, व्यवस्थित एवं संगठित प्रयास किए जा रहे हैं। विगत अध्याय में आपने पढ़ा कि योजना एवं परियोजनाओं के माध्यम से जो व्यवस्था विकास करती है उसे विकास प्रशासन कहते है।

विकास हेतु संलग्न प्रशासनिक इकाईयाँ एवं कार्मिक ही विकास प्रशासन कहलाते है, एवं टिकाऊ, समयानुकूल व प्रभावशाली विकास हेतु सक्षम प्रशासनिक कार्यकारिणी की आवश्यकता है, अतः विकास कार्य में संलग्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों का व्यवस्थित विकास अत्यधिक आवश्यक हैं , यही प्रशासनिक विकास कहलाता है। व्यवहार में प्रशासनिक विकास, विकास प्रशासन का ही भाग है, क्योंकि विकास प्रशासन की सफलता विकसित प्रशासनिक तंत्र पर ही निर्भर है। उदाहरण के लिए विद्यालय में कार्यरत समस्त स्टाफ विकास प्रशासन का भाग है क्योंकि ये विद्यार्थियों को पढ़ाकर उनके विकास के साथ राष्ट्रीय विकास के कार्य में लगे हुए है, एवं इन शिक्षकों के दक्ष एवं प्रशिक्षित होने से विद्यार्थियों को अधिक ज्ञान प्राप्त होगा तो ऐसे दक्ष एवं प्रशिक्षित शिक्षक प्रशासनिक विकास के अंग बन जाते है। अतः विकास हेतु इसे प्राप्त करने वाले प्रशासनिक तंत्र का विकास करना विकास प्रशासन कहलाता है।

अवधारणा :

विकास प्रशासन शब्द को दो परस्पर सम्बन्धित अर्थो में प्रयुक्त जाता है।

1. यह विकास कार्यक्रमों के प्रशासन तथा बड़े संगठनों, विशेषतया सरकारी संगठनों द्वारा प्रयोग में लाई विधियों तथा उनके वैकासिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए निर्मित नीतियों और योजनाओं के कार्यान्वयन का उल्लेख करता है। (अर्थात् विकास प्रशासन)
2. इसमें प्रशासनिक तंत्र की क्षमताओं को सुदृढ़ करने का भाव सम्मिलित रहता है। (अर्थात प्रशासनिक विकास)

प्रशासनिक विकास, विकास प्रशासन का एक आवश्यक अंग है। यह विकासशील राष्ट्रों में चलाए जा रहे व्यापक विकास कार्यों का ही एक भाग है जो इस मान्यता पर आधारित है कि विकास कार्यकुशलता, क्षमता तथा प्रक्रियाओं को इस ढंग से विकसित किया जाए कि वे अधिक प्रभावी रूप में योगदान दे सकें। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में केवल भौतिकवाद का ही प्रसार नहीं होता है बल्कि यह विकासशील समाजों के मूल्यों, संरचनाओं तथा कार्यप्रणालियों में मौलिक परिवर्तन में भी अगुवा है। आधुनिकीकरण, सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक गतिविधियों में अधिकाधिक विवेक के प्रयोग से सम्बन्धित प्रक्रिया का नाम है। विकास तथा आधुनिकीकरण की ये प्रक्रियाए समाज की सभी व्यवस्थाओं को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती है । विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में प्रशासनिक तंत्र परिवर्तन का एक सशक्त अस्त्र बन चुका है। अतः यह आवश्यक है कि यह अस्त्र भी पर्याप्त धारदार एवं विकसित हो। किन्तु विडम्बना यह है कि इन देशों का प्रशासन ही सर्वाधिक उपेक्षित, अकुशल तथा निष्प्रभावी बना हुआ है।

प्रशासनिक विकास की आवश्यकता :

प्रशासनिक विकास की आवश्यकता के अग्रलिखित कारण है :

1. विकासशील देशों का प्रशासन पश्चिमी राष्ट्रों की विरासत का पर्याय है अथवा इन देशों का लोक प्रशासन पश्चिमी देशों के ढांचे के अनुरूप बनाया गया है । विकासशील देशों का प्रशासन स्वदेशी न होकर पाश्चात्य देशों की नकल होने के कारण सम्बन्धित विकासशील
   देश की सामाजिक व्यवस्था से मेल नहीं खाता है अतः यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसा प्रशासन उस देश की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित किया जाए।
2. विकास प्रशासन की सफलता का आधार प्रशासनिक कुशलता है तथा प्रशासनिक कुशलता प्रशासनिक विकास का मुख्य चिन्तन बिन्दु है। यदि विकास प्रशासन को लक्ष्योन्मुखी तथा कार्योन्मुखी सिद्ध होना है, तो प्रशासनिक विकास आवश्यक है।
3. विकासशील देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाएं, राजनीतिक स्वतंत्रता से पूर्व नियामकीय प्रकृति की रही है जिनमें विकास के प्रति अनिच्छा तथा अक्षमता दोनों व्याप्त है। साथ में इन देशों के लोक सेवकों की मानव संसाधन क्षमताएँ भी उत्कृष्ट श्रेणी की नहीं है अतः सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार आवश्यक प्रतीत होता है।
4. सम्पूर्ण विकास प्रशासन की सफलता प्रशासनिक विकास पर निर्भर करती है अतः प्रशासनिक विकास पर गंभीरता से अध्ययन उपयोगी है। प्रशासन का समुचित विकास हुए बिना विकास प्रशासन की सफलता संदिग्ध है।

अर्थ एवं परिभाषाएँ :

नवीन मान्यताओं तथा विकासोन्मुख लक्ष्यों के परिणाम स्वरूप प्रशासनिक संरचनाओं तथा प्रक्रियाओं में किए जाने

वाले सुनियोजित परिवर्तनों को प्रशासनिक विकास कहते है।

फेड़ रिग्ज़ के अनुसार : प्रशासनिक विकास निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों को उपयोग करने की बढ़ती हुई प्रभावशीलता का प्रतिमान है।

जे.एन. खोसला के शब्दों में : नौकरशाही की नीतियों, कार्यक्रमों, क्रियाविधियों, कार्य पद्धतियों, संगठनात्मक संरचनाओं, तथा भर्ती प्रतिमानों, विभिन्न प्रकार के विकास, सेवीवर्ग तथा प्रशासन के ग्राहकों के साथ सम्बन्ध प्रतिमानों की संख्या एवं विशेषताओं में गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों प्रकार के सुधार प्रशासनिक विकास का पयार्य है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रशासनिक विकास :

1. विकास प्रशासन का एक अभिन्न अंग है।
2. प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार तथा विकास को महत्व देता है। जिससे विकास प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति में प्रशासनिक व्यवस्था सार्थक भूमिका निभा सके ं।
3. प्रशासन की परम्परागत प्रक्रियाओं, पद्धतियों, नियमों तथा मापदंड़ों में समयानुकूल विकास का हिमायती है।
4. प्रशासनिक क्षमता एवं कुशलता में वृद्धि करना चाहता है।
5. इस मान्यता पर आधारित है कि कोई भी प्रशासनिक व्यवस्था तभी प्रभावशाली एवं गतिशील रह सकती है, जब तक की समयानुकूल परिवर्तन एवं सुधार होते रहें। प्रशासनिक विकास का प्रथम साधन प्रशासनिक सुधार है। प्रशासनिक सुधार वे सुनियोजित प्रयास होते है जो प्रशासनिक तंत्र में समयानुकूल परिवर्तनों एवं संशोधनों हेतु किये जाते है।

गेराल्ड केडन के अनुसार : प्रशासनिक सुधारों का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसमें प्रशासनिक व्यवस्था की कार्य कुशलता एवं गुणवत्ता में वृद्धि करने के लिए कृत्रिम (सुनियोजित) ढंग से अर्थात् जानबूझकर परिवर्तन किये जाते है।

प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से प्रशासनिक संरचना, संगठन प्रक्रियाओं, नियमों, कानूनों, व्यवहार, लक्ष्यों तथा कार्यशैली में परिवर्तन लाने का प्रयास किये जाते है। बहुत से विद्वान प्रशासनिक कमियों अथवा बुराइयों को दूर करने को प्रशासनिक सुधार मानते है। सामान्यतः प्रशासनिक व्यवस्थाओं की प्रमुख विशेषताओं में निर्देशित परिवर्तन लाना प्रशासनिक सुधार माने जाते है। प्रशासनिक सुधारों के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ, अभिप्रेरणा, संयम, राजनीतिक इच्छाशक्ति, वित्तीय साधनों की उपलब्धता तथा जनमत का सहयोग इत्यादि अपेक्षित है लेकिन भारत सहित अधिसंख्य विकासशील देशों में प्रशासनिक सुधारों के या तो प्रयास ही नहीं हो पाते है अथवा सुनियोजित ढंग से बाधाऐं उत्पन्न कर दी जाती है। प्रशासनिक विकास का दूसरा साधन नवाचार (Innovation) है। **थाम्पसन के अनुसार** –''नवाचार, नयें विचारों, प्रक्रियाओं और सेवाओं का आविष्कार करना, स्वीकृति प्रदान करना और उनको व्यवहार में लाना है'' यह विचार धारा अनुकूलन पर निर्भर करती है। नवाचार अर्थात् नये आचार (व्यवहार) के लिए तीन तत्त्व आवश्यक है :

(1) नई वस्तु का आविष्कार या नये विचार या विधि का जन्म हो,
(2) इसे स्वीकृति मिले।
(3) स्वीकृति के पश्चात् व्यवहार में लाया जाए।

परम्परागत समाजों तथा समस्यागत प्रशासन में नवाचारों का प्रयोग आसान नहीं है। बल्कि राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकों की अनिच्छा, सूचना एवं पहल क्षमता का अभाव, अवसरवादी स्वभाव, कठोर नौकरशाही, जनजागरूकता की कमी तथा प्रशासन का आन्तरिक पर्यावरण बाधाएँ उत्पन्न करते है।

प्रशासनिक विकास का तृतीय साधन स्वतः प्रशासनिक उद्विकास से सम्बन्धित है। अर्थात् यह प्रक्रिया बिना किसी सुनियोजित प्रयास के स्वतः चलती रहती है। समय एवं परिस्थितियों भी प्रशासन को विकसित कर देती है प्रशासन का पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण भी यही मानता है कि बाह्य वातावरण जैसे समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था तथा विज्ञान इत्यादि लोक प्रशासन को प्रभावित करते रहते है। तथा प्रशासन भी इन कारकों को प्रभावित करता रहता है। विकास प्रशासन की प्रकृति एवं आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशासनिक व्यवस्था भी स्वतः ही विकसित हो जाती है।

विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास में अन्तर :

विकास प्रशासन (प्रशासन द्वारा किये जाने वाला विकास) तथा प्रशासनिक विकास (प्रशासनिक क्षमताओं में वृद्धि) परस्पर अन्तः सम्बन्धित अवधारणाऐं है। विकास प्रशासन, सामाजिक आर्थिक उन्नति, नियोजित परिवर्तन तथा जनकल्याण के लिए निर्मित नीतियों तथा परियोजनाओं का संचालन एवं नियंत्रणकर्त्ता अभिकरण है। वर्तमान में विकास कार्यक्रमों का प्रारूप नियोजित प्रणाली पर तैयार होता है, तथा निर्धारित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु विशिष्ट क्षेत्रों की परियोजनाएँ निर्मित की जाती है। इसलिए कहा जाता है कि विकासशील राष्ट्रों में परियोजना प्रशासन ही विकास प्रशासन है। यद्यपि विकास प्रशासन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक तथा बहुआयामी है। तथापि विकास कार्यों तथा सामाजिक – आर्थिक परिवर्तन के कार्यक्रमों के संचालन से सम्बन्धित प्रशासनिक व्यवस्था विकास प्रशासन का पर्याय बन चुकी है। जहां तक प्रशासनिक विकास का सम्बन्ध है यह विकास प्रशासन का एक भाग या पूर्व शर्त है। विकास प्रशासन उसी स्थिति में सफलता पूर्वक कार्य कर सकता है, जबकि उसमें विकास कार्यों को सफलता पूर्वक , सम्पादित करने की प्रशासनिक क्षमता तथा योग्यता हो। इसलिए विकास कार्यों में संलग्न प्रशासनिक संगठनों, अभिकरणों तथा कार्मिकों को विकास प्रशासन की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करना ही प्रशासनिक विकास है। प्रशासनिक कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता में वृद्धि करके ही प्रशासनिक विकास का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

विकास प्रशासन	प्रशासनिक विकास
1. देश के सामाजिक – आर्थिक विकास एवं उन्नति के लक्ष्यों की प्राप्ति में संलग्न प्रशासनिक व्यवस्था, विकास प्रशासन है।	1.देश के सामाजिक –आर्थिक विकास तथा उन्नति के लक्ष्यों के लिए प्रशासनिक व्यवस्था को सक्षम बनाना तथा उनमें समयानुकूल परिर्वतन लाना प्रशासनिक विकास है।
2. लोक कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विकास प्रशासन आवश्यक है।	2. विकास प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रशासनिक विकास आवश्यक है।
3.यह एक व्यापक प्रशासनिक क्षेत्र का भाग है।	3. यह इस व्यापक प्रशासनिक क्षेत्र का छोटा पक्ष या उसकी आंतरिक गतिविधि है।
4.विकास प्रशासन, प्रशासनिक विकास को आधार प्रदान	4. प्रशासनिक विकास, विकास प्रशासन की सफलता का आधार बनता करता है।
5..यह प्रशासन के द्वारा विकास करना है।	5. यह प्रशासन का विकास है।
6.विकास प्रशासन सामाजिक आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक तथा प्रशासनिक इत्यादि कई आयामों से सम्बद्ध है।	6. प्रशासनिक विकास स्वयं विकास प्रशासन का एक भाग है।

विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास के मध्य अन्तरसम्बन्ध :

विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास के मध्य धनिष्ठ सम्बन्ध है। कार्यात्मक आधार पर विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास के क्रम में रिग्ज़ का मानना है कि इन दोनों पक्षों की परस्पर सम्बद्धता में अण्ड़े और मुर्गी जैसा कार्य–कारण भाव है सामान्य रूप से प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन पर्यावरणीय आयामों में परिवर्तन के बिना नहीं लाये जा सकते हैं और इसी प्रकार पर्यावरण तब तक परिवर्तित नहीं हो सकता है जब तक कि विकास कार्यक्रमों के प्रशासन को सुदृढ़ एवं कुशल नहीं बनाया जाता है। परिवर्तन एक शाश्वत प्रक्रिया है लेकिन यह कई पक्षों की गति से प्रभावित है। विकास प्रशासन समाज के कल्याण, विकास तथा सुरक्षा हेतु परिवर्तन के प्रयास करता है किन्तु परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को सक्षम सिद्ध करने के लिए स्वाभाविक रूप से प्रशासनिक विकास अनिवार्य हो जाता है। कार्योन्मुख तथा लक्ष्योमुख प्रशासन प्रणाली से युक्त विकास प्रशासन, प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि की और प्रशासनिक संगठनों के मार्ग दर्शन की प्रक्रिया का रूप धारण कर लेता है। मार्ग दर्शन करने से पूर्व यह स्वाभाविक रूप से आवश्यक है कि यह स्वयं को सक्षम व योग्य सिद्ध हो अन्यथा असफलता का सारा दायित्व मार्गदर्शक का ही होगा । यदि विकास प्रशासन योजनाबद्ध परिवर्तन का प्रशासन है तो यह भी आवश्यक है कि वह योजना निर्माण तथा क्रियान्वयन के सभी पक्षों बाधाओं, समस्याओं तथा संभावित संकटों से परिचित हों। इसलिए यह प्रयास किया जाता है कि विकास प्रशासन की प्रक्रिया में प्रशासनिक विकास भी साथ–साथ होता रहे। भारत सहित अधिकांश विकासशील राष्ट्रों में अभी तक पूरी तरह से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि विकास प्रशासन की गति तथा प्रशासनिक विकास की गति में पूर्ण सामंजस्य किस प्रकार स्थापित हो । बहुत से आलोचक यह मानते है कि विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास पूर्णतया दो पृथक अवधारणाएं है जिन्हें परस्पर एकता के आधार पर विश्लेषित न किया जाए किन्तु वास्तविकता यही है कि तीसरी दुनिया के देशों में इन दोनों अवधारणाओं को पृथक करना सहजता से सभंव नहीं है इस सन्दर्भ में फ्रेड़ रिग्ज़ का कथन कि विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकास के मुर्गी एवं अण्डे वाला सम्बन्ध सही प्रतीत होता है। नई रचना हेतु मुर्गी एवं अण्डा दोनों की आवश्यकता होती है तथा दोनों परस्पर पूरक है। क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के कारण भी है तथा कार्य भी। इसी प्रकार विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास भी परस्पर पूरक है। फलतः विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास एक ही सिक्के के दो पहलु है, अतः दोनों की विशेषताए भी एक समान है।

प्रशासनिक विकास के साधन :

प्रशासन द्वारा निरन्तर स्वयं का विकास किया जाता है व्यवस्था के स्वास्थ्य हेतु यह कारण आवश्यक भी होता है इस हेतु प्रशासन अनेक साधनों का प्रयोग करता है इसमें प्रमुख साधन अग्रलिखित है :

1.प्रशासनिक सुधार : प्रशासन में वांछित सुधार हेतु समय–समय पर संरचनात्मक, प्रक्रियात्मक एवं व्यवहारात्मक परिवर्तन किये जाते है। भारत में स्वतन्त्रता के बाद से ही सरकार निरन्तर प्रशासनिक सुधार करती आई है। इस हेतु सरकार विभिन्न समितियों, आयोग आदि का गठन करती है। भारत में लोक प्रशासन को अधिक कारगर बनाने हेतु सुझाव देने के लिए भारत सरकार द्वारा प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन श्री मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में 5 जनवरी 1966 को किया गया । दूसरा प्रशासनिक सुधार आयोग 31 अगस्त 2005 को श्री वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में गठित किया गया । इनके द्वारा दिए गए सुझावों को स्वीकार कर प्रशासनिक तंत्र में समयानुसार अनेक सुधार किये गये है।

2. नवाचार : परम्परागत समाजों में नवाचार लाकर ही प्रशासनिक विकास किया जा सकता है। आज हमारी सरकार डिजीटल गवर्नमेंट बनती जा रही है। आज बहुत सी सुविधाए ऑन लाइन उपलब्ध है राजस्थान में आम जनता की शिकायतों के निवारण हेतु सम्पर्क समाधान पोर्टल बनाया गया है।

3. पारिस्थितिकी : प्रशासन का बाह्य वातावरण जैसे संस्कृति, मूल्य, समाज, आर्थिक विकास, राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि प्रशासन को प्रभावित करती है। स्वयं प्रशासन भी इन कारकों को प्रभावित करता है। व्यवहार में जैसा विकास करना हो उसके अनुरूप प्रशासनिक व्यवस्था का विकास करना आवश्यक होता

है।

प्रशासनिक विकास की समस्याएँ : विकासशील देशों का प्रशासनिक ढंग अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त रहता है। ये समस्याए प्रशासनिक विकास की प्रभावशीलता में कमी कर देते है। प्रमुख समस्याए अग्रलिखित है :

1. **ऐतिहासिक समस्याएँ** : अधिकतर विकासशील देशों पर विकसित राष्ट्रों का आधिपत्य रहा है। जिससे इनके विकास में उपनिवेशवादी विरासतें बाधा उत्पन्न करती है।
2. **संरचनात्मक एवं संगठनात्मक समस्याएँ** : प्रत्येक देश का प्रशासन निश्चित संरचना से संचालित होता है । अनेक बार इन संरचनाओं में निहित कमजोरियाँ प्रशासनिक सक्रियता में कमी कर देती है। जैसे अनावश्यक एवं लम्बा पदसोपान होने से निर्णय होने में विलम्ब उत्पन्न होता है।
3. **भ्रश्टाचार की समस्या** : विकासशील देश इस समस्या से अत्यधिक ग्रस्त है। इसमें भाई–भतीजावाद, पक्षपात, रिश्वत, नैतिक मूल्यों में कमी आदि है।
4. **अनाव□यक राजनीतिक दखलंदाजी** : विकासशील देशों में राजनीतिज्ञों द्वारा बार–बार प्रशासनिक तंत्र में दखल दिया जाता है जिससे प्रशासनिक तंत्र में कमजोरियाँ आती है।

   उपर्युक्त के अलावा परिचालनात्मक समस्याएं, कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी समस्याएं, प्रक्रियात्मक एवं व्यवहारात्मक समस्याऐं आदि प्रमुख समस्याएं है।

निष्कर्ष : आज प्रशासनिक विकास की उपादेयता दिन–प्रति दिन बढ़ती जा रही है वर्तमान युग तकनीकी युग है जिसमें प्रशासन का भी आधुनिकीकरण अनिवार्य है सुशासन एवं विधि के शासन की स्थापना प्रशासनिक विकास के माध्यम से ही सम्भव है। आज प्रशासनिक विकास के समक्ष अनेक चुनौतियाँ है यथा –

1. प्रशासन पर गुणवत्तापूर्ण सेवा प्रदायगी हेतु बढ़ता दबाव ।
2. सरकार का बढ़ता आकार।
3. सूचना एवं संचार क्रान्ति के परिवर्तनों को शीघ्र अंगीकार करने का सामर्थ्य विकसित करना। आज सरकार के समक्ष ऐसे विभिन्न मोबाइल एप्लिकेशन का विकास करने की चुनौती है जिनसे नागरिकों को घर बैठे सही एवं शीघ्र सेवा प्राप्त हो सके। भारत में शासन में डिजीटल क्रान्ति की शुरूआत हो गई है। आज सरकार के अधिकतर विभाग तथा संस्थाएं न केवल इन्टरनेट पर उपलब्ध है वरन् अब ये फेसबुक, ट्विट्र आदि सोशल साइट्स पर भी उपलब्ध है। ऑनलाइन वित्तीय लेन–देन हेतु भारत सरकार ने भीम एप्लीकेशन का विकास किया है।
4. नियोजन, समन्वय, नियन्त्रण, पर्यवेक्षण, विकेन्द्रीकरण की निरन्तर बढ़ती आवश्यकता।
5. मानव विकास सूचकांक में उच्च स्थान हासिल करने की चुनौती, सामाजिक न्याय की स्थापना तथा कमजोर वर्ग एवं दिव्यागों (निशक्तजन) हेतु लागू प्रावधानों को बेहतर ढंग से क्रियान्वयन करने की चुनौती।
6. आज आर्थिक समस्याएं प्रशासन की भी समस्याए है। अतः जब तक देश में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि सामाजिक तंत्र का ढ़ाचा कमजोर रहेगा, तब तक सुदृढ प्रशासनिक विकास की महत्ता बनी रहेगी ।
7. निरन्तर प्रशासनिक सुधार की चुनौती।
8. प्रशासन को परिवर्तन अभिमुख एवं विकास अभिमुख बनाने की चुनौती।

उपर्युक्त चुनौतियों के बावजूद प्रशासनिक तंत्र निरन्तर विकास प्रशासन में भागीदारी का निर्वहन कर रहा है। लोक नीतियों का व्यवस्थित ढंग से क्रियान्वयन प्रशासनिक विकास द्वारा ही सम्भव है । समावेशी एवं सतत् विकास (Inclusive & Sustainable Development) को साकार करने हेतु सुदृढ़ प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता है। जिसके लिए प्रशासनिक विकास अनिवार्य है।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. विकास प्रशासन हेतु प्रशासनिक विकास अनिवार्य है।
2. प्रशासनिक विकास में प्रशासनिक तंत्र की क्षमताओं को सुदृढ़ करना शामिल है।
3. जिन देशों में अभी पिछड़ापन है वहाँ विकास प्रशासन व प्रशासनिक विकास दोनों की आवश्यकता है।
4. प्रशासनिक विकास प्रशासन की कुशलता एवं क्षमता में वृद्धि करना है।
5. भारत में प्रशासनिक विकास हेतु अभी तक अनेक समीतियों एवं आयोगों का गठन किया गया है। इनमें प्रथम एवं द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग प्रमुख है।
6. विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास में पारस्परिक सम्बन्ध को मुर्गी एवं अण्डें का सम्बन्ध फ्रेड रिग्ज़ ने कहा हैं।
7. भीम वित्तीय लेन–देन हेतु विकसित सरकारी मोबाइल एप्लीकेशन है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक विकास की तुलना मुख्यतः किससे की जाती है ?
(अ) परम्परागत प्रशासन से (ब) विकास प्रशासन से
(स) राज्य प्रशासन से (द) राष्ट्रीय प्रशासन से

2. प्रशासनिक विकास का मुख्य उद्देय है –
(अ) सामर्थ्य व दक्षता बढ़ाना
(ब) प्रशासनिक तंत्र का विस्तार
(स) कार्यक्षेत्र बढ़ाना
(द) उपयुक्त में से कोई नहीं

3 प्रशासनिक विकास तथा विकास प्रशासन में मुर्गी व अण्डे का सम्बन्ध किसने बनाया है ?
(अ) फेयोल (ब) रिग्ज़
(स) फैरल हैडी (द) साइमन

4. प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन कब हुआ था?
(अ) 1960 (ब) 1966
(स) 1970 (द) 1976

5. निम्नलिखित में कौन से प्रशासनिक विकास के साधन हैं।
(अ) प्रशासनिक सुधार (ब) नवाचार
(स) वेबसाइट (द) उपर्युक्त सभी

6. सरकार के जनता से जुड़ाव के नवीन साधन है।
(अ) फेसबुक (ब) टिवट्र
(स) वेबसाइट (द) उपर्युक्त सभी

7. सम्पर्क समाधान पोर्टल माध्यम है ?
(अ) विवाह पंजीकरण
(ब) स्वास्थय विभाग के आँकड़े
(स) नागरिक शिकायत निवारण
(द) विदेशी पर्यटकों की समस्या का समाधान।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक विकास का अर्थ समझाइये।
2. विकास प्रशासन का अर्थ लिखिए।
3. प्रशासनिक विकास के प्रमुख साधन क्या है ?
4. प्रशासनिक विकास की कोई दो चुनौतियाँ लिखिए।
5. सम्पर्क समाधान पोर्टल क्या हैं ?
6. भीम एप्लीकेशन क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक विकास का अर्थ व परिभाषा लिखिए।
2. प्रशासनिक विकास की आवश्यकता समझाइये।
3. फ्रेड रिग्ज का अण्ड़ा व मुर्गी सम्बन्ध क्या हैं ?
4. प्रशासनिक विकास व प्रशासनिक सुधार में सम्बन्ध बताइये।
5. प्रशासनिक विकास की समस्याएँ लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक विकास का अर्थ, परिभाषा एवं आवश्यकता पर लेख लिखिए।
2. विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकास के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाइये।
3. प्रशासनिक विकास की प्रमुख समस्याओं को समझाइये।
4. प्रशासनिक विकास के साधनों को स्पष्ट करते हुए इसकी चुनौतियों पर लेख लिखिए।

उत्तरमाला –

1. (ब) 2.(अ) 3. (ब) 4. (ब)
5. (द) 6.(द) 7. (स)

इकाई–5 भारतीय प्रशासन : सामान्य परिचय

अध्याय – 12
कौटिल्य के प्रशासनिक विचार
(Administrative Ideas of Kautilya)

आचार्य कौटिल्य का व्यक्तित्व :

आचार्य कौटिल्य को प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन एव प्रशासनिक विचारधारा की परम्परा में अग्रणीय चिंतक माना जाता है। कौटिल्य द्वरा आज से 2300 वर्ष पूर्व रचित अर्थशास्त्र को विश्व के राजनीति दर्शन एव कूटनीति पर लिखी गई विविध कृतियों में श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है। कुछ विद्वानों ने कौटिल्य को भारतीय राजनीति का मैकियावली भी कहा है, जबकि तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाए तो कौटिल्य अपने विचारों व कृतित्व में मैकियावली से कही आगे और वर्तमान सूचना प्रौद्योगिकी के युग में भी प्रासंगिकता बनाये हुए है।

कौटिल्य का जीवन परिचय :

विभिन्न संस्कृत ग्रथों एव प्रचारित किवदंतियों के अनुसार ये प्रमाण मिलते हैं कि कौटिल्य को चाणक्य एवं विष्णुगुप्त के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। चणक के पुत्र होने के कारण उन्हे चाणक्य कहा जाता है तथा प्रसिद्ध विद्वान टी. गणपतिशास्त्री के मतानुसार कौटल गौत्र में उत्पन्न होने के कारण उन्हे कौटिल्य नाम से भी पुकारा जाता है। आचार्य कौटिल्य ब्राह्मण कुल में पैदा हुए तथा उनका वास्तविक पितृ प्रदत्त नाम विष्णुगुप्त था। कौटिल्य का समय तीसरी से चौथी शताब्दी ईसा पूर्व या 323 ईसा पूर्व के लगभग माना गया है। भारतीय इतिहास की प्रमाणिक तिथि क्रमानुसार कौटिल्य सिकन्दर, ग्रीक विद्वान अरस्तु एवं महान मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। कौटिल्य का जन्म स्थान कुछ विद्वानों ने तक्षशिला तथा कुछ विद्वानों नें मगध जनपद को माना है। कौटिल्य की शिक्षा नालन्दा विश्वविद्यालय में हुई, तथा अपना अध्ययन समाप्त करके वे इसी विश्वविद्यालय में शिक्षक नियुक्त होकर अध्यापन करने लगे। कौटिल्य अपने व्यक्तित्व एवं स्वभाव की प्रकृतिनुसार उग्र, दृढ़ निश्चयी, स्वाभिमानी एवं तीक्ष्ण बुद्धि से युक्त थे। यह सर्वमान्य एवं प्रमाणिक तथ्य है कि अर्थशास्त्र के रचियता आचार्य कौटिल्य ही मौर्य वंश के संस्थापक महान मौर्य सम्राट चन्दगुप्त के गुरु एवं उनके प्रधानमंत्री भी थे।

कौटिल्य की ख्याति के दो मुख्य कारण है : प्रथम यह है कि उन्होने नन्दवंश द्वारा अपना अपमान करने पर बदला लेने हेतु उसे समूल नष्ट करने का प्रण लिया। इस प्रण को चन्दगुप्त मौर्य की सहायता से पूर्ण किया एवं चन्दगुप्त मौर्य को मगध के सिंहासन पर आसीन कर मौर्यवंश की स्थापना की। द्वितीय कारण यह कि उन्होने राजनीति एव प्रशासन की कला पर अर्थशास्त्र जैसे महान एवं यथार्थवादी सिद्वान्तों पर आधारित ग्रंथ की रचना की ।

अर्थशास्त्र के रचयिता व रचनाकाल :

अर्थशास्त्र के रचयिता व रचनाकर के सम्बध में विद्वानों के विचारों में काफी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जहाँ एक और डॉ.काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ. शामशास्त्री, श्री गणपति शास्त्री, फ्लीट , स्मिथ इत्यादि विद्वान प्राचीन शास्त्रकारों के तर्को के आधार पर अर्थशास्त्र को मौर्य सम्राट चन्दगुप्त मौर्य के प्रख्यात महामंत्री कौटिल्य की कृति मानते है, वही इसके विपरीत जौलि, विन्टरनीट्ज जैसे पाश्चात्य विद्वान कौटिल्य शब्द को ही मिथ्या मानते है। उनके अनुसार कौटिल्य नामक कोई विचारक अर्थशास्त्र का रचनाकार नहीं है क्योकि मैगस्थनीज ने इस नाम के किसी ग्रंथ एव ग्रंथकार का अपनी पुस्तक इण्डिका में उल्लेख नही किया है, जबकि वह मौर्यकाल में भारत की यात्रा पर आया था।

अर्थशास्त्र के रचयिता के सम्बध में मतभिन्नता के बाद भी इस बात के काफी प्रभाण मिलते है कि अर्थशास्त्र के रचनाकार कौटिल्य ही है। ये प्रमाण निम्नलिखित है –

(1) अर्थशास्त्र के आरम्भ में 'कौटिल्येन कृत शास्त्रम्'', दूसरे अधिकरण में ग्रंथ के रचनाकार के लिए कौटिल्य शब्द का उल्लेख तथा अध्याय के अन्त में '' इति' कौटिलीय अर्थशास्त्र'' शब्द का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि रचनाकार कौटिल्य है।

(2) कामंदक नीतिसार में भी उल्लेख है कि अर्थशास्त्र की रचना कौटिल्य द्वारा की गई है।

(3) पंचतन्त्र के लेखक विष्णुशर्मा ने भी अर्थशास्त्र के रचनाकार को चाणक्य नामक ब्राहमण के रुप में सम्बोधित किया और नमन किया है ।

(4) कवि दण्डी द्वारा लिखित दशकुमार चरित्रम् में यह मत उल्लेख किया गया है कि विष्णु ने मौर्य सम्राटों के हित में छः हजार श्लोक का ग्रंथ लिखा है।

अर्थशास्त्र के रचनाकार विषयक शंकाओं एव भ्रमपूर्ण धारणाओं का निराकरण 1904 में हुआ जब मैसूर के प. आर. शामशास्त्री को इस ग्रथ की मूल कृति की प्राप्ति हुई। सन् 1915 में प. आर. शामशास्त्री ने The Arthashastra of Kautilya के नाम से इसका संशोधित अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र एक संक्षिप्त परिचय :

कौटिल्य ने सर्वप्रथम राजनीति विज्ञान पर अर्थशास्त्र की रचना की। जो पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रों से रचना सामग्री में व्यापक रुप में भिन्न है। सामान्यतः वर्तमान युग में अर्थशास्त्र शब्द इकोनोमिक्स के अर्थ में प्रस्तुत होता है किंतु प्राचीनकाल में यह चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अर्थ का प्रतिनिधित्व

करता था। कौटिल्य की दृष्टि में जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम है। यथार्थवादी चिंतक होने के कारण कौटिल्य ने मोक्ष की चर्चा नही की है।

अर्थशास्त्र के नामकरण के सदर्भ में कौटिल्य कहते है :

'' मनुष्याणां वृत्तिरथ: मनुस्यति भूमिरित्यर्थः
तस्या पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति । ''

अर्थात् मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते है, मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। इस प्रकार भूमि के प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा का सबसे अधिक गूढ़, वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित, यथार्थवाद का समर्थन करने वाला विस्तृत ग्रंथ है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक विचारों व संस्थाओं का स्पष्ट व व्यापक विवेचन मिलता है। इस ग्रंथ में राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धित सिद्वान्त, शासन पद्वति, राजा की योग्यता, गुण एवं कर्त्तव्य, मंत्री व मंत्रीपरिषद् , उनकी योग्यता, नियुक्ति, राजकीय प्रशासन तंत्र तथा राज्य अधिकरियों के कर्त्तव्य, ग्राम एवं नगर की स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था, न्यायालयों इत्यादि का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक स्थिति, कूटनीति, गुप्तचर व्यवस्था, राष्ट्रीय मूल्यों एवं उन्नति आदि विषयों का सिहावलोकन किया गया है।

विषय सामग्री की दृष्टि से अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र, राजनीति शास्त्र, आधुनिक अर्थशास्त्र, लोकप्रशासन, समाजशास्त्र, युद्वशास्त्र आदि का समुच्चय माना जाता है। यह उस काल में आधुनिक सामाजिक विज्ञानों के अन्तर अनुशासनिक उपागम को ध्यान में रखकर लिखा गया था। वस्तुतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र आज भी इक्कीसवीं सदी के नवीन लोककल्याणकारी वैश्विक राज्य की विशिष्टताओं से युक्त राज्य क दिग्दर्शन है।

कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र में कुल 15 अधिकरण, 180 प्रकरण, 150 अध्याय एवं 6000 श्लोक है। अर्थशास्त्र में वर्णित कुल 15 अधिकरणों में से केवल 1,2,5 एवं 6 अधिकरणों का सम्बध लोक प्रशासन विषय से है। इस ग्रंथ के आधे भाग में वैदेशिक नीति एव युद्ध नीति की ही चर्चा की गई है।

राज्य की उत्पत्ति सिद्वान्त :

कौटिल्य ने राज्य को मानव जीवन के लिये एक महत्वपूर्ण आवश्यक एव कल्याणकारी संस्था माना है। उनके राज्य विषयक विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे छोटी मछली को बडी मछली खा जाती है वैसे ही बलवान लोगों ने निर्बल लोगों को सताया तो इस मत्स्य न्याय से भयभीत प्रजा ने मिलकर ''वेवस्वत् मनु'' को अपना राजा नियुक्त किया उन्होने राजा को कृषि उपज का छठा भाग, व्यापार की आय का दसवाँ भाग देने का निश्चय किया इस तरह प्रजा कर देने व एक व्यक्ति द्वारा शासित होने को तैयार हो गयी ताकि वे आनन्द पूर्वक रह सके व सुरक्षा पा सके राजा ने प्रजा के कल्याण के दायित्व को अपने ऊपर ले लिया जो लोग राजा द्वारा की गई व्यवस्था को नही मानते थे, उन्हे वह दण्ड देता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य (राजा) की आज्ञा का पालन न करना अथवा उसका अपमान करना निषिद्ध है।

''प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजाना च हिते हितम्
नात्म प्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् '' (कौटिल्य)

कौटिल्य ने कहा है की प्रजा के सुख मे राजा का सुख है । प्रजा के हित मे ही उसका हित है। जो कुछ राजा को प्रिय हो वह उसे हित ना समझे बल्कि जो प्रजा को प्रिय हो वह उसे ही अपना हित समझे।

कौटिल्य ने राजा के लिए देवीय सिद्वान्त का समर्थन किया परन्तु उस पर धर्म के नियन्त्रण पर भी बल दिया। वे शासन में राजतंत्र प्रणाली का समर्थन करते थे । राजा के चुनाव की प्रकिया का अर्थशास्त्र में कहीं उल्लेख नही किया गया है। कौटिल्य ने राजतंत्र शासन की कुछ प्रणालियों का उल्लेख किया है।

जैसे : **द्विराज्य प्रणाली** – जिसमें एक ही परिवार के दो व्यक्तियों द्वारा पूरे राज्य पर शासन किया जाता है।

वैराज्य प्रणाली – राज्य पर विदेशी व्यक्ति द्वारा शासन किया जाता है जो उस राज्य के कानूनी शासक को शक्ति के द्वारा हटाकर शासन करता है। कौटिल्य ने इस वैराज्य सरकार प्रणाली का निषेध किया है क्योंकि विदेशी शासक का शासित राज्य (जीते हुयें राज्य) के कल्याण में कोईरुचि नही होती है।

राज्य का सप्तांग सिद्वान्त :

कौटिल्य ने राज्य के अंगो की चर्चा करते हुए अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण में सप्तांग सिद्वान्त की चर्चा की है। राज्य के सप्तांग अर्थात सात अंगो को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

1. राजा –स्वामी
2. अमात्य–मंत्री
3. जनपद–प्रादेशिक
4. दुर्ग–किला
5. राजकोष–वित्त
6. दण्ड–सेना
7. मित्र–मित्र राज्य

1. राजा या स्वामी : कौटिल्य राजा को राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव केन्द्रीय अंग मानता है। कौटिल्य का मत है कि राज्य की समस्त शक्तियाँ राजा में निहित होनी चाहिए। उसके अनुसार गुणवान और चरित्रवान, उच्च कुल में उत्पन्न, धार्मिक, दूरदर्शी, सत्यवादी, महत्वाकांक्षी, अथक परिश्रमी, शिक्षा प्रेमी तथा योग्य मंत्रियों से युक्त राजा राज्य को सफलता के शिखर तक पहुँचा सकता है।

2. अमात्य या मत्री : कौटिल्य के अनुसार अमात्य या मंत्री राज्य संचालन के वास्तविक अंग है। उनके मतानुसार राज्य में अमात्यों की नियुक्ति राजा द्वारा योग्यता के आधार पर करनी चाहिए। अर्थशास्त्र में अमात्य और मंत्री इन दो शब्दों का कही पर साथ–साथ तो कही पर अलग–अलग प्रयोग किया गया है । कुछ स्थानों पर अमात्यों को मुख्यमंत्री के रुप में प्रस्तुत किया गया है, तो कहीं पर उन्हे मंत्रियों के नीचे भी रखा गया है। कौटिल्य के मतानुसार अमात्य को दूरदर्शी, बुद्विमान, प्रतिभाशाली तथा राजा के प्रति वफादार होना चाहिए।

3. जनपद या प्रादेशिक क्षेत्र :

कौटिल्य ने अपने सप्तांगों में जनपद को राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग माना है। उन्होने जनपद की कोई स्पष्ट परिभाषा

नही दी। तथापि जनपद के माध्यम से कौटिल्य ने भूमि और जनता दोनो को ही राज्य क्षेत्र का आवश्यक अंग माना है । कौटिल्य का मत है कि जनपद इतना समृद्व होना चाहिए कि वह कर अदा कर सके तथा उसकी जनता राजा के प्रति वफादार और उसके आदेशो का पालन करने वाली हो।

4. दुर्ग या किलाः

कौटिल्य ने जनपद की तरह ही दुर्ग अथवा किले को भी राज्य के चौथे अंग के रुप में महत्वपूर्ण माना है। दुर्ग राज्य की आक्रामक तथा प्रतिरक्षात्मक योग्यता का प्रतीक होता है। कौटिल्य के मतानुसार दुर्ग चार प्रकार के होते है जैसे औदक दुर्ग (जल से घिरा हुआ), पर्वत दुर्ग (पहाडी पर स्थित), वन दुर्ग (वनों से घिरा हुआ), धान्वन दुर्ग (रेगिस्तान से घिरा हुआ)। कौटिल्य के मतानुसार औदिक एवं पर्वत दुर्ग संकटकाल में जनपद की रक्षा करने में सहायक होते है जबकि धान्वन और वन दुर्ग, जगलों की रक्षा करने तथा विपत्ति के समय राजा की भी रक्षा करने में सहायक सिद्व होते है।

5. राजकोष :

राज्य के पाँचवें अंग के रुप में कौटिल्य ने राजकोष की आवश्यकता पर बल दिया। कौटिल्य ने सर्वाधिक ध्यान राजकोष पर देने का समर्थन किया, क्योंकि उनका यह मत था कि सभी उद्यम वित्त पर ही निर्भर होते है अतः राज्य की सभी सम्पत्ति जिसमें राजा को उपहार स्वरुप मिला हुआ धन भी शामिल है उसको अंकेक्षित किया जाना चाहिए।

6. दण्ड या सेना :

कौटिल्य ने राज्य और जनता की रक्षा के लिए एक सुसंगठित सेना का समर्थन किया है । कौटिल्य के मतानुसार सेना को शक्तिशाली एव देशभक्त होना चाहिए। राजा की सफलता की कुँजी सेना में ही निहित होती है। कौटिल्य ने चार प्रकार की सेना का वर्णन किया है, जो हाथी सेना, रथ सेना, अश्व सेना और पैदल सेना है। इन सभी सेनाओं का प्रधान सेनापति अर्थात् सर्वोच्च कमाण्डर राजा को होना चाहिए।

7. मित्र :

राज्य के सातवें अंग के रूप में कौटिल्य ने मित्र की महत्ता को स्वीकार किया है । राज्य की सुरक्षा के लिए मित्र का होना अति आवश्यक है, क्योंकि संकट की स्थिति में मित्र ही राज्य की सहायता कर सकता है। कौटिल्य के मतानुसार प्रत्येक राज्य के स्थायी मित्र होने चाहिए।

कौटिल्य के द्वारा उपर्युक्त वर्णित सप्तांग राज्य के गुणों के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते है। कौटिल्य का मानना है कि राज्य के ये सातों अंग अन्तरसंबंधित हैं। इन सात अंगों से युक्त राज्य की कल्पना कौटिल्य ने की थी और राज्य को एक जीवित शरीर के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था । यही कारण है कि कौटिल्य के राज्य सप्तांग सिद्धान्त को राज्य का सावयव सिद्धान्त भी कहा जाता है।

केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था :

आचार्य कौटिल्य ने विजीगीषु सम्राट के सम्पूर्ण राज्य के प्रशासन तंत्र का विस्तृत वर्णन, विश्लेषण अर्थशास्त्र में किया है। केन्द्रीय प्रशासन में आचार्य ने सम्राट (शासक), मंत्रीपरिषद्, मंत्रिगण, अमात्यों, विभागाध्यक्षों, युक्त, उपर्युक्त व तत्पुरूष जैसे राज्य कर्मचारियों का उल्लेख किया है। इसमें गुणों , योग्यता, नियुक्ति, कार्यो, वेतनमानों का भी वर्णन किया है। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :

राज्य (शासक) :

कौटिल्य नें राज्य संस्था में राजा को सर्वोपरि स्थान दिया। राजा को उन्होंने कूटस्थानीय (केन्द्रीय) भूमिका प्रदान की। राजा ही जनपदों को विजय कर साम्राज्य में वृद्धि करता है, अमात्यों , अध्यक्षों की नियुक्ति करता है। कोष, दुर्ग, सेना की सुव्यवस्था करता है, वैदेशिक सम्बन्धों द्वारा मित्र बनाता है। शत्रुओं का विनाश करता है राजकोष, जनता राजपुरूषों, पर आई विपत्ति का प्रतिकार करता है एक आदर्श व्यक्ति ही कूटस्थानीय होकर राज्य की रक्षा कर सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं।

राजा की योग्यता व गुण :

कौटिल्य के अनुसार राजा उसी जनपद का मूल निवासी हो। ऊँचे कुल का हो। दैवीय, बुद्धियुक्त, धार्मिक, वृद्धजनों की बातें सुनने वाला, चरित्रवान एवं उद्यमशील हो। वह दीर्घपूँजी न हो, परस्पर विरोधी बातें न करता हो, सामन्तों पर प्रभाव रखने वाला तथा बुद्धि, बल , प्रतिभा व स्मरणशक्ति में विशिष्ट हो। इसके अलावा विनय (नियन्त्रण में रहने वाला), उग्र दोषों से रहित, दूरदर्शी व सभी शिल्पों में निपुण हो।

उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त आदर्श राजा की प्राप्ति सरल कार्य नहीं है, इसलिए आचार्य ने यह कहा की इसके लिये विद्याविनीत (शिक्षा व विनय) प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति में उत्तम गुणों का विकास किया जा सकता है। बचपन से ही शिक्षा एवं नियन्त्रण रखकर आदर्श राजा बनाया भी जा सकता है। उसमें इन्द्रियजयी गुण साधना द्वारा विकसित किये जा सकते है।

राजा विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाला) प्रवृति का हो । विभिन्न शास्त्रों यथा दण्डनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म, सैन्य, शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये। वह अपनी रक्षा के प्रति हमेशा सजग रहे क्योंकि वह सम्पूर्ण राज्य का आधार बिन्दु है, तथा उसका जीवन राष्ट्र व जनता की अमानत है। कौटिल्य मत था कि राजा उद्यमशील हो, आदर्शवादी हो तभी जनता उद्यमशील, सुखी व सम्पन्न होगी। कौटिल्य का राजा प्लेटो के दार्शनिक राजा की तरह महात्मा या आदर्शवादी न होकर यर्थाथवादी व कल्याणकारी है।

राजा के कर्त्तव्य :

कौटिल्य ने क्रमबद्ध तरीके से राजा के कर्त्तव्य का वर्णन नहीं किया है, यत्र तत्र राजा के कर्त्तव्य व अधिकारों का उल्लेख किया है। राजा के अधिकार व कर्त्तव्य निम्नलिखित है।

1. प्रजा की रक्षा करना।
2. राज्य की सुरक्षा व विस्तार करना
3. धर्म की स्थापना व रक्षण करना
4. जनकल्याण करना।
5. शांति व्यवस्था बनाये रखना
6. न्याय व दण्ड व्यवस्था करना
7. कर का संग्रह करना।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा करना ही उसका परम कर्त्तव्य नहीं है, वरन् उनका मुख्य उद्देश्य ''योगक्षेम'' की स्थापना करना है। योगक्षेम अर्थात जो नहीं है उसको प्राप्त करना और जो है उसकी रक्षा करना।

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता :

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजकीय कार्यों के तीन प्रकार बतायें है। प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा अनुमेय। प्रत्यक्ष कार्य, वे कार्य जो अपने सम्मुख हो, परोक्ष वे कार्य जो दूसरे बतायें तथा अनुमेय कियें हुये कार्य से न किये हुयें कार्यों का अनुमान करना है। एक शक्तिशाली राजा भी समस्त कार्य स्वयं नहीं कर सकता हैं । अतः उसकी सहायता के लिए अमात्यों की नियुक्ति की आवश्यकता होती है। ये उसको राज्य कार्य में परामर्श भी देते हैं, और राज्य कार्यों को सम्पादित भी करते हैं। कौटिल्य ने यह भी कहा कि विविध समयों, विविध स्थानों, और विविध कार्यों के लिए अमात्यों या सचिवों को नियुक्त किया जाए ।

मंत्री परिषद् का संगठन :

आचार्य कौटिल्य के अनुसार राजा को अपने सम्पूर्ण राज्य की सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था के लिये एक मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था करनी चाहिये। इसमें सदस्यों की संख्या के लिये उनका विचार था कि ''यथा सामर्थ्य '' अर्थात् कार्य करने वाले पुरूषों के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नियत होनी चाहिए। मंत्री परिषद् में होने वाली मन्त्रणा अत्यन्त गोपनीय होनी चाहिए।

मन्त्रिण :

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मन्त्रि परिषद् के साथ ही एक छोटी उपसमिति का भी उल्लेख किया है इन्हें ''मंन्त्रिण'' कहा गया है। शीघ्र निर्णय लेने वाले विषयों पर इनसे परामर्श लिया जाता था। इनकी संख्या तीन या चार ही होती थी। इस प्रकार शासक प्रायः अपने मन्त्रिगण व मंत्रिपरिषद् के परामर्श से ही राज्य कार्य का संचालन किया करता था।

अमात्यः

कौटिल्य के अनुसार मंत्री व अमात्य दो अलग–अलग पद थे। कौटिल्य ने लिखा है कि–''राजा को चाहिए की यथोचित गुण, देश, काल और कार्य की व्यवस्था को देखकर वह सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तियों को अमात्य बना सकता है, किन्तु सहसा ही उनको मंत्री परिषद् में नियुक्त न करें।'' इससे स्पष्ट है कि मंत्री और अमात्य दो भिन्न –भिन्न पद थे और अमात्य की अपेक्षा मंत्री का पद बड़ा था। कदाचित यह बात रही होगी कि मंत्री, मंत्री परिषद् का सदस्य भी होता था और राजा को सुझाव भी दे सकता था जबकि अमात्य मंत्री परिषद् का सदस्य तो होता था किन्तु उसको मंत्री पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं था।

अध्यक्ष : राज्य में समाहर्त्ता व सन्निधता अमात्यों के अधीन कई विभाग व गृह थे। इनके विभागीय प्रमुखों को अध्यक्ष कहा गया है। समाहर्त्ता के अधीन 20 अध्यक्ष थे। ये अपने अपने विभागों के राजकीय करों का एकत्रीकरण करते थे तथा राज्य के लोक उपक्रमों (कारखानों) जो उद्योगों , व्यापार व व्यवसाय से संबंधित थे, उनका भी संचालन करते थे।

सन्निधाता के अधीन निम्न विभाग थे। 1. कोशगृह (बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह) 2. पण्यगृह (राजकीय कर्मान्तों में तैयार माल का संग्रह) 3. कोष्ठगार (आवश्यक सामग्री का संग्रह), 4 . कुप्य गृह (वन सम्पदा का संग्रह), 5. आयुधागार (अस्त्र–शस्त्रों का संग्रह) 6. बन्धनागार (जेल)।

अन्य राज्य कर्मचारी :

मौर्यो के शासन में महामात्यों और अध्यक्षों के अधीन बहुत से अनेक राज्य कर्मचारी भी कार्य करते थे जिनके लिए ''युक्त'' , ''उपयुक्त'' तथा ''तत्पुरूष'' नाम दिया गया है।

कार्मिक प्रशासन :

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में योगवृत निरूपण नामक अधिकरण में राज्य कर्मचारियों के कर्त्तव्यों व अपराधों के दण्ड देने के नियमों का वर्णन किया है। इसके अध्यायों में कर्मचारियों के भरणपोषण, वेतनमान, व्यवहार, नियम पालन आदि का उल्लेख किया है। कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकारियों के लिये प्रशासनिक कार्य सिद्धान्तों, भर्ती प्रक्रिया, नियुक्ति, पदसोपान, वेतनमान, पदोन्नति, अनुशासनात्मक कार्यवाही, स्थानान्तरण, अवकाश एवं भ्रष्टाचार की रोकथाम के उपायों का वर्णन किया है।

कौटिल्य के प्रशासन में राज्य को मन्त्रणा की आवश्यता क्यों होती है, इसके निम्न चार कार्य सिद्धान्त बतलाये है।

1. इससे कार्य प्रारम्भ करने के उपाय (पद्धति, नियोजन तथा संगठन) प्राप्त होते हैं ।
2. आवश्यक कार्मिक, धन, संसाधन के सम्बन्ध में विचार हो जाता है।
3. स्थान व समय, सम्भावित बाधाओं का अनुमान लग जाता है।
4. प्रतिकार की रीति नीति निर्धारित की जा सकती है।

भर्ती प्रणाली :

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में प्रत्येक अधिकारण के अधिकारी की योग्यताओं का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने उच्च अधिकारियों की शिक्षा, योग्यता व कौशल पर अधिक बल दिया है। आधुनिक लोकप्रशासन के अनेक विद्वान जैसे हेनरी फेयोल भी उनका अनुसरण करते भी प्रतीत होते हैं।

कौटिल्य ने चार प्रकार की विधायें जैसे – अन्विक्षिकी (आध्यात्म, दर्शन, तर्क) त्रयी (धर्म, अधर्म, इतिहास, वेदों का ज्ञान) वार्ता (कृषि, व्यापार व अर्थशास्त्र का ज्ञान) दण्डनीति (शासन कला व राजनीति का ज्ञान) का विषद विवेचन किया है। उनके अनुसार राजा व युवराज को ये चारों विधाओं का ज्ञान होना चाहिये अन्य सेवाओं के लिये भी उन्होंने कार्यानुसार योग्यतायें बतायी हैं। भर्ती के लिये प्रत्यक्ष साक्षात्कार, परोक्ष परीक्षा (दूसरों से उसके बारे में पूछकर) कार्य पर परीक्षण व परीक्षा या उपायों द्वारा परख का उन्होंने समर्थन किया है।

धर्मोपद्या अर्थात् धर्म की परीक्षा से हृदय की पवित्रता, **अर्थोपद्या** अर्थात् धन का लालच देकर, **कामापद्या** अर्थात् काम, गुप्त प्रवृतियों के द्वारा आचरण की शुद्धता की, **भयोपद्या** अर्थात् भय के उपायों से शुचिता की परीक्षा की जाती थी। आचार्य ने कहा है कि जो धर्मोपद्या उत्तीर्ण कर ले वह न्यायालय में अर्थोपद्या उत्तीर्ण को सन्निधाता , अथवा समाहर्ता का पद, कामापद्या उत्तीर्ण करने वाले अमात्य को अन्तपुर रक्षक व भयोपद्या वाले को अंगरक्षक नियुक्त करा जाये । जो चारों परीक्षा में खरा उतरे वही अमात्य मन्त्रिणगण बनाया जाये।

पदसोपान :

पद सोपान सिद्धान्त पर उस काल में वेतनमान का निश्चयीकरण किया गया था। कौटिल्य का मानना था कि राज्य द्वारा कार्मिकों को उतना वेतन अवश्य मिले की वे जीवन सरलता से व्यतीत करें तथा उनकी अभिप्रेरणा स्तर न गिरे। राजा पद क्रम में सर्वोच्च व केन्द्रीय प्रबन्धक स्थिति पर था।

वेतनमान : इससे पद क्रम में **प्रथम स्तर** मन्त्री, पुरोहित, युवराज आदि थे इनका वेतनमान 48000 पण थे। **द्वितीय स्तर** पर समाहर्ता आदि थे जिनका वेतन 24000 पण था। **तृतीय स्तर** पर दण्डपाल, नायक आदि थे। इनको 12000 पण मिलते थे। निम्नतम वेतनमान 60 पण के लगभग पशु व मनुष्यों के परिचारकों का था। कर्मचारियों को उनके कार्यो व पदानुसार वेतन दिया जाता था।

पदोन्नतिः

अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को चाहिये कि गुप्तचरों की सहायता से ईमानदार कार्मिकों का पता लगाकर पुरस्कृत करें, कर्त्तव्य विमुख कार्मिकों को दंडित करें। दण्ड, अपराध सिद्ध होने पर तथा दोष की प्रकृति के अनुसार, निर्धारित होता था। कौटिल्य ने कर्मचारियों के लिये आचार संहिता का निर्माण किया था। राजा व अन्य उच्चाधिकारियों के सामने अधिनस्थ के शालीन व उत्तम व्यवहार की विस्तृत व्याख्या है। नियमविरूद्ध व्यवहार पर पदावनति की बात भी की है।

स्थानान्तरण व अवकाश :

कौटिल्य स्थानान्तरण का पूर्ण समर्थन नहीं करते थे। वे इसको दण्डस्वरूप प्रयोग करने की बात करते है। उनकी मान्यता है कि राजमहल, विभागों व राज्य के सीमान्त रक्षकों का स्थानान्तरण नहीं किया जाना चाहिए। कौटिल्य अवकाश के विरोधी थे किन्तु अस्वस्थ होने व विशिष्ट कारण पर अवकाश दिया जा सकता था।

कौटिल्य कालीन वित्तीय प्रशासन एवं वित्तीय व्यवस्था :

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तात्कालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक सिद्धान्तों के साथ ही उन विषयों का भी गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है जो धन (वित्त) से सम्बन्ध रखते हैं । कौटिल्य ने राज्य के सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्णित सात प्रकृतियों (अंग) में भी कोष (धन) को प्रमुख स्थान दिया है । कौटिल्य का मत यह है कि एक सशक्त एवं सुशासित राज्य के लिए स्वामी (राजा), दुर्ग (जनपद) अमात्य (कार्मिक वर्ग) के साथ ही सम्पन्न कोश (धन) और बल (सेना) परम आवश्यक है। कौटिल्य ने राज्य की जिन आर्थिक नीति का उल्लेख किया है उसमें तीन सिद्धान्तों को प्रमुखता दी है। ये तीन सिद्धान्त निम्नलिखित है –

1. सार्वजनिक उद्योगों से सम्बन्धित सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार वे उद्योग जिस पर राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है। उनका संचालन राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। इन उद्योगों में लगाई गई पूँजी, उनका श्रम, और सम्पूर्ण प्रबन्ध राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य ने मूल उद्योगों पर राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व को स्वीकार किया है। इस क्षेत्र में नागरिकों को निजी पूँजी लगाने का कोई अधिकार नहीं दिया गया । मुख्य उद्योगों को राजकीय नियन्त्रण में रखने का मूल आधार सम्भवतः एक सशक्त राज्य का निर्माण रहा होगा। इन मूल उद्योगों में प्रमुखतः सूत्र उद्योगों (वस्त्र उद्योग) आकार उद्योग (खनन उद्योग) आयुध उद्योग (हथियार उद्योग), मुद्रा उद्योग (टकसाल उद्योग) सुराद्योग (शराब उद्योग) कुप्य उद्योग (वन उत्पाद उद्योग) इत्यादि सम्मिलित थे।

2. निजी क्षेत्र सम्बन्धित सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार जनता इस क्षेत्र में आने वाले उद्योगों पर अपनी पूँजी, अपना श्रम और अपना प्रबन्ध लगा सकती है। इस प्रकार इन उद्योगों का संचालन उसी (जनता) के द्वारा किया जाता है। इस श्रेणी में आने वाले उद्योगों पर व्यवस्थापकों का एक मात्र अधिकार पाया गया है। ऐसे उद्योगों में खेती, सूत, शिल्प, गौ पालन, अश्व पालन, हस्ति पालन, गायन–वादन आदि की गणना की जा सकती है।

3. नियन्त्रण सम्बन्धित सिद्धान्त :

कौटिल्य की अर्थ नीति का तीसरा सिद्धान्त समाज में ऐसी सुव्यवस्था बनाये रखने से सम्बद्ध है जिसके अनुसार राज्य के समस्त उत्पादन (Production), वितरण (Distribution), और उपभोग (Consumption) पर शासन का नियन्त्रण बना रहेगा। उक्त सभी उद्योगों तथा व्यवसायों पर राज्य का स्वामित्व (State ownership) इसलिए माना गया कि राज्य का अर्थबल सशक्त बना रहे और समाज के सभी वर्ग क्रियाशील बने रहें।

वित्तविभाग का संगठन :

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के अध्ययन से मोर्य साम्राज्य के केन्द्रीय प्रशासन से सम्बन्धित प्रमुख तथ्यों का विस्तृत ज्ञान ग्रहण होता है। मौर्ययुग में जनपद के विविध अधिकरणों (विभागों) का भी उल्लेख किया गया है। इनके अधिकारयों की संज्ञा ''तीर्थ'' थी। मोर्य प्रशासन में इन अधिकारियों (तीर्थों) की संख्या अठारह थी। इन अठारह तीर्थो में से चार तीर्थों (अधिकरणों) का सम्बन्ध वित्त विभाग से था । इन चार तीर्थों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

1. समाहर्त्ता :

मौर्य प्रशासन के अन्तर्गत विभिन्न जनपदों के लिए नियुक्त अमात्यो (राजपुरूषों) को जहाँ समाहर्ता कहते थे, वही केन्द्रीय शासन का भी एक अधिकरण (तीर्थ/विभाग) समाहर्त्ता के अधीन था। समाहर्त्ता का अधिकरण राजकीय आय और व्यय की व्यवस्था करता था। राजकीय करों को एकत्र करना इस अधिकरण का सर्वप्रधान कार्य था।

समाहर्त्ता को यह देखना होता था कि कौन से कार्य, हाथ में हैं, कौनसे कार्य सिद्ध हो चुके हैं तथा कौनसे कार्य शेष हैं, कितनी आय है, कितना व्यय है, और कितनी विशुद्ध आमदनी है। समाहर्त्ता के कार्यों का कौटिल्य ने इस प्रकार उल्लेख है : वह राजकीय आय को एकत्र करें , आय में वृद्धि करें, व्यय में कमी करें तथा इसके विपरीत न होने दे। समाहर्त्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने–अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे और ऐसे व्यापार, व्यवसाय व उद्योगों का संचालन करते थे, जो राज्य के स्वामित्व के अधीन थे।

सन्निधाता :

वित्त विभाग के अन्तर्गत ही समाहर्त्ता के बाद दूसरा प्रमुख अधिकारी सन्निधाता के नाम से जाना जाता था। ये अमात्य राजकीय कोश की देखभाल करने वाला प्रधान अधिकारी था। वह कोशगृह, पुण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार एवं बन्धनागार, (जेल) का निर्माण करा उनकी देखभाल करता था। कोशगृह के निर्माण के विषय में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गूढ़ एवं विस्तृत वर्णन किया है। सन्निधाता के अधीन भी अनेक उपविभागों की सत्ता थी इनमें है :

1. कोशगृह (कोशाध्यक्ष के अधीन)
2. पुण्यगृह (पुण्याध्यक्ष के अधीन)
3. कोषागार (कोषागाराध्यक्ष के अधीन)
4. आयुध्यागार (आयुधागाराध्यक्ष के अधीन)
5. बन्धनागार (बन्धनागाराध्यक्ष के अधीन)

अक्षपटलाध्यक्ष (अकाउंट जनरल) : यह अमात्य प्रशस्ता अधिकरण (राजकीय आज्ञाओं को लिपिबद्ध करने सम्बन्धित विभाग) के अधीन कार्य करता था। इसको विभिन्न निबन्धपुस्तकों (रजिस्टरों) की देखभाल का कार्य सौंपा गया था। यह अमात्य निबन्ध–पुस्तकस्थान (कार्यालय) में विभिन्न राजकीय निबन्ध पुस्तकों को रजिस्टर्ड करता था। इसके अधीन बहुत से कार्यवाही कार्य करते है इन्हें गाणनिक्य, कारणिक, संख्यामक, कार्मिक आदि कहा जाता है।

कार्मातिक :

मौर्य युग में राज्य की और से अनेक उद्योगों का संचालन किया जाता था। इसके लिए बहुत से कर्मान्त (कारखाने) स्थापित किए जाते थे। खानों, जंगलों, खेतों आदि से एकत्र कच्चे माल को भिन्न–भिन्न उपयोगों के लिए तैयार माल में परिवर्तित करने के लिए राज्य की ओर से जो विविध कारखाने स्थापित थे, उनका संचालन एवं नियन्त्रण कार्मातिक के अधिकरण द्वारा किया जाता था।

राजकीय आय–व्यय की व्यवस्था :

कौटिल्य ने राज्य की आय –व्यय के साधनों के बारे में विस्तार से वर्णन किया है। अर्थशास्त्र में राजकीय आय के सात स्त्रोत या साधन बतलाये है। कौटिल्य ने इन्हीं को आय–शरीर नाम से सम्बोधित किया है। इनसे किस प्रकार राज्य आमदनी प्राप्त करता है, इस सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश अर्थशास्त्र में विद्यमान है। ये राजकीय आय के सात साधन है : दुर्ग, राष्ट्र, खनिज, सेतु, वन, व्रज और वार्णिक पथ। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दुर्ग और ''राष्ट्र'' और शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है और राज्याधीन आय रूप के प्रसंग में वे पारिभाषिक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुये है।

राजकीय व्यय :

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय व्यवस्था के बारे में भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इस व्यय के 22 प्रकार बताये गये है। कौटिल्य ने इन सबको ''व्यय शरीर'' की संज्ञा दी है। इन 22 वर्गों में से सैन्य प्रशासन पर व्यय होने वाले करीब पाँच वर्ग है ये वर्ग निम्नांकित है – आयुधागार, पंक्ति (पैदल सेना) अश्वपरिग्रह (घुडसवार सेना) द्विप परिग्रह (हस्तिसेना) और गोमण्डल (सेना का माल ढोने के लिए बैल इत्यादि पशु।) इससे स्पष्ट होता है कि मौर्य प्रशासन में सेना पर राजकीय आमदनी का बड़ा भाग खर्च किया जाता था। कौटिल्य ने राजकीय प्रशासन में कार्यरत राजकीय कर्मचारियों के वेतनमानों का उल्लेख भी किया है जो यह स्पष्ट करता है कि राजकीय व्यय का एक बड़ा हिस्सा राजकीय कर्मचारियों के वेतनमान पर व्यय किया जाना था।

भ्रष्टाचार की समस्या व रोकथाम :

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में अधिकरण दो के अध्याय आठ व नौ में वित्तकोष के खाली होने के कारणों व उसमें कर्मचारियों की भूमिका, उनमें वित्तीय अपराधों पर जुर्माने व भ्रष्टाचार के करीब चालीस प्रकारों का उल्लेख किया है।

भ्रष्टाचार के ये रूप आज भी न्यूनाधिक रूप में मौजूद है। कौटिल्य कहते है अर्थात् जिस प्रकार जीभ पर रखे हुये शहद या विष के सम्बन्ध में न चाहते हुए भी स्वाद आ ही जाता है। ठीक उसी प्रकार राजा के अर्थ सम्बन्धी कार्यो पर नियुक्त कार्मिक उस धन का थोड़ा सा भी स्वाद न ले यह सम्भव नहीं है। वे थोड़े बहुत धन का अपहरण अवश्य करते है। इसी प्रकार कौटिल्य एक और तर्क देते है, अर्थात् जिस प्रकार पानी में रहने वाली मछलियाँ कब पानी पीती है, दिखाई नहीं देती है, उसी प्रकार अर्थ कार्यों पर नियुक्त कार्मिक, अर्थ का अपहरण करते हुये प्रतीत नहीं होते है। कौटिल्य ने कहा है कि आकाश में उड़ते पक्षियों की गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करना सरल है किन्तु धन का अपहरण करने वाले कार्मिकों की गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करना कठिन कार्य है।

कौटिल्य ने भ्रष्टाचार के निदान के लिये निम्न उपाय सुझायें थे :

1. भ्रष्टाचार की समाप्ति का अंकुश लगाने के लिये राजा या सम्बन्धित विभाग का अमात्य सहायक अधिकारी, भण्डार अधिकारी, लेखा अधिकारी, सलाह देने वाले व भ्रष्टाचार कार्य में सहायक व्यक्तियों से व्यक्तिगत पूछताछ करते थे। गलती सिद्ध हो जाने पर जुर्माने व दण्ड की व्यवस्था थी।
2. राजा द्वारा भ्रष्टाचार की जाँच व समाप्ति के लिये निगरानी और जाँच समिति का गठन किया जा सकता था।
3. राजा के द्वारा राज्यादेश निर्गत किया जा सकता था कि सार्वजनिक सम्पत्ति का अपहृत करने वाले भ्रष्टाचारी के कुकृत्यों का भेद देने वाले व्यक्ति को पुरस्कार स्वरूप अपहृरत धन का एक चौथाई भाग प्रदान करने की व्यवस्था की गई है।
4. सार्वजनिक सम्पत्ति के समीप रहने वाले पदाधिकारियों पर राजा द्वारा विशेष गुप्तचरों को लगाया जा सकता है।
5. समय समय पर निरीक्षण द्वारा अमात्य भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण कर सकते थे।
6. प्रशासन को भ्रष्टाचार मुक्त रखने के लिये कौटिल्य ने प्रशासनिक पदाधिकारियों के स्थानान्तरण का प्रावधान भी किया था।
7. कौटिल्य ने भ्रष्टाचार प्रभावित होने पर पदाधिकारियों के लिये दण्ड का प्रावधान किया ताकि वे पुनः भ्रष्टाचार में लिप्त न हो। कौटिल्य ने भ्रष्टाचार को रोकने के लिये राजा द्वारा मृत्युदण्ड दिये जाने की सिफारिश की है।

कौटिल्य ने भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त प्रशासन में सत्य निष्ठा की स्थापना हेतु

योग्य पदाधिकारियों को पुरस्कार देने की बात की है। इससे स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार मुक्त प्रतिबद्ध एवं लक्ष्यान्मुख प्रशासन की स्थापना के लिये आचार्य ने बहुत ही व्यापक, व्यावहारिक, कानूनी व मनोवैज्ञानिक प्रयास किया है।

न्यायव्यवस्था :

अर्थशास्त्र में न्याय व कानून व्यवस्था का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। आचार्य कौटिल्य समुचित न्याय को राज्य का प्राण मानते है। राजा यदि अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं करता है तो वह नष्ट हो जाता है न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन व सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों को दण्डित करना है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्याय प्रदान करने के लिये कानून के चार स्त्रोत बताये है :

1. धर्म 2. व्यवहार
3. चरित्र 4. राजशासन।

कौटिल्य ने इनको स्पष्ट करते हुये स्वयं कहा है ''धर्म का आधार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आधारित है, मनुष्यों में परम्परागत रूप से चले आये नियम चरित्र कहलाते है। और राजा द्वारा प्रसारित आज्ञायें राजशासन है।

अर्थशास्त्र के अनुसार विवादों का निर्णय इन चतुष्पाद कानूनों द्वारा होता था। राजशासन का न्यायालय की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व था। कौटिल्य प्रमुख विचारक थे जिन्होंने राजा को कानून का स्त्रोत माना और राज्य के वैधानिक कानून को मान्यता दी। राजाज्ञा को चरित्र व व्यवहार से ऊपर मान्यता दी। धर्म (वर्तमान का औचित्य) के आधार पर तब ही निर्णय किया जाता था जबकि सम्बन्धित विवाद पर कोई राजकीय आदेश, चरित्र व व्यवहार न हो। कौटिल्य की न्याय व्यवस्था के अनुसार राज्य के सभी व्यक्ति एक समान है। न्याय राजा व याचक दोनों के लिये समान है। राजा भी जाति, श्रेणी, कुल, जनपद में संघों में जो चरित्र (परम्परागत कानून) चले आ रहे है उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता था।

दण्ड नीति : अर्थशास्त्र में दण्डनीति के सन्दर्भ में निम्न व्याख्या की गई है :

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में पक्षपातपूर्ण न्याय करने या निर्दोष को दण्ड देने पर न्यायकर्ता को दुगुने दण्ड का भागी बताने की बात की है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने प्राचीन शास्त्रों के इस सिद्धान्त का अनुकरण किया है –

दण्डः शासित प्रजाः सर्वा दण्ड स्वाधिराहाति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डः धर्म विपुषुधाः ।।

अर्थात् दण्ड प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, जब सभी सो रहे होते हैं तब दण्ड ही जागता है। बुद्धिमानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है। आमजन को मत्स्य न्याय से बचाने के लिये कौटिल्य ने साधारण व कठोर, मौद्रिक व शारीरिक, सामाजिक (अपमान), राजनीतिक (देश निकाला) कई प्रकार के दण्ड वर्णित किये है। कौटिल्य ने ब्राह्मण, स्त्री बालक को कम दण्ड देने का प्रावधान किया है। कौटिल्य राजा से अपेक्षा करते है कि वह अपराध समान होने व सिद्ध होने पर पुत्र एवं शत्रु को बराबर दण्ड दें।

परराष्ट्र नीति एवं सिद्धान्त :

कौटिल्य ने प्रशासन के अन्तर्गत परराष्ट्र नीति व उसके संचालन का भी विस्तार से वर्णन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का छठा और सातवाँ अधिकरण मुख्यतः इन्हीं तथ्यों से सम्बन्धित है। अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण में मण्डल सिद्धान्त तथा सातवें अधिकरण में षाडगुण सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।

मण्डल का शब्द तात्पर्य '' राज्यों का वृत्त'' से है कौटिल्य ने अपने इस सर्वप्रमुख सिद्धान्त की रचना आर्यावर्त के अनेक राज्यों को ध्यान में रखकर की है यह सिद्धान्त एक राजा को विजय की आंकाक्षा रखने वाला समझकर उसके चतुर्दिक अन्य राज्यों के मण्डल की रचना करता है। इसमें प्रत्येक राज्यों के साथ सम्बन्ध कैसा होना चाहिए तथा एक दूसरे राज्य से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इत्यादि का वर्णन मिलता है। मण्डल सिद्धान्त का सार है ''शत्रु का शत्रु मित्र होता है''।

कौटिल्य ने मण्डल में राज्यों की कुल संख्या बारह बतायी है इन बारह राज्यों की अपनी अलग स्थिति, पहचान तथा वैदेशिक नीति है, इनको स्पष्ट करके ही मण्डल सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से समझा जा सकता है – सर्वप्रथम, मण्डल के बारह राज्यों में विजिगीषु राजा का नाम सबसे पहले आता है। जिसको केन्द्र मानकर कौटिल्य ने मण्डल या मण्डल सिद्धान्त की रचना की है । विजिगीषु राजा वह राजा है जो अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखता है तथा राज्य के विस्तार के लिए विभिन्न प्रकार के उपायों का सहारा लेता है। इस प्रकार, विजिगीषु राजा महत्वाकांक्षी होता है। इसका स्थान मण्डल में मध्य में होता है। मण्डल का दूसरा राज्य 'अरि' है और विजिगीषु राज्य के सामने की ओर होता है। तथा विजिगीषु का शत्रु होता है। फ्रांस और जर्मनी, पोलैण्ड और रूस तथा चीन और जापान का द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व के सम्बन्ध को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। मण्डल का तीसरा राज्य मित्र है जो अरि के सामने होता है। इसके नामकरण का कारण प्रथम और मध्य में स्थापित विजिगीषु राज्य से इसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना है। विजिगीषु और मित्र राज्यों को एक दूसरे को सहायता करने पर कौटिल्य जोर देते है। वर्तमान में, अफगानिस्तान के साथ भारत की मित्रता को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। मण्डल का चौथा राज्य ''अरिमित्र'' कहलाता है जो मित्र के सामने वाला राज्य होता है। अरिमित्र अरि का मित्र परन्तु विजिगीषु का शत्रु होता है। अरिमित्र का सम्बन्ध प्रथम राज्य विजिगीषु और तृतीय राज्य 'मित्र' से अच्छा नहीं होता जबकि 'अरि' से जो मण्डल में द्वितीय राज्य है, से मित्रता का सम्बन्ध होता है। पाँचवाँ ''अरिमित्र'' के सामने वाला राज्य ''मित्र–मित्र'' कहलाता है। क्योंकि वह मित्र राज्य का मित्र होता है और इसलिए अरि राज्य के साथ भी उसका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होता है।

मण्डल का सातवाँ राज्य पार्ष्णिग्रह कहलाता है जो विजिगीषु के पीछे का राज्य है। अरि के तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु ही होता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस राज्य का सम्बन्ध विजिगीषु राज्य के आगे वाले राज्य से अरि से बेहतर होता है । मण्डल के आठवें राज्य का नाम ''आक्रंद'' है जो पार्ष्णिग्रह के पीछे रहता है। यह विजिगीषु का मित्र लेकिन पार्ष्णिग्रह का शत्रु होता है। मण्डल का नवाँ और आंक्रद के पीछे वाला राज्य ''पार्ष्णिग्रहसार'' है, जो पार्ष्णिग्रह का मित्र होता है।

स्पष्ट है कि वह आंक्रद का शत्रु होगा। मण्डल का दसवाँ और पार्ष्णिग्रह के पीछे अवस्थित राज्य ''आंक्रदसार'' कहलाता है। और वह आंक्रद का मित्र होता है । मण्डल का ग्यारहवाँ और विजिगीषु तथा अरि राज्यों की सीमा से संलग्न राज्य 'मध्यम' राज्य कहलाता है। वह विजिगीषु और दोनों से अधिक शक्तिशाली होता है। मण्डल का बारहवाँ राज्य उदासीन कहलाता है। जो विजिगीषु और उसके शत्रु के मध्य कहीं भी अवस्थित रहता है। युद्ध के समय वह पूर्ण तटस्थ रहता है तथा सर्वोच्च शक्तिशाली राज्य होता है।

अब कौटिल्य के ''मण्डल सिद्धान्त'' के अध्ययनोपरान्त कुछ तथ्य उजागर होते है – **पहला** यद्यपि मण्डल शब्द बारह राज्यों के समूह के एक वृत्ताकार क्षेत्र की ओर संकेत करता है तथापि उन राज्यों के स्थान की कल्पना एक सीधी रेखा में की जा सकती है। **दूसरी** बात यह है कि उदासीन राज्य युद्ध से अलग रहकर ही सर्वाधिक शक्तिशाली है। उसके राज्यों की वृत्त में सर्वाधिक शक्तिशाली होने का राज युद्ध जैसी विनाशकारी प्रवृत्ति से अपने को अलग रखना है । **तीसरी** बात यह है कि मध्यम और उदासीन राज्य को छोड़कर मण्डल के अन्य सभी राज्यों की शक्ति प्रायः समान होती है। इस प्रकार मण्डल समान शक्ति वाले राज्यों का एक समूह होता है जो दो विरोधी गुट में विभक्त रहता है। एवं जहाँ एक गुट का नेता समस्त मण्डल पर सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास करता है । **चौथी** बात यह है कि संख्या बारह से यह नहीं समझना चाहिए कि मण्डल के निर्माण बारह राज्यों का होना ही आवश्यक है, उससे कम या अधिक भी राज्यों की संख्या हो सकती है। वस्तुतः काल और परिस्थिति इसके अतिरिक्त के अनुरूप राज्यों की संख्या में परिवर्तन (न्यूनता या अधिकता) हो सकता है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन राज्यों का जो नामकरण किया गया है वे सभी नाम परिस्थिति के अनुसार बदल सकते है। एक ही राज्य परिवर्तित स्थिति में अरि, मित्र या विजिगीषु कोई भी बन सकता है।

निष्कर्ष : में यह कहा जा सकता है कि मण्डल सिद्धान्त कौटिल्य की वैदेशिक नीति सम्बन्धी सूझ–बूझ और व्यवहारिक राजनीति में उनकी दक्षता का परिचायक है। वस्तुतः यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की मौलिक वास्तविकताओं पर आधारित है।

शाड्गुण सिद्धान्त :

कौटिल्य ने षाड्गुण सिद्धान्त या वैदेशिक नीति सिद्धान्तों का वर्णन अर्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण में किया गया है। कौटिल्य एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ हैं। जिन्होंने वैदेशिक नीति सिद्धान्तों को राज्य की सुरक्षा, अखण्डता और स्वतन्त्रता के लिए परम आवश्यक माना है ये षाड्गुण सिद्धान्त छह प्रकार के है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :

1. सन्धि : कौटिल्य के युग में सन्धि का वैदेशिक नीति के रूप में महत्वपूर्ण स्थान था जो वर्तमान सन्धियों के स्वरूप से भिन्न है। राज्य की दुर्बलता के कारण सन्धि की नीति अपनायी जाती है।

2. विग्रह : यहाँ विग्रह का अर्थ शत्रुता है। इस सिद्धान्त को राज्य अपने बचाव एवं दूसरे राज्य पर आक्रमण के सन्दर्भ मं अपनाता है । कौटिल्य का कहना है कि जब राज्य यह समझे कि वह शत्रु राज्य के मुकाबले में विजयी हो सकता है तो सन्धि की नीति को त्यागकर विग्रह की नीति अपनानी चाहिए।

3. आसन : यहाँ आसन का अर्थ है अपने आपको युद्ध से अलग रखकर चुपचाप बिना किसी प्रतिक्रिया के बैठ जाना। राजा आसन की नीति तब अपनाता है जब वह यह समझता है कि वह इतना समर्थ नहीं है कि शत्रु को हानि पहुँचा सके। बल्कि शत्रु ही इतना प्रबल है कि वह उसको हानि पहुँचा सकता है।

4. यान : शत्रु पर आक्रमण करने की तैयारी का नाम यान है। जब राजा शत्रु की अपेक्षा निश्चित रूप में अधिक शक्तिशाली होता है, तभी वह इस नीति का अनुसरण करता है।

5. संश्रय : संश्रय का अर्थ शरण प्राप्त करना है, यह नीति दुर्बलता का प्रतीक है। यदि राजा शत्रु की अपेक्षा अपने को दुर्बल समझाता है एवं प्रबल शत्रु उस पर आक्रमण करता है या आक्रमण करने की धमकी देता है, तो वह किसी अन्य राजा की शरण ले सकता है, परन्तु राजा को सही राज्य में शरण लेनी चाहिए। जो शत्रु की तुलना में अधिक बलवान हो एवं जो उसका प्रिय भी हो।

6. द्वैधीभाव : द्वैधीभाव का अर्थ एक राज्य से सन्धि एवं दूसरे से विग्रह करना होता है, कौटिल्य ने भी स्पष्ट कर दिया है। कि द्वैधीभाव नीति के अनुसार , विजिगीषु को शक्तिशाली राजा के साथ सन्धि और कमजोर राजा के साथ विग्रह नीति अपनानी चाहिए। स्पष्टतः इस नीति का उद्देश्य शत्रु का क्षय करना एवं अपनी शक्ति की वृद्धि करना है।

कौटिल्य ने विदेश नीति के संचालन के उपर्युक्त छ' सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य चार उपाय भी बताये है – साम,दाम, भेद और दण्ड। साम–मैत्री सम्बन्धी दृष्टिकोण का नाम है जिसमें राजा समझा बुझाकर अपने राज्य हित को प्राप्त करता है। दाम की नीति के द्वारा राजा शत्रु पक्ष के राजद्रोहियों को अपनी ओर कर सकता है। भेद – फूट डालने की नीति एवं प्रक्रिया है जिससे भी शत्रु राज्य के पदाधिकारियों में मतभेद उत्पन्न किया जाता है। उपर्युक्त तीनों उप सिद्धान्तों की विफलता की स्थिति में दण्ड के प्रयोग का सुझाव कौटिल्य के द्वारा दिया गया है। दण्ड से तात्पर्य – राज्य द्वारा दूसरे राज्य को युद्ध व अन्य कूटनीति व्यवहार से दण्डित करना है।

कौटिल्य के सुशासन सम्बन्धी विचार :

कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में भी सुशासन की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अर्थशास्त्र में वर्णित सुशासन के दस निर्धारक (Indicators) तत्व किसी भी पश्चिमी सुशासन सम्बन्धित अवधारणाओं से बहुत आगे एवं श्रेष्ठ हैं । यह पोस्ट विल्सोनियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (Post Wilsonian Public administration) से अधिक आधुनिक है। राजशाही एवं विधिक रूप से चर्चित असमानता के उस युग में केवल **कौटिल्य ने राजा को राज्य का सेवक कहा है।** वह भी उन सेवकों के समकक्ष ही था, जो उसके अधीनस्थ थे। लोकतंत्र के इस युग में भी तृतीय विश्व के देशों के लिए यह अपूर्व सुझाव है । कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में वर्णित दस निर्धारक (Ten Indicators) तत्व इस प्रकार है :

1. राजा अपने व्यक्तिगत हित को अपने कर्तव्यों के साथ सम्मिलित कर दे (King must marge his individuality with duties)
2. सुनिर्देशित प्रशासन (A Properly guided administration)
3. अतिरेकता से दूर रहते हुए लक्ष्यों को न भूलना (Avoiding Extremes without missing the goal)
4. राजा एवं अधिकारियों के लिए अनुशासित जीवन एवं आचार व्यवहार के नियम (Disciplined life with the code of conduct for king and ministers)
5. राजा एवं लोक सेवकों के लिए निश्चित वेतन एवं भत्ते (Fixed salaries and allowances to the king and public servants)
6. राजा का मुख्य कर्तव्य कानून एवं व्यवस्था बनाये रखना है(चोरी एवं वस्तु निर्माण में हुए नुकसान की पूर्ति राजा के वेतन से हो) (Law and order chief duty of the king - Theft losses to be made good from king's salary)
7. भ्रष्ट अधिकारियों से बचने एवं उनके प्रति दण्डात्मक कार्यवाही करना (Carrying out preventive & punitive meansures against corrupt officials)
8. राजा द्वारा मंत्रियों के स्थान पर अन्य विशेषज्ञों को नियुक्त करना (Replacement of ministers by good ones by the king)
9. प्रशासनिक मूल्यों के अनुकरण को बढ़ावा। (Emulation of Administrative qualities)
10. अस्थिरता के समय भी सुशासन बनाये रखना। (Persuing good governance even amidst instability)

प्रान्तीय व स्थानीय शासन प्रबन्ध :

अर्थशास्त्र में प्रांतीय प्रशासन प्रबन्ध की व्याख्या की गई है। इसमें इनके संगठन, शासक वर्ग, कर्मचारियों व कार्यों का वर्णन मिलता है । चाणक्य के काल में चन्द्रगुप्त मौर्य का विजीत साम्राज्य तीन भागों में जिसे चक्र भी कहते हैं, विभाजित था। ये उतरापथ, पश्चिमी चक्र व मध्यप्रदेश के नाम से जाने जाते थे। इनके निर्माण का आधार भौगोलिक था या राजनीतिक इस बारे में कुछ स्पष्ट नहीं है। इन चक्रों के अधीन कई मण्डल आते थे जो देश कहलाते थे। ये देश ही वर्तमान के प्रान्तों की भांति प्रशासकीय संरचना थी । इन प्रान्तों में प्रमुख शासक राजकुल का होता था यह कुमार कहलाते थे। ये कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से कार्य करते थे। शासन व्यवस्था एवं सुख सुविधा की दृष्टि से समग्र राष्ट्र को दो भागों में विभाजित किया गया था : पुर और जनपद। पुर से उनका अभिप्राय नगर , दुर्ग या राजधानी से था और जनपद से शेष सारे राष्ट्र से। राज्य की सात प्रकृतियों में जनपद और दुर्ग (पुर) को इसीलिए अलग माना है।

जनपद :

शासन सुविधा की दृष्टि से ही मण्डल या देश को जनपदों में विभक्त किया गया था। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में राज्य की प्रकृतियों में से एक जनपद भी है। जनपद का निर्माण ऐसे ग्रामों से होता था। जिसमें 100 से 500 कुल परिवार निवास करते है। इन जनपदों को शासन सुविधा से अनेक विभागों में विभाजित किया जाता था। ये विभाजन व ग्रामों की संख्या व उनके नाम इस प्रकार है –

1. स्थानीय : यह 800 ग्रामों ये युक्त होता था इसका शासक स्थानीय कहलाता था।

2. द्रोणमुख : इसमें 400 ग्राम होते थे।

3. खार्वटक : इसके अन्तर्गत 200 ग्राम आते थे।

4. संग्रहण : इसमें 10 ग्राम आते थे। संग्रहण का शासक गोप होता था।

5. ग्राम : ये शासन की सबसे छोटी इकाई थी। इसका प्रमुख ग्रामिक होता था।

जनपदों की जनसंख्या करीब चार से 20 लाख होती थी। ये वर्तमान के जिला मुख्यालयों की तरह थे। इन जनपदों की रक्षा के लिये सीमाओं पर अन्तःपालों की संरक्षा में, दुर्ग का निर्माण किया जाता था जिससे शत्रु न आ सकें उसके बाद आटविक जातियां ओर बाद में पुर (राजधानी) की स्थापना की जाती थी। जिसकी रचना दुर्ग की तरह थी। यह न केवल जनपद की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र होता था, अपितु जनपद की रक्षा इसी पर आश्रित थी। पुर की संरचना व उसके किस किस भाग में क्या हो इसकी अर्थशास्त्र में विस्तृत व्याख्या की गई है।

ये जनपद प्राचीन ग्रीक के पोलिस (Polis) व प्राचीन इटली के सिविटास (Civitas) तरह के छोटे नगर राज्य थे। इसकी शासन पद्धति एक समान नहीं होती थी जनपद के सम्पन्न नागरिक, राजपुरूष, शिल्पियों के निवास स्थान व व्यापारियों के निगम व अधिष्ठान आदि पुर (राजधानी) में ही होते थे। इन जनपदों में प्रायः एक जन (जाति) का निवास होता था। उनके नाम पर ही जनपद का नाम होता था। बहुत से शूद्र भी इनमें निवास करते थे । यह जन के कुलों की भूमि पर खेती का कार्य करते थे। अनेक जनपदों में पौर व जानपद जैसी संस्थाये मौजूद थी। जनपद में पुर (राजधानी) का शासन में महत्वपूर्ण स्थान था। पुर की सभा की संज्ञा पौर थी यह राजधानी की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था का संचालन करती थी । जानपद, जनपद की वह सभा थी जिसमें जनपद के विशिष्ट व्यक्ति सम्मिलित होते थे। सम्पूर्ण, जनपद का प्रधान समाहर्त्ता होता था। इन जनपदों में कोई जनपद ऐसे भी थे जो आंतरिक शासक में स्वतंत्र थे। जिनके धर्म, चरित्र व्यवहार व शासन संस्थायें पूर्ववत कायम थी। ये शासन की दृष्टि से अपनी पृथक सत्ता रखते थे। यह स्थिति ढाई हजार वर्ष बाद भी भारत के उत्तरपूर्वी राज्यों के विशेष दर्जा प्राप्त करने व दार्जिलिंग की क्षैत्रीय परिषद् के रूप में मौजूद है।

पुर (राजधानी) :

पुर या नगर का प्रमुख शासक नागरिक था। इनकी नियुक्ति केन्द्र सरकार की ओर से की जाती थी। पुर का सबसे छोटा भाग 10 या 20, या 40 परिवारों के निवास स्थानों से

मिलकर बनता था। इनके अधिकारी को गोप कहते है। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्ति होता है। ये अपने क्षेत्र में निवास करने वाले सब स्त्री पुरूषों के नाम, गोत्र ओर जाति को जानता था कि वे क्या पेशा करते थे ? उनकी आमदनी क्या है ? कितना खर्च है ? यह जानकारी रखता था। गोप के उपर का पदाधिकारी स्थानिक होता था। यह पुर के चतुर्थ भाग का शासक होता था। इस प्रकार नागरिक के अधीन पुर के चारों स्थानिक होते थे तथा स्थानक के अधीन गोप होता था । केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थानिक की नियुक्ति की जाती थी। नगर की सफाई रखना भी नागरिक का कर्त्तव्य था। नगर की जनता की स्वास्थ्य रक्षा को कोई हानि नहीं पहुँचे इसके लिये आवश्यक था की नागरिक एवं उसके कर्मचारी उदक स्थान (जलाशय,कुँआ) का निरीक्षण करें। नगर के जान माल की रक्षा भी नागरक का कर्त्तव्य था। चिकित्सकों पर भी नागरिक का नियन्त्रण था।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना लगभग 321 से 323 ईसा पूर्व के लगभग की थी।
2. अर्थशास्त्र में 15 अधिकरण, 180 प्रकरण, 150 अध्याय एवं 6000 श्लोक है।
3. कौटिल्य ने राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था तथा राज्य के दैवीय सिद्धान्त का समर्थन किया है।
4. कौटिल्य द्वारा राज्य के सप्तांग सिद्धान्त (राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, राजकोष, दण्ड (सेना) और (मित्र) को बताया गया है।
5. कौटिल्य ने प्रशासनिक अधिकरणों की भर्ती, नियुक्त, पदसोपान, वेतनमान, तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही का विस्तार से वर्णन किया है।
6. अर्थशास्त्र के अनुसार वित्तीय प्रशासन में समाहर्त्ता एवं सन्निधाता के पदों को महत्वपूर्ण माना है।
7. कौटिल्य ने विदेशनीति के सम्बन्ध में मण्डल सिद्धान्त, षाड़गुण्य नीति का उल्लेख किया।
8. षाड़गुण्य नीति में सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव सम्मिलित है।
9. कौटिल्य ने स्थानीय प्रशासन की इकाईयाँ क्रमशः स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटक, संग्रहण तथा ग्राम बतलाई है।
10. कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सुशासन के सिद्धान्तों को भी वर्णित किया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में कुल कितने अधिकरण है ?
   (अ) 22 (ब) 15
   (स) 10 (द) 8
2. राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में कौनसी प्रकृति सम्मिलित नहीं है ?
   (अ) दण्ड (ब) जनपद
   (स) मित्र (द) आसन
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र में कानून के चार स्त्रोतों में सर्वाधिक महत्व किसे दिया गया है ?
   (अ) राज शासन (ब) चरित्र
   (स) व्यवहार (द) धर्म
4. निम्न में से कौनसी स्थानीय प्रशासन की इकाई नहीं है?
   (अ) द्रोणमुख (ब) खार्वटक
   (स) संग्रहण (द) कारणिक
5. कौटिल्य के षड़गुण सिद्धान्त में निम्न में से क्या सम्मिलित है ?
   (अ) सन्धि (ब) विग्रह
   (स) यान (द) उपरोक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वैराज्य से आप क्या समझते है ?
2. सन्निधाता के अधीन कोई दो विभाग बताइए।
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित कानून के चार स्त्रोत बताइए।
4. विजीगीषु राजा किसे कहा गया है ?
5. षाड़गुण्य सिद्धान्त के कोई दो तत्व बताइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. कौटिल्य के सप्तांग सिद्धान्त के सात अंग बताइए।
2. कौटिल्य ने राजा के क्या प्रमुख कर्त्तव्य बताये है ?
3. कौटिल्य कालीन व्यवस्था में भर्ती के लिए कौनसी विधाये काम में ली जाती थी ?
4. कौटिल्यकालीन दण्डनीति को समझाइए।
5. कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में सुशासन सम्बन्धित कोई पाँच निर्धारक तत्व बताये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. कौटिल्य के कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में वर्णित परराष्ट्र नीति से सम्बन्धित सिद्धान्तों की व्याख्या करें।
3. कौटिल्य कालीन केन्द्रीय प्रशासनिक तन्त्र व्यवस्था को समझाइये।

उत्तरमाला :

1. (ब) 2. (द) 3. (द)
4. (द) 5. (द)

अध्याय – 13
भारतीय संविधान एवं लोक प्रशासन
(Indian Constitution and Public Administration)

भारतीय संविधान नें भारतीय प्रशासन तंत्र को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसनें भारतीय प्रशासन तंत्र के लक्ष्यों, उद्देश्यों एवं आदर्शो का निर्धारण किया है, नीतिगत दिशा निर्देश प्रदान किये हैं। उसकी संरचना, स्वरूप, प्रक्रियाओं तथा मानकों को निर्धारित करने में मदद की है। उसके चरित्र का निर्धारण किया है तथा साथ ही उसे नियंत्रित करने तथा उसे सक्षम, तटस्थ, स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं जनोन्मुखी बनाने के लिए व्यापक उपबन्ध किये हैं। संविधान में प्रशासन तंत्र की दिशा एवं दशा को सुनिश्चित करने तथा उसे स्थिर बनाने के लिये प्रावधान किये गये हैं जिससे कि वह सतत रूप से एक सुदृढ ढांचे के रूप में कार्य कर सके । प्रशासन पर संविधान के प्रभाव को हम निम्न बिन्दुओं में समझ सकते हैं :

1. प्रशासन के लक्ष्यों का निर्धारण :

संविधान की प्रस्तावना प्रशासन के लिये लक्ष्य एवं आदर्शों का निर्धारण करती है। संविधान की प्रस्तावना में दर्शाये गये लक्ष्य जैसे : सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की प्राप्ति करना, समाज के प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करना, उन्हें समानता प्रदान करना तथा देश में एक लोकतंत्रात्मक, पंथ निरपेक्ष एवं समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना मूलतः प्रशासन का ही लक्ष्य है।

2. प्रशासन का नीति निर्धारण में मार्गदर्शन :

संविधान का भाग'–4 राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों से सम्बन्धित है। जहाँ एक ओर संविधान की प्रस्तावना यह बताती है कि प्रशासन किन लक्ष्यों की प्राप्ति करेगा, वहीं दूसरी ओर नीति निर्देशक तत्व यह बताते है कि इन लक्ष्यों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। प्रशासन तंत्र द्वारा बनाई जाने वाली नीति को निर्धारित करने वाले ये तत्त्व उसे मार्ग दर्शन प्रदान करते हैं, जैसेः स्त्री एवं पुरूष सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध कराकर अथवा महिला एवं पुरूष कार्मिक को समान कार्य के लिए समान वेतन के नीति निर्देशक तत्व अपनाकर **आर्थिक न्याय** की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार बेकारी, बुढापा और निशक्तता की दशाओं में सरकारी सहायता प्रदान करने के उपबन्ध, बालकों के लिये निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा, समान न्याय एवं निःशुल्क विधिक सहायता इत्यादि के नीति निर्देशक तत्त्व **सामाजिक न्याय** को सुनिश्चित करते है। इसी प्रकार ग्राम पंचायतों की स्थापना का नीति निर्देशक तत्त्व प्रशासन को लोकतंत्र की ग्राम स्तर तक स्थापना के लिये निर्देशित करता है एवं **राजनीतिक न्याय** के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता देता है।

3. लोक सेवाओं का संघीय स्वरूप :

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में संघीय प्रणाली अपनाई गई है संघ एवं राज्य स्तरों पर पृथक – पृथक सरकारों का अस्तित्व है। दोनों के मध्य संविधान की अनुसूची सात के अनुसार शक्तियों का विभाजन किया गया है तथ दोनों का कार्यक्षेत्र स्पष्ट किया गया है। इसी राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप संविधान द्वारा लोक सेवाओं को भी संघीय स्वरूप प्रदान किया गया है तथा संघ एवं राज्य की पृथक– पृथक लोक सेवाऐं स्थापित की गई है। संघीय सेवाओं के अधिकारी एवं कर्मचारी संघ सरकार के अधीन कार्य करते है जैसे डाक–तार मंत्रालय अथवा रेलवे मंत्रालय के अधिकारी/कर्मचारी । राज्यो की अपनी पृथक सेवाएं हैं तथा उनके अधिकारी एवं कर्मचारी राज्य सरकार के अधीन कार्य करते है जैसे स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विभाग, शिक्षा विभाग, पुलिस विभाग, इत्यादि के अधिकारी/कर्मचारी।

4. अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान :

यद्यपि भारत में सेवाओं के संघीय स्वरूप को अपनाया गया है किन्तु इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 312 में अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान भी किया गया हैं। अखिल भारतीय सेवाऐं, वे सेवाऐं हैं जो संघ एवं राज्य दोनों के मध्य साझी (Common) होती है। वर्तमान में तीन अखिल भारतीय सेवाऐं हैं, भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) , भारतीय पुलिस सेवा (IPS) तथा भारतीय वन सेवा (IFS) । इन तीनों सेवाओं के अधिकारी केन्द्र एवं राज्य के मध्य समान रूप से कार्य करते है।

इन अधिकारियों की भर्ती सेवा शर्तों का निर्धारण ,अनुशासनात्मक कार्यवाही संघ सरकार द्वारा की जाती है तथा सरकार में इनकी नियुक्ति, स्थानान्तरण इत्यादि राज्य सरकार के पास होती है अतः इन पर दोनो का नियंत्रण बना रहता है। अखिल भारतीय स्तर द्वारा चयनित होकर आए ये अधिकारी राष्ट्र की प्रशासनिक एकता को सुनिश्चित करते हैं।

5. प्रशासन का संसदीय व्यवस्था के अनुरूप होना :

भारतीय संविधान द्वारा भारत संघ एवं राज्य दोनों स्तर पर राजनीतिक व्यवस्था के रूप में संसदीय प्रणाली को अपनाया गया है। सरकार की कार्यपालिका शाखा को दो भागों में विभक्त किया गया है, एक औपचारिक अथवा नाम मात्र की कार्यपालिका जिसमें राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के पद आते हैं तथा दूसरा वास्तविक कार्यपालिका जिसमें संघीय स्तर पर प्रधानमंत्री एवं उसकी मंत्री परिषद तथा राज्य स्तर पर मुख्यमंत्री एवं उसकी

मंत्री परिषद सम्मलित होती है । इस प्रणाली में शासन की शक्तियाँ वास्तविक कार्य पालिका में निहित होती है तथा शासन का औपचारिक प्रधान नाम मात्र की कार्यपालिका (राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल) होते है। इसी प्रणाली के अनुरूप प्रशासन तंत्र को भी निर्धारित किया गया है। प्रशासनिक अधिकारी औपचारिक रूप से राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के अधीन होते है । उनकी नियुक्ति, पदमुक्ति इत्यादि इन्हीं के द्वारा की जाती है किन्तु उन पर वास्तविक नियंत्रण संबंधित मंत्रालय अथवा विभाग के मंत्री का होता है। संबंधित मंत्री ही उनके नियुक्ति , स्थानान्तरण, पदोन्नति, अनुशासनात्मक कार्यवाही इत्यादि मामलों को देखते हैं। राष्ट्रपति / राज्यपाल केवल उन्हें स्वीकृति प्रदान करने माध्यम है।

6. योग्यतानुसार भर्ती : भारत में योग्यता के अनुसार भर्ती की व्यवस्था ब्रिटिशकाल से चली आ रहीं है। तथा भारतीय संविधान में भी राजकीय सेवाओं में अवसर की समानता उपलब्ध कराते हुए योग्य व्यक्तियों में आने के लिये प्रावधान किये गए हैं। जहाँ एक ओर अनुच्छेद 16 का मूल अधिकार लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता का उपबन्ध करता है। वहीं दूसरी ओर अनुच्छेद 315 से 323 में संघ एवं राज्यों के लोक सेवा आयोग का प्रावधान किया गया है। इन आयोगों का कार्य है कि बिना किसी भाई भतीजा वाद एवं राजनीतिक दबाव के स्वतन्त्र रूप में राजकीय सेवाओं में भर्ती के लिये परीक्षाओं का आयोजन करें तथा योग्यतम व्यक्तियों को राजकीय सेवाओं में लायें। इन आयोगों की स्वयं की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिये संविधान में व्यापक प्रावधान किये गये हैं तथा इन आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों की पदावधि को सुनिश्चित किया गया है। उससे पूर्व उन्हें हटाना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रक्रिया को इतना जटिल बनाया गया है कि उन्हें हटाया जाना आसान नहीं है। उनके वेतन, सेवा शर्तो इत्यादि में उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार सेवानिवृत्ति के उपरान्त उनके अन्य कोई लाभकारी पद लेने पर व्यापक प्रतिबन्ध लगाये गये है। उक्त समस्त व्यवस्था शासकीय सेवाओं में योग्य अभ्यर्थियों की स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष भर्ती सुनिश्चित करती है।

7. आरक्षण प्रावधान : भारतीय संविधान ने यद्यपि अनुच्छेद 16 में लोक नियोजन में अवसर की समानता का मूल अधिकार प्रदान किया है किन्तु साथ ही साथ सामाजिक न्याय की दृष्टि से तथा राजकीय सेवाओं में सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व बनाये रखने की दृष्टि से उक्त मूल अधिकार के ही अन्तर्गत अनुच्छेद 16 (4) में यह प्रावधान भी किया है कि यदि राज्य को यह लगता है कि पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग का सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तब वह उस वर्ग के नागरिकों के लिये पदों एवं नियुक्तियों में आरक्षण का प्रावधान कर सकती है। उक्त उपबन्ध के अधिकारों का प्रयोग करते हुए भारतीय प्रशासन में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछडे वर्ग, दिव्यांग तथा अन्य श्रेणीयों के नागरिकों के लिये आरक्षण का प्रावधान किया गया है। जिसमें भारत की लोक सेवाओं के संगठनिक स्वरूप पर व्यापक प्रभाव डाला है तथा उन्हें प्रतिनिध्यात्मक बनाने में मदद की है।

8. विधि का शासन :

भारत में भी ब्रिटिश शासन प्रणाली के अनुरूप डायसी की विधि के शासन की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। जिसके तहत प्रशासनिक अधिकारियों तथा सामान्य नागरिकों की विधि के समक्ष समानता सुनिश्चित की जाती है अर्थात् प्रशासनिक अधिकारियों के लिये कोई पृथक से प्रशासकीय कानून अथवा प्रशासकीय न्यायालय नहीं होते हैं तथा वे अपने समस्त कृत्यों के लिये देश की सामान्य विधि के अधीन रहते हुए सामान्य न्यायालय के प्रति जवाबदेय होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें वहीं संरक्षण उपलब्ध होते हैं जो कि सामान्य नागरिकों को उपलब्ध होते हैं। विधि का प्रशासन यह सुनिश्चित करता है कि कोई भी व्यक्ति जो विधि का उल्लंघन करता है चाहे वह कितना भी उच्च क्यों न हो उसे समान रूप से दण्डित किया जायेगा अर्थात् यह कानून की सर्वोच्चता स्थापित करता है, विधि के शासन की अवधारणा प्रशासनिक अधिकारियों एवं सामान्य नागरिकों को समान विधिक आधारों पर रखकर कार्यवाही करने का तथा संरक्षण उपलब्ध कराने का मूल आधार है । भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14 इस सम्बन्ध में प्रावधान करता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति की विधि के समक्ष समानता को सुनिश्चित करता है और उसे विधि का समान संरक्षण उपलब्ध कराता है।

9. प्रशासनिक संस्थाओं का संवैधानिक अस्तित्व :

भारतीय प्रशासन की अनेक प्रशासनिक संस्थाओं का स्वयं संविधान में उल्लेख है । संविधान के अनुच्छेद 148 से 151 में भारत के नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, अनुच्छेद 76 में भारत के महान्यायविद, अनुच्छेद 315 से 323 में संघ एवं राज्यों के लोक सेवा आयोग , अनुच्छेद 323 (क) एवं (ख) में प्रशासनिक अधिकरण, अनुच्छेद 324 में निर्वाचन आयोग, अनुच्छेद 165 में राज्य के महाधिवक्ता, अनुच्छेद 280 में वित्त आयोग इत्यादि के सम्बन्ध में प्रावधान किये गये है। इन संस्थानों को संवैधानिक निकाय **(Constitutional Body)** कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य ऐसी संस्थाऐं भी है जिनका संविधान में उल्लेख नहीं है किन्तु जिन्हें संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए व्यवस्थापिका द्वारा किसी अधिनियम के माध्यम से गठित किया जाता है इन संस्थाओं को संवैधानिकेत्तर वैधानिक निकाय **(Extra Constitutional Statutory Body)** का दर्जा दिया जाता है । जैसे परमाणु ऊर्जा आयोग , विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इत्यादि।

10. लोक सेवाओं से संबंधित प्रावधान :

संविधान का भाग 14 संघ एवं राज्यों के अधीन सेवाओं से संबंधित है इसी के अनुच्छेद 309 में प्रावधान किया गया है कि संघ एवं राज्यों के विधान मण्डल समुचित अधिनियम के माध्यम से अपने कार्यकलापों से सम्बन्धित पदों के लिए भर्ती का तथा सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों की सेवा शर्तों का नियमन (Regulation) कर सकते है। जिसकी निरन्तरताओं में संघ एवं राज्य सरकारों द्वारा अपनी लोक सेवाओं के संबंध में विस्तृत कानून बनाये गये हैं।

11. लोक सेवकों का संवैधानिक संरक्षण :

भारतीय संविधान में लोक सेवकों को संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया है जिससे कि वे स्वतंत्रता एवं तटस्थता के साथ अपना कार्य कर सकें। संविधान के अनुच्छेद 310 के प्रावधान किया गया है कि संघ की सिविल सेवाओं तथा अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करेंगें। तथा राज्य की सेवा के सदस्य उस राज्य के राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपना पद धारण करेंगें। जिसे प्रसाद का सिद्धान्त (Doctorine of Pleasure) भी कहते है किन्तु अनुच्छेद 310 के अधिकार आत्यंतिक (Absolte) नहीं है। तथा अनुच्छेद 311 तथा मूल अधिकारों के अधीन है। इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश (अनुच्छेद 124) , उच्च न्यायालय के न्यायाधीश (अनुच्छेद–324) , नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (अनुच्छेद 148(2)) तथा लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्य (अनुच्छेद 317) का कार्यकाल राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पर आधारित नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 311 में लोक सेवकों से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण प्रावधान किये गये है :

1. किसी भी व्यक्ति को जो कि संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है, उसे उसकी नियुक्ति करने वाले अधिकारी से अधीनस्थ किसी भी अधिकारी द्वारा पद से नहीं हटाया जाएगा तथा

2 किसी भी ऐसे व्यक्ति को उसके विरूद्व कार्यवाही से पूर्व सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर प्रदान किया जाएगा अर्थात उसे आरोपों की सूचना दी जाएगी। उन आरोपों की जाँच की जाएगी। संबंधित व्यक्तियो का इन आरोपों के संबंध मे बचाव का अवसर दिया जाएगा तथा साक्ष्य आधार पर जाँच में दोषी पाये जाने पर ही उसके विरूद्व कार्यवाही की जाएगी।

वस्तुत अनुच्छेद 311 के प्रावधान किसी भी शासकीय सदस्य को अपने पद के दायित्वो के निर्वहन के लिए व्यापक स्वतंत्रता प्रदान करते है। उक्त प्रावधानो के कारण किसी भी सदस्य के विरूद्व अनुशासनात्मक कार्यवाही अत्यन्त कठिन एंव लम्बी प्रक्रिया बन जाती है तथा उचित आधारों पर ही उसके विरूद्व कार्यवाही की जा सकती है। इस प्रकार के संरक्षण के कारण लोक सेवक पूर्ण स्वतंत्रता एवं बगैर किसी दबाव के अपने कार्य सम्पादित कर पाते हैं।

12. लोकसेवकों की सेवा शर्तो का निर्धारण :

भारतीय संविधान लोकसेवकों के सेवा संबंधी कानूनो का आधार है तथा इन्ही सेवा कानूनों के अनुसरण मे रहते हुए राष्टपति द्वारा केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) (Central Civil Service (Conduct) Rules) बनाये गये है। लोक सेवकों को इन्हीं आचरण नियमों के तहत रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। आचरण नियम उनके सामाजिक एवं आर्थिक व्यवहार तथा उनके राजनीतिक अधिकारों को नियन्त्रित करते है। इसी अनुरूप केन्द्रीय सिविल सेवा (वर्गीकरण नियंत्रण एंव अपील) नियम (Central Civil Service (Classification,Control and Appeal) Rules) लोकसेवाओ के वर्गीकरण के साथ-साथ उनके विरूद्व जाँच की प्रकिया तथा आरोपित की जाने वाली शास्तियो (दण्ड प्रावधानों) के बारे मे बतलाते हैं। इसी प्रकार अखिल भारतीय सेवाओ तथा राज्य सेवाओ के संबंध मे भी नियम बनाये गये है।

13. प्रशासनिक अधिकरण (Administrative Tribunals) की व्यवस्था :

42वे संविधान संशोधन, 1976 द्वारा भारतीय संविधान मे अनुच्छेद, 323(अ) तथा अनुच्छेद 323(ब)जोडे गये है। अनुच्छेद 323(अ)के तहत संसद को अधिकार प्रदान किया गया है कि वह संघ और राज्यों की लोकसेवाओ के अधिकारियो की भर्ती तथा उसकी सेवाओ मे नियुक्त व्यक्तियो की सेवा शर्तो से संबंधित विवादो और परिवादो के निस्तारण के लिए प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना करे । इसी प्रकार अनुच्छेद 323(ब) के तहत संघ की संसद तथा राज्यो के विधान मण्डलो को कर संबंधी मामलों, आयात - निर्यात, औघोगिक एंव श्रम विभाग, आवश्यक वस्तुओं की कीमतों के नियंत्रण तथा संसद एंव राज्यों के विधान मण्डलो के निर्वाचन के संबंध मे अधिकरण स्थापित करने का प्रावधान किया गया है।

संसद द्वारा इन प्रावधानों के अनुरूप प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1995 पारित किया गया तथा दिनांक 1. 11.1985 को केन्द्रीय प्रशासकीय अधिकरण (Central Administrative Tribunal)का गठन किया गया।प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 की धारा 4(2) के तहत यह प्रावधान किया गया कि संघ सरकार संबंधित राज्य सरकार द्वारा इस संबंध मे विशिष्ट मांग किये जाने पर उसके लिए भी राज्य प्रशासकीय अधिकरण (State Administrative Tribunal) का गठन कर सकती है। इसी के अनुरूप आध्रप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उडीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडू, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश इत्यादि राज्यों मे राज्य प्रशासकीय अधिकरण की स्थापना की गई है।

14. प्रशासन पर नियंत्रण :

भारतीय सविधान मे प्रशासन तंत्र की निरंकुशता, भाई भतीजावाद, वित्तीय भ्रष्टाचार तथा अन्य अनियमताओं को नियंत्रण करने के लिए उस पर नियंत्रण के प्रावधान किये गये हैं। नागरिक को इस हेतु संविधान के अनुच्छेद 32 के अर्न्तगत मूल अधिकार के रूप मे संवैधानिक उपचारो का अधिकार प्रदान किया गया है । जिसके अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायलय प्रशासन के विरूद्व बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेधाज्ञा, उत्प्रेषण, अधिकार पृच्छा रिट जारी कर सकते हैं। अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय भी इसी प्रकार की रिटे जारी करते है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 123 एंव 213 के तहत जारी कार्यपालिका के व्यवस्थापन (अध्यादेश) की भी न्यायालय समीक्षा कर सकते हैं। न्यायपालिका अपनी न्यायिक पुनरावलोकन शक्ति के तहत कार्यपालिका के किसी भी कृत्य की समीक्षा कर सकती है।

न्यायिक नियन्त्रण के अतिरिक्त व्यवस्थापिका भी विभिन्न प्रश्नों, बहस, वाद विवाद एवं अपनी समितियों के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। संसद की लोक लेखा समिति एवं प्राक्कलन समिति समस्त व्यय संबन्धी मामलों को देखती है इसके अतिरिक्त प्रशासन पर सम्बन्धित विभागीय मंत्री का आन्तरिक नियन्त्रण भी होता है। उक्त सभी के लिए संविधान में आवश्यक प्रावधान किये गये हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. भारतीय संविधान लोक प्रशासन के संगठन, लक्ष्य एवं मानकों का निर्धारण करता है तथा उसकी नीति को निर्देशित करता है।
2. प्रशासन तंत्र संघीय व्यवस्था के अनुरूप है तथा संघ एवं राज्य की अलग–अलग लोक सेवाऐं है।
3. प्रशासन के संघीय स्वरूप के अतिरिक्त एकात्मक स्वरूप की अखिल भारतीय सेवाओं का भी संविधान में प्रावधान है। जो संघ एवं राज्यों के मध्य साझी (Common) होता है।
4. प्रशासन देश की संसदीय व्यवस्था के अनुरूप कार्य करता है। वह औपचारिक रूप से नाम मात्र की कार्यपालिका (राष्ट्रपति/राज्यपाल) के अधीन होते हैं लेकिन व्यवहार में वास्तविक कार्यपालिका (प्रधानमंत्री/मुख्यमंत्री तथा मंत्रीपरिषद्) के नियन्त्रण में कार्य करता है।
5. भारतीय संविधान सभी नागरिकों को सरकारी सेवाओं में अवसर की समानता प्रदान करता है तथा प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से योग्यता के अनुसार भर्ती सुनिश्चित करता है।

तथापि संविधान में अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/अन्य पिछड़ा वर्ग एवं दिव्यांग व अन्य श्रेणी के नागरिकों के लिए सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

6. सरकारी सेवाओं में स्वतन्त्र भर्ती हेतु संविधान में संघ एवं राज्यों हेतु लोक सेवा आयोगों का प्रावधान किया गया है।
7. लोक प्रशासन विधि के शासन के तहत कार्य करता है।
8. अनेक प्रशासनिक संस्थाऐं ऐसी है जिनका संविधान में उल्लेख है। उन्हें संवैधानिक निकाय (Constitutional Body) कहते है। जबकि कुछ अन्य संस्थाऐं संविधान के अधीन रहते हुए विधायिका द्वारा बनाई गई है जिन्हें संवैधानिकेत्तर वैधानिक निकाय (Extra Constitutional Statutory Body) कहते है।
9. संविधान के अनुच्छेद 309, 310, 311 में लोक सेवा तथा लोक सेवकों सम्बन्धी प्रावधान है। यह उनकी सेवा शर्तो का निर्धारण करते है तथा उन्हें संवैधानिक संरक्षण प्रदान करते है।
10. प्रशासन पर नियंत्रण के लिए सर्वोच्च न्यायालय एवं राज्यों के उच्च न्यायालयों को क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 32 एवं 226 में व्यापक शक्तियां प्रदान की गई है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. निम्न मे से कौनसी अखिल भारतीय सेवा नही है ?
(अ) भारतीय प्रशासनिक सेवा (ब) भारतीय पुलिस सेवा
(स) भारतीय वन सेवा (द) भारतीय विदेश सेवा

2. संविधान के किस अनुच्छेद मे लोक नियोजन मे अवसर की समानता का प्रावधान किया गया है ?
(अ) अनुच्छेद 16 (ब) अनुच्छेद 18
(स) अनुच्छेद 17 (द) अनुच्छेद 21

3. संघ लोक सेवा आयोग एंव राज्यों के लोक सेवा आयोगों का प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद मे किया गया है ?
(अ) अनुच्छेद 323 (अ) एंव (ब)
(ब) अनुच्छेद 324
(स) अनुच्छेद 309–311
(द) अनुच्छेद 315–323

4. प्रशासकीय अधिकरण की स्थापना का प्रावधान किस संविधान संशोधन द्वारा किया गया ?
(अ) 42वाँ संविधान संशोधन
(ब) 48वाँ संविधान संशोधन
(स) 44वाँ संविधान संशोधन
(द) 52वाँ संविधान संशोधन

5. संविधान के किस अनुच्छेद के तहत उच्चतम न्यायलय को रिट जारी करने का अधिकार प्रदान किया है ?
(अ) अनुच्छेद 16(4) (ब) अनुच्छेद 226
(स) अनुच्छेद 32 (द) अनुच्छेद 325

6. लोकसेवको को संवैधानिक संरक्षण किस अनुच्छेद द्वारा प्रदान किया गया है ?
(अ) अनुच्छेद 311 (ब) अनुच्छेद 280
(स) अनुच्छेद 323 (द) अनुच्छेद 325

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासन के लक्ष्यों का उल्लेख संविधान मे कहाँ किया गया है?
2. संविधान की किस अनुसूची मे शक्तियो का विभाजन किया गया है ?
3. चुनाव आयोग का प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद मे किया गया है ?
4. विधि के शासन की अवधारणा किस देश से ली गई है ?
5. लोक नियोजन मे आरक्षण का प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद के तहत किया जाता है ?
6. नियंत्रण एंव महालेखा परीक्षक संबंधी प्रावधान संविधान के किस अनुच्छेद मे किया गया है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. कोई दो नीति निर्देशक तत्त्व बताईये।
2. प्रशासन के उद्देश्य (लक्ष्य) क्या है ?
3. वर्तमान मे कौन–कौनसी अखिल भारतीय सेवाऐं है ?
4.संसदीय प्रणाली का प्रमुख लक्षण क्या है ?
5. किन्ही चार संवैधानिक निकायो के नाम तथा संबंधित अनुच्छेद बताईये
6. प्रसाद का सिद्वान्त क्या है ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. लोकसेवाओ की स्थापना तथा लोकसेवाओ के संरक्षण नियमन एंव नियंत्रण से संबंधित संवैधानिक प्रावधानो को बतलाईये ।
2. भारतीय संविधान प्रशासन तंत्र के संगठन लक्ष्य एंव स्वरूप का निर्धारण करता है , उक्त कथन का विवेचन कीजिए ।

उतरमाला :

1. (द)	2. (अ)	3. (द)
4. (अ)	5. (स)	6. (अ)

अध्याय – 14
भारतीय प्रशासन तंत्र की विशेषताएँ
(Characteristics of Indian Administrative System)

किसी भी राष्ट्र का प्रशासन तंत्र उस राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास एवं परिस्थितियों की उपज होता है तथा समकालीन समाज का दर्पण होता है। भारतीय प्रशासन तंत्र भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय प्रशासन तंत्र आज वर्तमान में अपने जिस स्वरूप एवं चरित्र में हमारे समक्ष है, उसकी जड़े भारतीय पुरातन विरासत तथा उसके राजनीतिक, विधिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में निहित है।

वर्तमान भारतीय प्रशासन तंत्र निरन्तर विकास का परिणाम रहा है। समय–समय पर विभिन्न परिवर्तनों को झेलते हुए वह अपने वर्तमान स्वरूप में हमारे समक्ष उपलब्ध हैं। इस हेतु किए गए विभिन्न प्रयासों में से अनेक सजग और सक्रिय रहते हुए किए गए है। विभिन्न समितियों/आयोगों की अनुशंसाओं को लागू करते हुए उसे परिवर्तित किया गया है तो कुछ प्रयास स्वतः स्फूर्त, कालक्रम में जन आकांक्षाओं के अनुरूप होते रहे हैं।

भारतीय प्रशासन तंत्र की विशेषताओं को समझना वस्तुतः इसी परिवर्तन प्रक्रिया एवं विकास यात्रा का संक्षेपित अध्ययन है। वर्तमान प्रशासन तंत्र की विशेषताओं को हम निम्न बिन्दुओं में सार संक्षेपित कर समझ सकते हैं।

1. वर्तमान भारतीय प्रशासन ब्रिटिश विरासत का परिणाम :

भारतीय प्रशासन की वर्तमान संरचना, प्रक्रिया एवं उनका विधिक आधार आज भी लगभग स्वतन्त्रता से पूर्व की ब्रिटिश प्रणाली पर ही चला आ रहा है। राज्य, जिला एवं स्थानीय स्तर का सम्पूर्ण प्रशासनिक ढाँचा वस्तुतः ब्रिटिश विरासत पर आधारित है। राज्य की वर्तमान प्रशासनिक इकाईयाँ – संभाग, जिला, उपखण्ड, तहसील, पटवार सर्किल ब्रिटिश काल की देन है। इसी प्रकार मुख्य सचिव, संभागीय आयुक्त, कलक्टर, तहसीलदार, पटवारी, कानूनों आदि के समस्त पद ब्रिटिश काल से ही चले आ रहे है।

(अ) 1772 में लॉर्ड वारेन हैस्टिंग्स ने राजस्व एवं न्याय व्यवस्था को एक कर सर्वप्रथम कलैक्टर पद की स्थापना की जो जिले का प्रमुख अधिकारी होता है।

(ब) 1799 में लॉर्ड वैलेजली के समय केन्द्रीय सरकार में मुख्य सचिव का पद गठित किया गया था जो आज भी राज्य प्रशासन में सर्वोच्च प्रशासनिक पद है।

(स) 1829 में लॉर्ड बैंटिक ने संभागीय आयुक्त के पद का गठन किया जो आज भी किसी राज्य और उसके जिला प्रशासन के मध्य तालमेल की प्रमुख इकाई बना हुआ है।

इसके अतिरिक्त **शहरी एवं ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की इकाईयों का उद्‌गम भी ब्रिटिश काल में ही है।**

(अ) 1687 में मद्रास में भारत का पहला नगर निगम स्थापित किया गया। इसी प्रकार वर्ष 1726 में बम्बई एवं कलकत्ता में नगर निगम स्थापित किए गए।

(ब) लॉर्ड रिपन को ''स्थानीय स्वशासन का पिता'' कहा जाता है जिसके 1882 के स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी प्रस्ताव को ''मैग्नाकार्टा'' की भी संज्ञा दी गई थी।

(स) भारत शासन अधिनियम, 1919 के द्वैध शासन द्वारा स्थानीय स्वशासन को एक हस्तांतरित विषय बनाया गया था। स्थानीय स्वशासन आज भी राज्य सूची के विषयों में है।

केन्द्रीय सचिवालय में विभागों (जिन्हे बाद में मंत्रालय कहा जाने लगा) की व्यवस्था भी ब्रिटिश काल की देन है।

(अ) लॉर्ड केनिंग ने 1859 में **पोर्टफोलियो प्रणाली''** की शुरूआत की थी । जिसमें मंत्रियों को विभाग का प्रभारी बनाया जाता है। उक्त व्यवस्था आज भी चली आ रही है।

(ब) लॉर्ड कर्जन ने 1905 में **''टेन्योर सिस्टम''** (Tenure System) की शुरूआत की जिसके आधार पर केन्द्रीय सचिवालय में राज्यों से आई. ए.एस. अधिकारी एक निश्चित अवधि के लिए आते है तथा तत्पश्चात पुनः राज्यों में लौट जाते है। उक्त प्रणाली आज भी प्रचलन में है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वित्तीय प्रशासन पर भी ब्रिटिश प्रभाव देखने को मिलता है।

(अ) वर्ष 1753 में भारतीय लेखापरीक्षण एवं लेखांकन विभाग की स्थापना की गई।

(ब) वर्ष 1860 में बजट प्रणाली लागू की गई तथा एकवर्थ कमेटी की अनुशंसा पर रेल्वे बजट को सामान्य बजट से पृथक किया गया। हाल ही तक रेलबजट, साधारण बजट से पृथक होकर बनता रहा है जो व्यवस्था अभी वर्तमान में ही समाप्त की गई है।

(स) वर्ष 1921 में ही लोक लेखा समिति का गठन किया गया था जो आज भी प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण उपकरण है।

(द) भारत शासन अधिनियम 1935 के तहत रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना हुई जो आज भी भारत का केन्द्रीय बैंक है।

भारत का सम्पूर्ण विधिक एवं संवैधानिक इतिहास वस्तुतः ब्रिटिश काल की ही विरासत है तथा वर्तमान भारतीय संविधान, विधिक एवं न्याय प्रणाली तथा प्रशासनिक व्यवस्था ब्रिटिश काल के अधिनियमों से ही उपजी हुई है। उक्त महत्वपूर्ण अधिनियमों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है :

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773
2. पिट्स इंडिया एक्ट, 1784
3. चार्टर एक्ट 1833 एवं 1853
4. भारत शासन अधिनियम 1858
5. भारत परिषद् अधिनियम 1861, 1892 एवं 1909
6. भारत शासन अधिनियम 1919 एवं 1935
7. भारत स्वतन्त्रता अधिनियम 1947

वर्तमान के अधिकांश कानून जैसे भारतीय दण्ड संहिता, दण्ड प्रक्रिया संहिता, सिविल प्रक्रिया संहिता, साक्ष्य अधिनियम, संविदा अधिनियम इत्यादि मूलतः ब्रिटिश काल की ही देन है तथा अपने मूल स्वरूप में संशोधनों के साथ आज भी लागू है।

भारत की वर्तमान की लोक सेवाएँ भी मूलतः ब्रिटिश काल की ही देन है। ब्रिटिश काल में भारतीय सेवाएँ कॉवनेन्टेड (Covenanted) तथा नॉन कॉवनेन्टेड (Non Covenanted) सेवाओं में विभक्त थी जो बाद में तीन भागों में बाँट दी गई।

(1) इम्पीरियल सर्विसेज (Imperial Servisces)
(2) प्रोविंशियल सर्विसेज (Provencial Services)
(3) अधीनस्थ सेवाएँ (Subordinate Services)

इन्हीं सेवाओं के विघटन, पुनर्गठन के परिणाम स्वरूप आज की अखिल भारतीय सेवाएँ केन्द्रीय सेवाएँ तथा राज्य सेवाएँ अस्तित्व में आई है। इसी प्रकार भारत शासन अधिनियम, 1935 में संघ के लिए एक फैडरल लोक सेवा आयोग एवं प्रान्तों के लिए प्रान्तीय लोक सेवा आयोग का प्रावधान किया गया था जो आज क्रमशः संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्य लोक सेवा आयोगों के रूप में है।

ब्रिटिश काल में अनेक समितियों द्वारा लोक सेवाओं के सम्बन्ध में सुझाव दिया गया जिनमें से प्रमुख समितियां मैकाले समिति 1854, ए. एचिनसन समिति 1886, इस्लिंग्टन समिति 1912, मान्टेग्यू–चैम्सफोर्ड रिपोर्ट 1918, विन्सेन्ट ली आयोग 1923 इत्यादि प्रमुख है। तथा वर्तमान भारतीय प्रशासन एवं लोक सेवाए इनकी अनुशंसाओं से व्यापक प्रभावित रहा है।

2. प्रशासन का संवैधानिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय प्रशासन एक संवैधानिक परिदृश्य में कार्य करता है। भारतीय संविधान प्रशासन के लक्ष्यों एवं आदर्शों का निर्धारण करता है। उसकी नीति–रीति का मार्गदर्शन करता है। उसकी संरचना एवं स्वरूप का निर्धारण करता है तथा उससे संबंधित अनेक संस्थाओं का विस्तृत विवरण प्रदान करता है।

प्रशासन की अनेक संरचनाएँ/संस्थापन संविधान में उल्लेखित है तथा उनके कार्यक्षेत्र, अधिकार एवं स्वतन्त्र कार्य प्रणाली की सुनिश्चितता संविधान द्वारा की गई है। इनमें से कुछ निम्नानुसार है –

अनुच्छेद 148 से 150 – भारत का नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक

अनुच्छेद 280 – वित्त आयोग।

अनुच्छेद 315 से 323 – संघ एवं राज्यों के लोक सेवा आयोग।

अनुच्छेद 324 – चुनाव आयोग।

उक्त प्रावधानों से प्रशासन अपने महत्वपूर्ण कार्यों में न केवल राजनीतिक हस्तक्षेप एवं दबाव से बचा रहता है वरन प्रशासन के कार्यों में तटस्थता, समानता, पारदर्शिता एवं लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की भावना बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त संविधान का अनुच्छेद 311 लोक सेवकों को संरक्षण प्रदान करता है। इस प्रकार भारतीय संविधान प्रशासन का पथप्रदर्शक, स्वरूप निर्धारक, रक्षक, नियामक एवं नियन्ता सभी है। इससे सम्बन्धित विवरण पूर्व अध्याय में दिया गया है।

3. प्रशासन तंत्र का संघात्मक स्वरूप :

जिस प्रकार भारतीय शासन व्यवस्था संघात्मक स्वरूप की है तथा संघ एवं राज्यों की दो भिन्न सरकारों का पृथक–पृथक अस्तित्व है एवं उनके मध्य संविधान की संघ सूची , राज्य सूची एवं समवर्ती सूची द्वारा विषयों का विभाजन किया हुआ है उसी संघात्मक व्यवस्था के अनुरूप ही संघ एवं राज्यों के प्रशासन तंत्र भी अलग–अलग है। दोनों की अपनी लोक सेवाएं है जो उन्हें आवंटित विषयों को लागू करने का कार्य करती है। संघ के अधीन केन्द्रीय सेवाएँ है जो संघीय सूची के विषयों का क्रियान्वयन करती है। राज्यों के अधीन राज्य सेवाएँ है जो राज्य सूची के विषयों को लागू किए जाने का कार्य करती है।

जिस प्रकार भारतीय शासन व्यवस्था संघात्मक होते हुए भी एकात्मक लक्षणों को बनाए रखती है। उसी प्रकार प्रशासन तंत्र भी केन्द्रीकरण के साथ–साथ विकेन्द्रीकरण के लक्षणों को बनाये रखता है। यद्यपि समस्त राष्ट्रीय महत्व के विषयों का प्रशासन केन्द्रीय सेवाओं द्वारा किया जाता है। और राज्यों की अपनी सेवाऐं है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवाओं का भी प्रावधान किया गया है। जो न केवल संघीय स्तर पर बल्कि राज्यों में भी समस्त प्रशासन तंत्र को नियंत्रित करती हैं तथा जिनका स्वयं का नियन्त्रण वस्तुतः संघ सरकार के पास रहता है। अखिल भारतीय सेवाओं का अस्तित्व भारतीय प्रशासन का एक विशिष्ट लक्षण है तथा यह भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के एकात्मक स्वरूप एवं केन्द्रीकरण के प्रमुख तत्त्व के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान में तीन अखिल भारतीय सेवाएँ है। भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा तथा भारतीय वन सेवा। इन सेवाओं के अधिकारी संघीय सरकार के अधीन रहते हुए न केवल संघ में बल्कि राज्यों में भी समस्त महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों को धारण करते है और प्रशासन में केन्द्रीकरण को बढ़ावा देते है। राज्यों की सरकारों का इन सेवाओं पर अत्यन्त सीमित नियंत्रण होता है। इन सम्बन्ध में अन्य विवरण यथा स्थान दूसरे अध्यायों में दर्शाया गया है।

4. संसदीय शासन प्रणाली से प्रभावित :

भारत में संघ तथा राज्य दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। जिसमें कार्यपालिका को दो भागों में विभक्त किया जाता है। एक औपचारिक कार्यपालिका, जिसका प्रमुख राष्ट्रपति होता है और एक वास्तविक कार्यपालिका, जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है तथा शासन का समस्त कार्य औपचारिक कार्यपालिका अथवा राष्ट्रपति के नाम से होता है जबकि शासन की वास्तविक शक्ति

प्रधानमंत्री और उसकी मंत्रीपरिषद् में निहित होती है। इस व्यवस्था के अनुरूप समस्त लोक सेवक औपचारिक रूप से राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के अधीन कार्य करते हैं। उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, पदमुक्ति इत्यादि समस्त कार्य राष्ट्रपति / राज्यपाल के नाम से होते हैं किन्तु उनका वास्तविक नियंत्रण प्रधानमंत्री / मुख्यमंत्री तथा उसकी मंत्रीपरिषद् के पास होता है।

इसी प्रकार प्रशासन के समस्त कार्य राष्ट्रपति / राज्यपाल के नाम से किए जाते है जबकि उनका वास्तविक कर्त्ता प्रधानमंत्री / मुख्यमंत्री एवं उसकी मंत्री परिषद् होती है। स्पष्टतः प्रशासन तंत्र इस दोहरी व्यवस्था में कार्य करता है।

5. स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा नियंत्रित :

भारत में यद्यपि शासन की संघात्मक शासन प्रणाली (Fedral System) को अपनाया गया है किन्तु अनेक तत्त्व एकात्मक शासन व्यवस्था (Unitary System) के भी लिए गए है। न्यायपालिका को भी एकात्मक शासन व्यवस्था के अनुरूप रखा गया है। जिसमें संघ, राज्य एवं जिला स्तर पर क्रमशः सर्वोच्च न्यायालय , उच्च न्यायालय तथा जिला एवं सत्र न्यायालयों की एक एकीकृत व्यवस्था लागू की गई है।

न्यायपालिका को कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से पृथक एवं स्वतंत्र बनाए रखने के लिए संविधान में व्यापक प्रावधान किए गए है तथा न्यायधीशों की नियुक्ति, पदमुक्ति तथा सेवाशर्तों के निर्धारण के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था की गई है। जिससे की वे स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके।

भारत में न्यायपालिका प्रशासन के एक नियंत्रक के रूप में काफी प्रभावी सिद्ध हुई है। संविधान के अनुच्छेद 32 में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रशासन से जनता के नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए आदेश, निर्देश इत्यादि जारी करें। इसी प्रकार अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को भी यही अधिकारिता मूल अधिकारों के अतिरिक्त अन्य मामलों में भी प्रदान की गई है।

6. स्टील फ्रेम (कठोरता) से एल्यमीनियम फ्रेम (लोचशीलता) की और उन्मुखता :

भारतीय प्रशासन तंत्र को सामान्यतः स्टील फ्रेम प्रशासन तंत्र (Steel Frame Administrative System) के रूप में माना जाता रहा है। जिस प्रकार स्टील में एक ठोसता, स्थायित्व, कठोरता तथा बाहरी पर्यावरणीय परिवर्तनों से खराब न होने की योग्यता होती है उसी प्रकार भारतीय प्रशासन तंत्र ने भी बाहरी पर्यावरणीय परिवर्तनों जैसे राजनीतिक अस्थिरताओं, जन मांगों, आन्दोलनों, अन्तर्राष्ट्रीय दबावों एवं आन्तरिक एवं बाह्यय संकटों को झेलते हुए पूर्ण स्थिर एवं स्थाई बने रहने की योग्यता प्रदर्शित की है।

भारतीय प्रशासन तंत्र एक ऐसा प्रशासन रहा है जो समस्त राजनीतिक अस्थिरता, परिवर्तनों, सामाजिक झंझावतों को झेलने में सक्षम है। जो स्थिर , स्थायी एवं टिकाऊ है। जिसकी संस्कृति, संरचनाएँ, प्रक्रियाएँ एवं परम्पराऐं इतनी सुदृढ़ है कि उसे नष्ट कर पाना तो दूर, उसे परिवर्तित करना अथवा उसमें बदलाव करना भी आसान नहीं है। ऐसे अनेक तत्व है जिन्होने प्रशासन की स्टील फ्रेम छवि को बनाने में योगदान दिया है जिनमें लोक सेवकों की कार्यकाल सम्बन्धी स्थिरता, उनकी राजनीतिक तटस्थता, संवैधानिक सुरक्षा प्रावधान, ब्रिटिश कालीन संरचनात्मक एवं कार्यात्मक विरासत, सुनिर्धारित प्रक्रियाऐं , लोक सेवकों की अनामता, उनकी कार्य सम्बन्धी विशेषज्ञता एवं अनुभव, सामाजिक प्रतिष्ठा , गोपनीयता सम्बन्धी कानून एवं सुदृढ़ संवैधानिक एवं विधिक नींव प्रमुख रहे हैं।

किन्तु यह स्टील फ्रेम प्रशासन तंत्र अब एल्यूमीनियम फ्रेम प्रशासन तंत्र में बदल रहा है। अर्थात् उनमें कठोरता के स्थान पर लचीलापन एवं नमनीयता आती जा रही है। इसमें प्रशासन के जनकल्याणकारी स्वरूप, उसके सामाजिक सरोकर एवं सहभागिता, उसमें निरन्तर बढ़ती पारदर्शिता एवं जवाबदेयता, विधिक नियमों एवं कानूनों में आमूल–चूल परिर्वतन, गोपनीयता नियमों की समाप्ति, तथा सूचना अधिकार की व्यवस्था, बढ़ती हुई जनचेतना एवं आकांक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का दबाव एवं सूचना एवं प्रौधोगिकी के बढ़ते प्रभाव ने अपना व्यापक योगदान दिया है।

इसके अतिरिक्त जहाँ उसके पुरातन ढ़ाचे एवं संरचनाओं का विगलन हुआ है। उसके पदों की प्रतिष्ठा का हास हुआ है। सेवा शर्तों में गिरावट आई है तथा भ्रष्टाचार एवं नैतिक पतन के बढ़ते संक्रमण के कारण उसमें कुछ स्तरों पर गिरावट भी आई है। जिसने विभिन्न क्षेत्रों में सरकार की भूमिका को लेकर प्रश्न भी खड़े किए और नयी संरचनाएँ, प्रक्रियाएँ और प्रणलियाँ भी विकसित की है।

7. सामान्यज्ञ प्रधान प्रशासन तंत्र :

भारतीय प्रशासन सामान्यज्ञ प्रधान प्रशासन है अर्थात प्रशासन में अधिकांश उच्च पदों पर सामान्यज्ञ लोक सेवकों का कब्जा है। सरल शब्दो में एक सामान्यज्ञ लोक सेवक वह है जो किसी क्षेत्र विशेष के तकनीकी ज्ञान के आधार पर सेवा में भर्ती नहीं होता है बल्कि अपनी सामान्य शैक्षणिक योग्यताओं (जैसे विश्व विद्यालय स्नतक,स्नातकोत्तर) के आधार पर सेवाओ में आता है। जैसेः भारतीय प्रंशासनिक सेवा के अधिकारी।

भारत में लोक सेवाओ को दो श्रेणियो में बाँटा जा सकता है **(1) तकनीकी सेवाएँ (2) गैर तकनीकी सेवाएँ।** तकनीकी सेवाएँ जैसे भारतीय वन सेवा इत्यादि है जिनमें भर्ती के लिए उस क्षेत्र विशेष का तकनीकी ज्ञान आवश्यक अर्हता (योग्यता) है इन सेवाओं को हम विशेषज्ञ सेवाऐं कह सकते हैं।

गैर तकनीकी सेवाए वे सेवाएँ है जिनमें भर्ती सामान्य शैक्षणिक अर्हताओं के आधार पर होती है (जिस हेतु किसी विषय विशेष का तकनीकी ज्ञान आवश्यक नही होता है) तथा जो कोई भी उस सामान्य शैक्षणिक योग्यता को रखता है वह उन सेवाओ में भर्ती हो सकता है जैसेः भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा, भरतीय राजस्व सेवा इत्यादि

इन **गैर तकनीकी सेवाओं** को हम पुनः दो भागों में बाँट सकते है **(1) कार्यात्मक सेवाएँ (Functional Services) (2) सामान्य उद्देश्य सम्बन्धी सेवाएँ (General Purpose Services)।** कार्यात्मक सेवाओं के सदस्य प्रशासन के एक क्षेत्र विशेष में अपनी उसी सेवा में लम्बे समय तक बने रहते हैं जिसमें वे चयनित हुए हैं, और धीरे–धीरे उक्त विषय के अनुभवी एव विशेषज्ञ बन जाते हैं जैसे भारतीय

पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा इत्यादि के अधिकारी। जबकि सामान्य उद्देश्य सम्बन्धी सेवाओं के सदस्य एक मंत्रालय से दूसरे मंत्रालय में बदलते रहते है और प्रशासन की तकनीक, नियम, कानूनों इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते रहते है जैसे भारतीय प्रशसानिक सेवा के अधिकारी वस्तुतः इन सामान्य उद्देश्य की सेवाऐं (अर्थात भारतीय प्रशासनिक सेवा) के अधिकारी ही सामान्यज्ञ अधिकारी हैं।

इस प्रकार तकनीकी सेवाओं और कार्यात्मक सेवाओं के अधिकारीयो को विशेषज्ञ अधिकारी कहा जा सकता है तथा सामान्य उद्देश्य की सेवा के अधिकारीयो के सामान्यज्ञ अधिकारी कहा जा सकता है।

भारत में सामान्यज्ञ अधिकारियों का केन्द्र एव राज्य सरकारों के सभी उच्च पदों पर कब्जा बना हुआ है मंत्रालयों एव विभागों के सचिव, आयुक्त, संभागीय आयुक्त, कलक्टर, चैयरमैन, कार्यकारी निदेशक इत्यादि सभी पदों पर यही अधिकारी पदासीन हैं, तथा इनका अपने वेतनमान, सेवा शर्तो, सामाजिक प्रस्थिति, पदों पर नियुक्ति इत्यादि के लेकर विशेषज्ञ अधिकारियों से विवाद बना रहता है जो स्वयं को इस परिप्रेक्ष्य में निम्न स्तर का अनुभव करते रहते हैं।

8. लोक सेवकों की योग्यतानुसार भर्ती :

भारत में लोक सेवको की भर्ती के लिए योग्यता आधारित प्रणाली को अपनाया गया है। मैकाले समिति (1854) के प्रतिवेदन के आधार पर पहली बार खुली प्रतियोगिता प्रणाली का प्रारम्भ किया गया था तथा वर्तमान में भी सभी सेवाओं में भर्ती खुली प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से ही होती है।

संघीय स्तर पर संघ लोक सेवा आयोग की तथा राज्यों के स्तर पर राज्य लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई हैं। इनके अतिरिक्त अन्य निकाय भी है जे पूर्णतः स्वतंत्र रुप से लोक सेवको की भर्ती करते हैं । जिससे भर्ती प्रकिया में अवसर की समानता तथा पारदर्शिता बनी रहती है एवं समस्त प्रकिया भ्रष्टाचार एव भाई–भतीजावाद से मुक्त रहती है तथा लोक सेवाओं में योग्य व्यक्तियों को आने का अवसर मिलता है।

9. लोक सेवाओं में आरक्षण सम्बन्धी प्रावधान :

भारतीय संविधान का अनु.16 राज्य के अधीन नौकरियों अथवा पदो की नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी नागरिको के लिए अवसर की समानता प्रदान करता है तथा अनु.16 (2) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्‌भव, जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर किसी भी नागरिक के लिए विभेद अथवा अपात्र किए जाने पर रोक लगाता है किन्तु सविधान के अनु. 16 के भाग (3)(4) एव (5) में इसके अपवाद भी दिए गए हैं तथा राज्य को ऐसी जातियों के सम्बन्ध में जिनका लोक सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही हो उनके लिए पदों और नौकरियो में आरक्षण किए जाने का अधिकार दिया गया है।

इसी अधिकार के तहत संघ तथा राज्य सरकारों द्वारा अपनी लोक सेवको में अनुसूचित जाति, जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आनुपातिक आरक्षण प्रावधान किया गया है। जिसके कारण भारतीय प्रशासन समाज के सभी जाति, वर्गों का एक मिलाजुला प्रतिबिम्ब बनकर उभरा है।

10. लोक सेवाएं लोक सेवकों हेतु आजीवक प्रणाली (Carrier System):

भारत में लोक सेवक सामान्यतः 21 से 27 वर्ष के मध्य सेवाओ में प्रवेश लेते हैं तथा अपनी सेवानिवृत्ति आयु प्राप्त होने तक प्रशासन में बने रहते हैं।

वे अपनी सेवाओं में रहते हुए उसी में पदोन्नति के प्रयास करते हुए उच्च पदों की और अग्रसर होते रहते हैं तथा अपनी कैरियर सम्बन्धी आकांक्षाओं को पूर्ण करते है। लोक सेवाएँ भारत में नौकरी अथवा सेवा के स्थायीत्व एवं सुरक्षा का प्रतीक हैं और इसलिए समाज में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखी जाती रही हैं।

11. लोक सेवकों की राजनीतिक गतिविधियों पर रोक :

भारत में लोक सेवकों की राजनीतिक तटस्थता बनाये रखने के लिए उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर व्यापक रोक लगाई गई है। लोक सेवक किसी भी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किसी भी राजनीतिक दल अथवा उससे सम्बन्धित संगठनों में पद भार ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

वे राजनीतिक दलों के पक्ष अथवा विपक्ष में प्रचार इत्यादि नहीं कर सकते हैं। किसी राजनीतिक दल के लिए चन्दा एकत्रित नहीं कर सकते हैं। वे विधायिका अथवा नगर पालिकाओं के लिए चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। यदि कोई लोक सेवक चुनाव लड़ना चाहता है, तब उसे अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ता है। लोक सेवकों के किसी भी राजनीतिक दल के प्रतिनिधि के रूप में राजनीतिक सम्मेलनों में उनके भाग लेने पर पर रोक है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सिविल सेवा आचरण नियम, 1955 संघीय सिविल सेवा के अधिकारियों का किसी प्रदर्शन में भाग लेने का अथवा अपनी सेवा शर्तों को लेकर किसी भी प्रकार की हड़ताल का भी निषेध करता है।

12. पारदर्शिता एव जवाबदेयता की और बढ़ता प्रशासनः

भारतीय प्रशासन में पारदर्शिता के बढ़ावा देने एव भ्रष्टाचार को खत्म कर लोक सेवकों की जवाबदेयता को सुनिश्चित करने के लिए निरन्तर प्रयास किए जा रहे हैं। शासकीय गोपनीयता अधिनियम, 1923 को सीमित कर नागरिकों के लिए सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 लागू किया गया है जिसमें कोई भी नागरिक सूचना के लिए आवेदन कर प्रशासन से किसी भी अभिलेख, फाइल , पत्रावली प्रतिवेदन अथवा अन्य कोई सूचना की मांग कर सकता है इसी प्रकार अधिनियम की धारा चार के तहत सभी मंत्रालयों विभागों को अपनी वेबसाइट पर उनके संगठन द्वारा किए जा रहे कार्यो, अधिकारियों के कर्तव्यों, विभागीय संगठन, नियमों कानूनों अधिकारियों की निर्देशिका इत्यादि बताना आवश्यक है। इसी प्रकार सभी मंत्रालयों विभागों द्वारा नागरिक अधिकार पत्र जारी किए गए हैं जिससे उस विभाग के सम्बन्ध में नागरिको को अपने अधिकारों का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्तरो पर शिकायत निवारण तंत्र एव नियामकीय एजेसियों का गठन आदि

कर प्रशासन में जवाबदेयता सुनिश्चित की गई है । सभी लोक सेवकों के लिए उनकी अचल सम्पत्ति की घोषणा अनिवार्य की गई है।

13. नियामकीय संस्थाओं की बढ़ती संख्याः

विगत वर्षे में प्रशासन ने अनेक क्षेत्रों में अपने एकाधिकार को समाप्त करते हुए अपनी भूमिका को परिवर्तित किया है। विशेषकर औद्योगिक एव व्यावसायिक गतिविधियो के क्षेत्र में अपने एकाधिकार को खत्म कर निजी क्षेत्र को भी अनुमति दी है तथा परिणामतः परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई है ऐसे क्षेत्रों में बैक, बीमा, दूरसंचार, दूरदर्शन, हवाई यातायात इत्यादि प्रमुख है जिसके परिणामस्वरुप न केवल प्रशासन की स्वयं द्वारा प्रदत्त की जा रही सेवाओं में सुधार हुआ है तथा वह एक कियान्वयक(Impleenter) एवं सर्विस प्रदाता (Service Provider) के साथ–साथ उस सैक्टर के एक नियामक (Regulator) के रुप में भी उभरा है।

प्रशासन में नवीन नियामकीय संस्थाओ का विकास हुआ है जो अर्द्व–विधायी, अर्द्व कार्यपालिका एव अर्द्व–न्यायिक शक्तियों से युक्त है तथा उस सैक्टर विशेष (जैसे दूरसंचार, बीमा इत्यादि) के विभिन्न सेवा प्रदाताओं का नियमन करती है ऐसी कुछ नियामकीय संस्थाओं के नाम निम्नानुसार हैः

(1) भारतीय दूर संचार नियामकीय प्राधिकरण, 1997
(2) बीमा विनियामक एव विकास प्राधिकरण , 1999
(3) भारतीय प्रतिस्पर्धा आयोग, 2003
(4) पेशन निधि विनियामक और विकास प्राधिकरण, 2003

14. प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का गठन :

भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान किया गया है। उक्त प्रशासनिक न्यायाधिकरण लोक सेवकों को उनकी सेवा शर्तो नियुक्ति, स्थानान्तरण, पदोन्नति इत्यादि के विषय में हुए किसी भी विवाद में त्वरित एव कम खर्चीला न्याय प्रदान करते हैं। संविधान के अनु.323 में प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान किया गया है। संघ के अधिकारीयों के लिए केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण (Central Administrative Tribunal) तथा राज्यो में उनके लोक सेवको के लिए राज्य प्रशासनिक न्यायाधिकरण की स्थापना का प्रावधन किया गया है।

उक्त न्यायाधिकरणो के सदस्यों को न्यायिक एव प्रशासनिक दोनों क्षेत्रों से लिया जाता है ताकि इसे कानून के साथ – साथ प्रशासनिक क्षेत्र के विशेषज्ञो की सेवाओ का लाभ भी उपलब्ध हो सके।

15. प्रशासन का कल्याणकारी स्वरुप :

स्वतंत्रता के बाद से ही प्रशासन ने जन कल्याण को अपना लक्ष्य बनाया हुआ है। प्रशासन द्वारा पंचवर्षीय एव वार्षिक योजनाओं के माध्यम से अनेक विकास कार्य किए गए हैं तथा अनेक जनकल्याण कार्यक्रम एव परियोजनाएं चलाई गई हैं इन योजनाओं की कोई समेकित सूची बनाया जाना संभव नही है किन्तु कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्रम एव योजनाए निम्नानुसार रही हैं :

सामुदायिक विकास कार्यक्रम, समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, सर्वशिक्षा अभियान, स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वराज योजना

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गाारटी कार्यक्रम, प्रधान मंत्री कौशल विकास योजना, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन, मिड–डे मील योजना, दीनदयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना, स्वच्छ भारत अभियान इत्यादि। उक्त योजनाओं के माध्यम से प्रशासन नें देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

16. भारतीय प्रशासन की ई–गवर्नेस की और उन्मुखता :

भारतीय प्रशासन तंत्र ने निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरुप स्वयं को ढाला है विगत वर्षो में उसने समकालीन विश्व परिदृश्य के अनुरुप विज्ञान एव प्रौधोगिकी का उपयोग कर न केवल अपनी संरचनाओं एव प्रकियाओं को आधुनिक एव कम्प्यूटरीकृत किया है बल्कि स्वयं द्वारा संचालित कार्यक्रमों एव योजनाओ को भी इलैक्ट्रानिक स्वरुप प्रदान किया है। जिससे प्रशासन द्वारा जनता को प्रदान की जा रही सेवाएँ एव सुविधाऐं एक ही जगह एव सुगम तरीके से उपलब्ध हो रही है।

सरकार का डिजिटल इंडिया अभियान, कैशलैस ट्रांजेक्शनों की व्यवस्था, आधारकार्ड, विभागीय वैबसाइटों का विकास , ई–मित्र कियोस्क के माध्यम से सेवा प्रदान करना इत्यादि कतिपय ऐसे ही उदाहरण हैं जिससे विभिन्न सेवाएं ऑनलाइन संभव हो पा रही है और इसके साथ ही प्रशासन में भी पारदर्शिता, खुलापन, सरलता, तात्कालिकता एव त्वरितता, जवाबदेयता इत्यादि के गुण आए हैं प्रशासन की 24 X 7 उपलब्धता, ''कभी भी–कही भी'' के गुण का विकास और स्मार्ट सेवा प्रदाता के रुप में पहचान इलेक्ट्रानिक गवर्नेन्स के माध्यम से ही हो सकी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासन तंत्र निरन्तर परिवर्तनशील और विकास पथ पर अग्रसर हो समकालीन चुनौतियों का सामना करने में सक्षम प्रशासन तंत्र के रुप में उभर कर सामने आया है।

महत्वपूर्ण बिन्दुः

1. भारतीय प्रशासन की वर्तमान प्रशासन इकाईयाँ एव महत्वपूर्ण पद ब्रिटिश विरासत का परिणाम है।
2. भारतीय स्थानीय स्वशासन का ढाँचा/लोक सेवाओं का विकास तथा महत्वपूर्ण कानून बिट्रिश काल की विरासत है।
3. केन्द्रीय सचिवालय में पोर्टफोलियो प्रणाली, टेन्योर सिस्टम ब्रिटिश काल की ही देन है।
4 भारतीय संविधान भारतीय प्रशासन तंत्र का पथ प्रदर्शक, स्वरुप निर्धारक एव नियन्ता है। प्रशासन की अनेक संरचनाऍ संविधान में वर्णित हैं।
5 शासन के संघात्मक स्वरुप के अनुरुप संघ एव राज्यों की पृथक–पृथक सेवाएँ है तथा अखिल भारतीय सेवाओं का भी अस्तित्व है ।
6 प्रशासन संसदीय प्रणाली के अनुरुप औपचारिक रुप से राष्ट्रपति के अधीन होता है जबकि वास्तविक रुप से प्रधानमंत्री और उसकी मंत्री परिषद के अधीन कार्य करता है।
7 स्वतंत्र न्यायपालिका प्रशासन को नियंत्रित करती है।

8 प्रशासन तंत्र निरन्तर स्टील फ्रेम (कठोरता) से एल्यूमीनियम फ्रेंम (लचीलापन) की ओर उन्मुख है ।

9 प्रशासन में समस्त उच्च पदो पर सामान्यज्ञ प्रशासनिक अधिकारियो का नियंत्रण है।

10 लोक सेवको की भर्ती योग्यता प्रणाली के आधार पर होती है तथापि अनुसूचितजाति, अनुसूचित जनजाति एव पिछड़े वर्गो के लिए लोक सेवाओ में आरक्षण प्रावधान भी किए गए हैं।

11 भारत में लोक सेवाएँ कैरियर प्रणाली के रुप में देखी जाती हैं।

12 भारत में लोक सेवकों की राजनीतिक गतिविधियो पर व्यापक रोक है।

13 भारतीय प्रशासन निरन्तर पारदर्शिता एव जवाबदेयता की और बढ़ रहा है तथा प्रशासकों में निरन्तर नियामकीय संगठनो की संख्या बढ़ रही है।

14 लोक सेवको को सेवा मामलो में त्वरित न्याय हेतु प्रशासनिक न्यायाधिकरण का प्रावधान किया गया है।

15 भारतीय प्रशासन का स्वरुप कल्याणकारी है तथा यह निरन्तर ई– गवर्नेन्स की और उन्मुख है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. 'टेन्योर प्रणाली' की शुरूआत कब की गई ?

(अ) 1905 (ब) 1909
(स) 1915 (द) 1907

2. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना किस अधिनियम द्वारा की गई ?

(अ) भारत शासन अधिनियम, 1919
(ब) भारत परिषद् अधिनियम, 1909
(स) भारत शासन अधिनियम, 1935
(द) भारत स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

3. संविधान के किस अनुच्छेद में वित्त आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया है ?

(अ) अनुच्छेद 148 (ब) अनुच्छेद 280
(स) अनुच्छेद 315 (द) अनुच्छेद 324

4. संविधान के किस अनुच्छेद में प्रशासकीय न्यायाधिकरण की स्थापना का प्रावधान किया गया है ?

(अ) अनुच्छेद 320 (ब) अनुच्छेद 323(A)
(स) अनुच्छेद 324 (द) अनुच्छेद 345

5. भारत में लोक सेवकों को कौनसा राजनीतिक अधिकार प्राप्त है ?

(अ) वे पद पर रहते हुए चुनाव लड़ सकते हैं।
(ब) राजनीतिक दलों के लिए चन्दा एकत्रित कर सकते हैं।
(स) स्वतन्त्र रूप से मतदान कर सकते हैं।
(द) राजनीतिक दलों की सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. 'पोर्टफोलियो प्रणाली' की शुरूआत कब की गई ?
2. 'सामान्यज्ञ' लोक सेवक से आप क्या समझते हैं ?
3. अखिल भारतीय सेवाऐं कौन–कौनसी हैं ?
4. किन्हीं दो नियामकीय संस्थाओं (Regulatory Agencies) के नाम लिखिए ।
5. प्रशासकीय न्यायाधिकरण का कार्य बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासन के 'संघात्मक स्वरूप' से आप क्या समझते हैं ?
2. लोक सेवाओं में आरक्षण सम्बन्धी प्रावधान क्या हैं ?
3. लोक सेवकों के राजनीतिक अधिकारों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।
4. उन संस्थाओं के नाम बताइयें जिनका भारतीय संविधान में उल्लेख है।
5. भारतीय प्रशासन की 'स्टील फ्रेम संरचना' से आप क्या समझते हैं ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भारतीय प्रशासन की ब्रिटिश विरासतों पर एक लेख लिखिए।
2. भारतीय प्रशासन तंत्र की विशेषताओं पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तरमाला :

1. (अ) 2. (स) 3. (ब) 4. (ब) 5. (स)

इकाई–6 नीति निरूपण एवं नियोजन

अध्याय–15
नीति आयोग
(Niti Aayog)

वर्तमान समय में नियोजन (Planning) का विशेष महत्व है। नियोजन को योजना भी कहते है। आज लगभग सभी देश अपने विकास तथा उन्नति के लिए नियोजन में जुटे हुए है। मूलतः यह साम्यवादी विचारधारा के आलोक में आरम्भ हुआ लेकिन शीघ्र ही इसने अपने अलग–अलग रूपों में विभिन्न देशों में लोकप्रियता प्राप्त कर ली। किसी अर्धविकसित देश के लिए, जहाँ सीमित संसाधनों द्वारा एवं निश्चित समय में विकास की गति प्राप्त करनी हो, नियोजन का विशेष महत्व है। नियोजन का अर्थ होता है, सही ढंग से सोच समझकर कार्य करना। यह वर्तमान को भविष्य से जोड़ता है। सरल शब्दों में कह सकते है कि निर्धारित उद्धेश्य को प्राप्त करने के लिए सोच समझकर सर्वोत्तम मार्ग का चयन करना ही नियोजन है। इसके अन्तर्गत् अनेक क्रियाएं शामिल है, यथा– उद्धेश्य का निश्चय करना, उद्धेश्य प्राप्ति हेतु प्रस्तावित रणनीति पर विचार करना तथा रणनीति का क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन करना। हैनरी फेयोल के अनुसार नियोजन ''पूर्व दृष्टि है।'' पिफनर के मत में ''यह समस्त मानव व्यवहारों में पायी जाने वाली बुद्धिमतापूर्ण प्रक्रिया है।'' सेकलर–हडसन का मानना है कि ''नियोजन भावी कार्य के लिए आधार की रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया है।''

नियोजन की आवश्यकता (Need of Planning)

विकासशील देशों में नियोजन का विशेष महत्व है, क्योंकि इन देशों में सरकार का यह दायित्व है कि वे उपलब्ध मानवीय संसाधन एवं भौतिक संसाधनों का उचित एवं उत्तम ढंग से प्रयोग करे। विकासशील देशों को कुछ सामान्य समस्याओं का सामना करना पड़ा है, जैसे – कृषि पर निर्भरता एवं पिछड़ी हुई कृषि पद्धति, गरीबी, अशिक्षा, व्यापार में निवेश हेतु पूंजी की कमी, आधुनिक तकनीकी ज्ञान का अभाव, दक्ष एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी, पर्यावरणीय कानूनों की अवहेलना, शासन–प्रशासन में व्याप्त अनियमितताएं आदि। इनसे राष्ट्र की प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। इन सभी समस्याओं के रहते विकास करने हेतु नियोजन करना आवश्यक हो जाता है। नियोजन के माध्यम से विकासशील देश अग्रलिखित परिवर्तन कर सकते है :

1. देश में आर्थिक स्थिरता लाना।
2. नागरिकों के मध्य आर्थिक एवं सामाजिक असमानता में कमी लाना।
3. प्रति व्यक्ति आय सहित राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना।
4. प्राकृतिक संसाधनों का प्रभावशाली उपयोग करना।
5. संतुलित क्षेत्रीय विकास।

विकास प्रशासन विकासशील देशों का महत्वपूर्ण लक्षण है, विकास प्रशासन वह प्रशासन है जो विकास हेतु नीति, योजना, परियोजना में संलग्न है। अतः विकास प्रशासन सहित उपयुक्त घटकों की प्राप्ति हेतु नियोजन एक आधारभूत आवश्यकता है।

भारत में नियोजन (Planning in India)

भारत में नियोजन का नाम सर्वप्रथम वर्ष 1934 में सुनने में आया, जब एम.विश्वेश्वरैया ने देश की आय को दूगुना करने के उद्धेश्य से एक 10 वर्षीय योजना बनाई। लेकिन इस संबंध में व्यवस्थित शुरूआत योजना आयोग (Planning commission) की स्थापना के साथ हुई। भारत सरकार द्वारा 15 मार्च, 1950 को इसकी स्थापना की गई। केन्द्र स्तर पर स्थापित यह संस्था भारत में एक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली परामर्शदात्री अभिकरण रहा है। परामर्शदात्री संस्थाएं वह अभिकरण होते है जिनका दायित्व निश्चित उद्धेश्यों की प्राप्ति हेतु सरकार को मात्र परामर्श देना होता है, उद्धेश्यों का वास्तविक क्रियान्वयन इनकी जिम्मेंदारी नहीं होती हैं। योजना आयोग का प्रमुख कार्य देश के संसाधनों का प्रभावशाली एवं संतुलित उपयोग हो, इस हेतु योजना बनाना तथा समय–समय पर योजना की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा नीति एवं उपायों में आवश्यक तालमेल हेतु सिफारिश करना था।

पूर्ववर्ती योजना आयोग (Planning Commision):

योजना आयोग की स्थापना वर्ष 1946 में के.सी. नियोगी की अध्यक्षता में गठित एडवाइजरी प्लानिंग बोर्ड की अनुशंसा पर भारत सरकार के एक प्रस्ताव द्वारा मार्च, 1950 में की गई थी। इस प्रकार, योजना अयोग न ही संवैधानिक निकाय है और न ही विधायी। दूसरे शब्दों में , इस आयोग की स्थापना न तो संविधान के अधीन हुई है और न ही किसी अधिनियम के माध्यम से। भारत में, योजना आयोग सामाजिक और आर्थिक विकास हेतु नियोजन के सर्वोच्च निकायों में से था।

कार्य और भूमिका (Function and Role)–दिनांक 15 मार्च, 1950 के प्रस्ताव द्वारा योजना आयोग को निम्नलिखित कार्य सौंपे गए थे –

1. देश की भौतिक, पूँजी और मानव संसाधनों का आंकलन कर उनमें वृद्धि की संभावनाएँ तलाशना।
2. देश के संसाधनों की सर्वाधिक प्रभावी और संतुलित ढंग से उपयोग में लाने संबंधी योजना बनाना।
3. योजनाओं के कार्यान्वयन की प्राथमिकताओं और उनके चरणों का निर्धारण करना।
4. आर्थिक विकास में बाधक तत्वों का उल्लेख करना।

5. प्रत्येक चरण में योजना के सफल कार्यान्वयन के लिए अपेक्षित तंत्र की प्रकृति का निर्धारण करना।
6. योजनाओं के कार्यान्वयन की प्रगति की समय–समय पर समीक्षा तथा आवश्यक समायोजनों की अनुशंसा करना।
7. आयोग के कर्तव्यों के निर्वहन को सुगम बनाने या केंद्र अथवा राज्य सरकारों द्वारा किसी विषय पर मांगी गई सलाह से संबंधित समूचित अनुशंसा करना।

योजना आयोग द्वारा भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया गया है। पंचवर्षीय योजना से अभिप्राय उन पाँच वर्षीय योजनाओं से जिनके माध्यम से देश के बहुआयामी विकास का लक्ष्य रखा गया है। इन योजनाओं का संक्षिप्त विवरण आगे दर्शाया गया है :

भारत में योजनाएँ :

भारत की अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा, पंचवर्षीय योजनाओं पर आधारित है। भारत में अभी तक 11 पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी है, तथा वर्तमान में 12 वीं योजना चल रही है। इनका संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है –

प्रथम योजना (1951–1956) – इस योजना में मुख्यतः बाँध, बहुउद्देश्य सिंचाई परियोजनाएँ, कृषि आदि क्षेत्रों पर ध्यान दिया गया। योजना के अंत में (1956) में पाँच भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IIT) शुरू किए गए। यह एक सफल योजना थी।

दूसरी योजना (1956–1961) – दूसरे पाँच सालों में उद्योगों पर ध्यान केन्द्रित किया गया।

तीसरी योजना (1961–1966) – इसमें कृषि क्षेत्र विशेषकर गेहूँ के उत्पादन में सुधार पर जोर दिया। इस योजना काल में देश में 5.6 प्रतिशत की विकास दर हासित करने का लक्ष्य था, लेकिन योजनाकाल में भारत–चीन एवं भारत–पाकिस्तान युद्ध होने से विकास दर निम्न रही। इस दौरान 2.84 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त हुई।

चतुर्थ योजना (1969–1974) – हरित क्रान्ति पर जोर दिया गया। 14 प्रमुख निजी क्षेत्र के बैंकों का राष्ट्रीयकरण (1969) किया गया।

पंचम योजना (1974–1979) – इसका प्रमुख लक्ष्य रोजगार, गरीबी उन्मूलन एवं न्याय था। इसमें लक्ष्य 4.4 प्रतिशत विकास दर प्राप्त करना था, लेकिन वास्तविक विकास दर 3.8 प्रतिशत प्राप्त हुई।

छठी योजना (1980–1985) – इस योजना में नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार पर जोर दिया गया। परिवार नियोजन कार्यक्रमों को बढ़ावा मिला। इसमें लक्ष्य 5.2 प्रतिशत विकास दर प्राप्ति का था लेकिन व्यवहार में 5.66 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त हुई।

सप्तम योजना (1985–1989) – सार्वजनिक क्षेत्र (सरकारी उद्योगों) की उत्पादकता में सुधार पर जोर दिया गया, साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में नवीन प्रौद्योगिकी के उपयोग पर बल दिया गया। देश को आत्मनिर्भर बनाने पर ध्यान दिया गया। इस योजना में लक्ष्य 5.0 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त करना था जबकि वास्तविक प्राप्ति 6.01 प्रतिशत की हुई।

1989–1991 की वार्षिक योजनाएँ – इस दौरान देश में कतिपय आर्थिक कारणों से एक–एक साल की योजनाएँ प्रस्तुत की गई।

आठवीं योजना (1992–1997) – देश में मुक्त अर्थव्यवस्था की शुरूआत भारत में उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण की नीति आरम्भ हुई।

नौवीं योजना (1997–2002) – इस योजना में तीव्र औद्योगीकरण, मानव विकास, पूर्ण रोजगार, गरीबी में कमी तथा घरेलू संसाधनों पर आत्मनिर्भरता की प्राप्ति मुख्य उद्देश्य थे।

दसवीं योजना (2002–2007) – इसमें विभिन्न क्षेत्रों में विकास करने हेतु अलग–अलग प्रतिशत लक्ष्य रखे गए। यह संकेतात्मक नियोजन (Indicative Planning) की स्पष्ट शुरूआत की थी। इस योजना का लक्ष्य समानता पर आधारित सतत् विकास था। इसमें 7.6 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त हुई।

ग्यारहवीं योजना (2007–2012) – इस योजना का मुख्य लक्ष्य **समावेशी विकास** (Inclusive Growth) था। इससे अभिप्राय है कि देश के सभी क्षेत्रों एवं सभी लोगों का विकास हो। इस हेतु इस योजना में विभिन्न क्षेत्रों हेतु अलग–अलग लक्ष्य रखे गए।

बारहवीं योजना (2012–2017) – इस योजना का मुख्य लक्ष्य भारत का **तेज, अधिक समावेशी एवं सतत् विकास** (Faster,More Inclusive and Sustainable Growth) करना है। यह योजना वर्तमान में जारी है इस योजना में देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुल मिलाकर 8 प्रतिशत विकास दर प्राप्ति का लक्ष्य है।

नई संस्था की आवश्यकता (Need of New Instutution) –

योजना आयोग की स्थापना के साथ से ही इसकी भूमिका तथा कार्यप्रणाली पर अलग–अलग ढंग से प्रश्न उठाये गये है। यद्यपि इसने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भारत के विकास में योगदान दिया तथापि इसे कभी सुपर केबिनेट (जो समस्त निर्णय स्वयं ही करे) तो कभी मंत्रिमण्डलीय तानाशाही का अभिकरण माना गया है। इसने भारतीय संघवाद की मूल आत्मा पर प्रहार कर विकेन्द्रीकरण की जगह शक्तियों के केन्द्रीकरण को बढ़ावा दिया। जिस परंपरागत योजना आयोग ने भारत की संपूर्ण नियोजन प्रणाली (Planning System) का प्रतिनिधित्व किया, वह समय के साथ कई खामियों के चलते निरीक्षण एवं परीक्षण के दायरे में आया। योजना आयोग अग्रलिखित विसंगतियों से ग्रस्त था –

1. योजना आयोग देश में सतत् रूप से उच्च वृद्धि दर हासिल करने में असफल रहा। 1980 तक भारत में वृद्धि दर 3 प्रतिशत के लगभग रही। जिससे देश विकासशील बना रहा। 2005–07 के दौरान भारत में वृद्धि दर 9 प्रतिशत रही लेकिन यह वैश्विक स्तर पर आई तेजी की वजह से थी, क्योंकि शेष विश्व में भी इस दौरान उच्च वृद्धि दर देखी गई। 2007 के बाद अमेरिका में सब प्राइम संकट उभरा जिससे अमेरिका में मंदी आई। भारत में भी इस मन्दी का नकारात्मक प्रभाव पड़ा व योजना आयोग भारत में पड़ने वाले प्रभावों को रोकने में नाकामयाब रहा।2. 2008–13 के दौरान भारत में निरन्तर मुद्रास्फीति (Inflation) बढ़ी जिससे महंगाई बढ़ती गई।

योजना आयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जाने पर भी कोई भी मंत्रालय, विभाग या राज्य आदि इससे कोई प्रश्न पूछने की स्थिति में नहीं थे, अर्थात् यह किसी के प्रति प्रत्यक्षतः जवाबदेह नहीं था।

3. भारत में भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन में योजना आयोग असफल रहा। इसी वजह से भारत का बड़ा हिस्सा नक्सलवाद से प्रभावित हो गया। योजना आयोग की स्थापना के 65 वर्ष बाद भी देश में औद्योगीकरण, कारखाना श्रमिक कानून आदि अनेक समस्याएं बनी हुई है।
4. देश में योजना व नीति निर्माण हेतु नए प्रकार के संगठन उभरे यथा– प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद्, प्रधानमंत्री परियोजना अनुश्रवण(Monitoring) समूह आदि। योजना आयोग के साथ इनका प्रभावशाली तालमेल नहीं बैठ पाया।
5. 1950 में भारत में जबरदस्त आर्थिक पिछड़ापन था, अतः उसके निवारण हेतु योजना आयोग जैसी केन्द्रीकृत संस्था उचित थी। आज 2017–18 में भारत एक बड़ी आर्थिक शक्ति बनकर उभरा है। अतः भारत को ओर आगे बढ़ाने हेतु योजना आयोग की क्षमता जवाब दे गई थी। आज के शक्तिशाली भारत को महाशक्ति बनाने हेतु **नई** नियोजन संस्था की स्थापना की लम्बे समय से आवश्यकता महसूस हो रही थी।

भारतीय प्रशासन के समक्ष एक अच्छे अभिशासन (Good Governance) को स्थापित करने के मार्ग में अनेक चुनौतियाँ मौजूद है। इन चुनौतियों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, विकास में असंतुलन के कारण सामाजिक उथल–पुथल आज भारत की सामान्य स्थिति हो गई है। नक्सलवाद तथा अन्य रूढ़ीवादी प्रवृतियों ने देश के सभी भागों को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया है। आर्थिक पिछड़ापन देश के समक्ष एक गंभीर चुनौती है। यद्यपि देश ने आर्थिक प्रगति है तथापि अमीरी और गरीबी के बीच की खाई को पाटने में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। आर्थिक विकास का लाभ देश के गरीबों तक पहुँच नहीं पाया है। नीति–निर्देशक तत्वों में उल्लिखित आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफलता हमें नहीं मिल पायी है। पर्यावरणीय प्रदूषण देश के सामने एक गंभीर समस्या के रूप में उभरा है। बेतरतीब औद्योगिकीकरण जंगलों का कटाव तथा प्राकृतिक संसाधनों का अबौद्धिक इस्तेमाल वातावरण प्रदूषण का एक बहुत बड़ा कारण है। इससे मानव समाज के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हुआ है। समाज के भीतर असमानता के तत्व बढ़े हैं। सामाजिक दूरियाँ बढ़ी हैं इससे आर्थिक उन्मादता बढ़ी है। भारत में मानव संसाधन विकास का भी पर्याप्त अभाव देखा गया है। स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अर्थपूर्ण रोजगार के अभाव में पर्याप्त ढंग से मानव विकास संभव नहीं हो पाया है। मानव विकास प्रतिवेदनों में भारतीय मानव विकास पर गंभीर चिंता दर्ज करायी गयी। जनसंख्या दर को नियंत्रित करने में अभी तक सफलता नहीं मिली है। इसके परिणामस्वरूप विकास कार्यों का पर्याप्त लाभ सभी लोगों तक पहुँच पाना संभव नहीं हो पा रहा है। चीन तथा दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों की तरह भारत की आर्थिक प्रगति निरंतर गतिशील नहीं हो पा रही है। नियोजन में राज्य, जिला एवं खण्ड स्तरों की अत्यन्त सीमित भूमिका के कारण जन सहभागिता अत्यन्त न्यून है। फलस्वरूप भारत सरकार द्वारा योजना आयोग को समाप्त कर इसकी जगह नीति आयोग (NITI Aayog) की स्थापना की गई।

नीति आयोग (NITI Aayog) – नीति आयोग जिसे **राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान** (National Institute For Transforming India) भी कहा जाता है, भारत सरकार द्वारा गठित एक नया संस्थान है। यह 1 जनवरी, 2015 को अस्तित्व में आया। इस आयोग का गठन उन आकांक्षाओं को पूरा करने हेतु किया गया जो अभी पूर्णतः फलीभूत नहीं हो पायी है यथा :

1. अभी तक गरीबी के उपशमन (कमी) का लक्ष्य था योजना आयोग ने गरीबी कम करने की दिशा में गम्भीर प्रयास किए। लेकिन भारत से गरीबी पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाई। स्वयं योजना आयोग द्वारा गरीबी रेखा के निर्धारण हेतु विभिन्न अध्ययन दल गठित किए, किन्तु ये अध्ययन दल गरीबी की निश्चित एवं सर्वस्वीकृत परिभाषा करने में असफल रहे। लेकिन अब गरीबी के पूर्ण उन्मूलन की मांग है।
2. नियोजन में वित्तीय आवंटन को ले कर विभिन्न राज्यों में उपजे तनाव का निराकरण करना। योजना आयोग का दायित्व विभिन्न राज्यों को अनुदान के रूप में वित्त राशि उपलब्ध करवाना रहा है। इस अनुदान के वितरण को लेकर विभिन्न राज्यों ने केन्द्र सरकार पर भेदभाव के आरोप लगाए है। राज्यों का मानना है कि योजना आयोग उन राज्यों को अधिक अनुदान स्वीकृत करता है, जहाँ केन्द्र–राज्य में एक समान दल वाली सरकार हो।
3. औद्योगिक एवं सेवा क्षेत्र में सरकार की भूमिका को कम किया जाए, अब सरकार केवल समर्थकारक बने, न की स्वयं प्रथम प्रदाता की भूमिका निभाए। आज विकास हेतु यह सम्पूर्ण विश्व में यह दृष्टिकोण उभरा है कि जहां भी निजी क्षेत्र (Private Sector) सही एवं प्रभावशाली ढंग से काम करे उसे करने देना चाहिए तथा जहां निजी क्षेत्र कार्य नहीं करे उस क्षेत्र में सरकार को कार्य करना चाहिए। आज सरकार से मुख्य अपेक्षा यह है कि वह उचित ढंग से कानून का पालन करवाए (Rule of Law), सामाजिक सेवाओं यथा– शिक्षा, चिकित्सा आदि में निवेश करे। कमजोर एवं पिछड़े वर्गों का संरक्षण करे तथा पर्यावरण की सुरक्षा करे।
4. उद्यमशीलता, वैज्ञानिक तथा बौद्धिक मानव पूंजी को देशहित में नवीन उँचाइयों पर ले जाना।
5. प्रौद्योगिकी एवं प्रबंधन के क्षेत्र में अनिवासी भारतीय समुदाय से अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करना।
6. आने वाले समय में भारत की विशाल जनसंख्या से लाभ उठाना।
7. भारत के गांव लोकाचार, संस्कृति तथा जीविका के सुदृढ़ आधार बने हुए है। इन्हें विकास प्रक्रिया में पूर्णरूप से संस्थागत बनाये जाने की आवश्यकता है, जिससे हम उनके उत्साह एवं ऊर्जा का लाभ उठा सकें।

उपर्युक्त तथा ऐसी ही अन्य अपेक्षाओं को पूर्ण करने हेतु भारत सरकार ने नीति आयोग का गठन किया है।

नीति आयोग योजना आयोग से निम्न प्रकार भिन्न है

कारक	नीति आयोग	योजना आयोग
नियोजन	नीचे से ऊपर नियोजन(Bottom-up approach)	ऊपर से नीचे नियोजन(Top-down approach)
वित्तीय शक्तियाँ	सलाहकारी (शक्तियाँ वित्त मंत्रालय में)	वित्तीय शक्तियों का उपयोग
राज्यों की भूमिका	शासी परिषद् (Governing Council) के सदस्य के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका	राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्य के रूप में भूमिका
नियोजन की प्रकृति	संकेतात्मक एवं अधिक गुणवत्तापूर्ण	केन्द्रीकृत एवं मात्रात्मक

उद्देश्य (Objectives) : भारत सरकार द्वारा नीति आयोग के कार्यकरण हेतु अपने संकल्प पत्र में कुछ उद्धेश्यों का निर्धारण किया गया है। ये अग्रलिखित है :

क. राष्ट्रीय विकास की प्राथमिकताओं, क्षेत्रों तथा रणनीतियों हेतु एक साझा दृष्टिकोण का विकास करना। इस हेतु राज्य की सक्रिय भागीदारी प्राप्त करना।

ख. सशक्त राज्य ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकते है, इसे मानते हुए केन्द्र सरकार राज्य सरकारों के साथ निरन्तर सहयोग करेगी। सहयोगी संघवाद की स्थापना करना।

ग. ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजनाएं तैयार करने हेतु नीति आयोग एक ढांचा विकसित करेगा।

घ. जो क्षेत्र विशेष रूप से आयोग को सौंपे गए है उनके लिए क्षेत्रगत आर्थिक रणनीति तैयार करना।

ड. समाज के पिछड़े एवं कमजोर वर्गों पर विशेष रूप से ध्यान देना।

च. लम्बी अवधि हेतु नीति निर्माण तथा कार्यक्रमों का ढांचा तैयार करना। इन नीतियों तथा कार्यक्रमों की निरन्तर देखरेख करना तथा इनमें मध्यावधि संशोधन करना।

छ. शैक्षणिक एवं नीति अनुसंधान संस्थाओं के मध्य परस्पर परामर्श एवं भागीदारी को प्रोत्साहित करना।

ज. राष्ट्र के विकास के विभिन्न मुद्दों के कार्यान्वयन में तेजी लाने हेतु विभिन्न राज्यों एवं विभिन्न विभागों को एक मंच प्रदान करना।

झ. सुशासन (Good Governance) तथा सतत् एवं न्यायसंगत विकास की सर्वश्रेष्ठ कार्यप्रणाली विकसित करने हेतु अनुसंधान पर जोर देना।

ण. विकास तथा नियोजन हेतु आवश्यक संसाधनों की पहचान करना।

ट. कार्यक्रमों एवं योजनाओं के कार्यान्वयन का सक्रिय मूल्यांकन करना व निगरानी रखना जिससे इनकी सफलता सुनिश्चित हो सके। इस हेतु तकनीकी उन्नयन एवं क्षमता निर्माण पर जोर देना।

ठ. उपर्युक्त उद्धेश्यों की प्राप्ति हेतु अन्य आवश्यक गतिविधियों का उत्तरदायित्व लेना।

संगठन (Organisation) :

नीति आयोग का संगठन योजना आयोग से मिलता–जुलता है। संगठन से अभिप्राय है कि आयोग में कौन–कौन से सदस्य होंगे तथा इसका गठन किस प्रकार होगा। योजना आयोग की तरह ही नीति आयोग भी संवैधानिक संस्था नहीं है। अर्थात् भारत के संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। ये भारत सरकार के कार्यकारी संकल्प से सृजित संस्था है। इसकी संरचना अग्रलिखित है :

1. भारत के प्रधानमंत्री इसके **अध्यक्ष** है।
2. **शासी परिषद् (Governing Council)** :– नीति आयोग की एक गवर्निंग काउन्सिल होगी जिसमें सभी राज्यों के मुख्यमंत्री तथा केन्द्रशासित प्रदेशों के (जहां विधानसभा है वहां मुख्यमंत्री) उपराज्यपाल इसके सदस्य होंगे।
3. **क्षेत्रीय परिषद्** :–विशिष्ट मुद्दों तथा ऐसे आकस्मिक रूप से उभरने वाले मामले, जिनका संबंध एक से अधिक राज्य या क्षेत्र से हो से निपटने के लिए क्षेत्रीय परिषद गठित की जाएगी। ये परिषदें विशिष्ट कार्यकाल हेतु बनाई जाऐंगी। भारत के प्रधानमंत्री (आयोग के अध्यक्ष) के निर्देश पर क्षेत्रीय परिषदों की बैठक होगी तथा इनमें संबंधित क्षेत्र के राज्यों के मुख्यमंत्री या उपराज्यपाल शामिल होंगे। इनकी अध्यक्षता नीति आयोग के उपाध्यक्ष करेंगे।
4. विशेष कार्य क्षेत्र की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ प्रकृति के व्यक्तियों को विशिष्ट आमंत्रित के रूप में प्रधानमंत्री द्वारा नामित किया जाएगा।
5. आयोग के **पूर्णकालिक संगठनात्मक** ढांचे में निम्नलिखित व्यक्ति होंगे :

क. भारत के **प्रधानमंत्री** आयोग की अध्यक्षता करते है, तथा उनकी सहायता हेतु एक **उपाध्यक्ष** होगा जिसकी नियुक्ति प्रधानमंत्री द्वारा की जाती है। उपाध्यक्ष का पद पूर्णकालिक है तथा इसे केबिनेट मंत्री स्तर का दर्जा प्रदान किया गया है। नीति आयोग के प्रथम उपाध्यक्ष श्री अरविंद पनगड़िया है। ये अर्थशास्त्री है।

ख. **अंशकालिक सदस्य** :– अंशकालिक सदस्य वह होते है जिन्हें कुछ समय हेतु नियुक्त किया जाता है। अग्रणी विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों आदि से अधिकतम दो पदेन सदस्य। अंशकालिक सदस्य बारी के आधार पर नियुक्त किये जाते है।

ग. **पदेन सदस्य** :– पदेन सदस्य वह होते है जिन्हें स्वयं के पद के आधार पर (न कि व्यक्ति) स्वतः सदस्यता प्राप्त होती

है। नीति आयोग में प्रधानमंत्री द्वारा केन्द्रीय मंत्रीपरिषद् से अधिकतम चार सदस्य नामित किये जाते है। पहली बार नियुक्त किये गये पदेन सदस्यों में केन्द्र के गृह मंत्री, वित्त मंत्री, रेल मंत्री तथा कृषि मंत्री शामिल है। विशेष रूप से आमंत्रित किये गये मंत्रियों में केन्द्रीय परिवहन मंत्री, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्री तथा मानव संसाधन विकास मंत्री शामिल है।

घ. **मुख्य कार्यकारी अधिकारी (Chief Executive Officer-CEO)** : भारत सरकार के सचिव स्तर के अधिकारी को निश्चित कार्यकाल हेतु मुख्य कार्यकारी नियुक्त किया जाता है। वर्तमान में अमिताभ कांत (मार्च 2017) सी.ई.ओ. है। आयोग का एक सचिवालय होगा जिसमें आयोग को सचिवालय प्रकृति की सहायता हेतु आवश्यकतानुसार अधिकारी एवं कर्मचारी होंगे।

प्रथम बैठक (First Meeting) –

फरवरी, 2015 में नवनिर्मित नीति आयोग की प्रथम बैठक हुई इसमें आयोग के अध्यक्ष ने राज्यों को सभी मतभेद भुलाकर ''सहयोगी संघवाद'' के मॉडल पर काम करने की सलाह दी। प्रथम बैठक में निर्धनता उन्मूलन को सबसे बड़ी चुनौती के रूप में स्वीकार किया गया। गवर्निंग काउंसिल (शासी परिषद्) की इस बैठक में मुख्यमंत्रियों की तीन उप समितियाँ बनाई गई। ये समितियां केन्द्र सरकार द्वारा पोषित 66 योजनाओं के प्रभावशाली कियान्वयन, क्षेत्रीय विशेषता को ध्यान में रखते हुए कौशल विकास तथ स्वच्छता को भारतीय जीवन में पूर्ण शुचिता से अंगीकार करने वाली संस्थागत प्रणाली को विकसित करने का महत्वाकांक्षी कार्य निष्पादित करेंगी। प्रत्येक राज्य अपने–अपने क्षेत्र में दो टास्क फोर्स बनाएगा। प्रथम टास्क फोर्स राज्य में पूर्ण गरीबी उन्मूलन की दिशा में कार्य करेगी। द्वितीय टास्क फोर्स द्वारा राज्य के भावी विकास, कृषि तथा संबंधित कार्यों में केन्द्र सरकार किस तरह राज्यों का सहयोग करे, इस दिशा में गम्भीरता से कार्य करेगी। टास्क फोर्स एक ऐसा कार्यबल (समूह) होता है जिसका गठन विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अस्थाई रूप से किया जाता है। नीति आयोग का प्रशासनिक संगठन (सचिवालय) मुख्य कार्यकारी अधिकारी के अधीन काम करता है। नई दिल्ली के योजना भवन में नीति आयोग का प्रशासनिक सचिवालय कार्यरत है।

नीति आयोग की संरचना

अध्यक्ष (प्रधानमंत्री)

उपाध्यक्ष | पदेन सदस्य | पूर्णकालिक सदस्य | मुख्य कार्यकारी अधिकारी

विशेष आमंत्रित सदस्य विशेषज्ञ/मंत्री

नीति आयोग

शासकीय परिषद्

मुख्यमंत्रियों का उप समूह | कार्य बल (Task Forces)

मूल्यांकन (Evaluation) –

भारत में बेहतर नियोजन हेतु योजना आयोग को समाप्त कर नीति आयोग का गठन किया गया है। अभी नीति आयोग की शिशु अवस्था है तथापि इसके विरूद्ध अग्रलिखित आक्षेप लगाए जा रहे है :

1. नीति आयोग के संकल्प पत्र में आयोग के कार्यों तथा क्षेत्राधिकार का स्पष्ट निर्धारण नहीं किया गया है। इससे नीति आयोग में योजना आयोग जैसी प्रवृत्तियाँ ग्रहण करने का अंदेशा बना हुआ है।

2. भारत सरकार द्वारा नीति आयोग का गठन राज्य सरकारों तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् से बिना विचार विमर्श किया गया है। इससे देश में सहकारी संघवाद की भावना पर प्रहार हुआ है।

3. योजना आयोग की तरह नीति आयोग भी कार्यकारी संकल्प से सृजित किया गया है। इसे संवैधानिक या वैधानिक दर्जा दिया जाता तो यह अधिक सम्मानीय एवं प्रभावशाली हो सकता था।

अभी नीति आयोग का गठन हुए कम समय हुआ है ऐसे में किसी संस्था की कार्यकुशलता एवं प्रभावशीलता का उचित मापन सम्भव नहीं हो सकता। तथापि भारत सरकार ने नीति आयोग (NITI – National Institute for Transforming India) का सृजन नियंत्रक आयोग के रूप

में नहीं कर के थिंक टैंक (Think Tank) के रूप में किया है। अतः इसका मुख्य दायित्व देश के विकास हेतु विभिन्न प्रकार के नये विचारों को प्रोत्साहन देना है। आज भारत के समक्ष विकास हेतु अनेक चुनौतियां है जिनका निराकरण केन्द्र एंव राज्य दोनों मिलकर नीति आयोग के तत्त्वावधान में कर सकते है।

महत्वपूर्ण बिन्दू

1. नियोजन में, एक देश में उपलब्ध भौतिक, मानवीय एवं वित्तीय संसाधनों का व उनसे हो सकने वाले आर्थिक विकास का अनुमान लगाया जाना हैं।
2. पहली बार नियोजित विकास का विचार श्री एम. विश्वेश्वरैया से सन् 1934 में दिया था।
3. एक गैर संविधानिक संस्था के रूप में योजना आयोग की स्थापना केन्द्रीय सरकार के एक कार्यकारी आदेश द्वारा 15 मार्च, 1950 को की गई थी।
4. मूल रूप में योजना आयोग एक परामर्शदात्री संस्था मात्र हैं, किन्तु देश के नियोजित विकास में यह अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
5. केन्द्रीय स्तर के नियोजन तंत्र की प्रमुख संस्थाएँ योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् हैं। भारत सरकार द्वारा योजना आयोग को समाप्त कर इसकी जगह नीति आयोग (NITI Aayog) की स्थापना की गई।
6. भारत की अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा, पंचवर्षीय योजनाओं पर आधारित है। भारत में अभी तक 11 पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी है, तथा वर्तमान में 12 वीं योजना चल रही है।
7. बारहवीं योजना (2012–2017) – इस योजना का मुख्य लक्ष्य भारत का **तेज, अधिक समावेशी एवं सतत् विकास** (Faster,More Inclusive and Sustainable Growth) करना है। यह योजना वर्तमान में जारी है इस योजना में देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुल मिलाकर 8 प्रतिशत विकास दर प्राप्ति का लक्ष्य है।
8. नीति आयोग जिसे राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्थान (National Institute For Transforming India) भी कहा जाता है, भारत सरकार द्वारा गठित एक नया संस्थान है। यह 1 जनवरी, 2015 को अस्तित्व में आया। इसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री होते है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. भारत में विकास हेतु किस पर जोर दिया गया है –
(अ) नियोजन (ब) सलाह
(स) क्रान्ति (द) सामग्री

2. निम्नलिखित में से नियोजन पर किसने बल दिया है –
(अ) सेकलर–हडसन (ब) कौटिल्य
(स) हेनरी फेयोल (द) सभी

3. नियोजन के माध्यम से एक देश में कौन–कौन से परिवर्तन आ सकते है –
(अ) आर्थिक स्थिरता (ब) असमानता में कमी
(स) क्षेत्रीय विकास (द) सभी

4. भारत में योजना आयोग की स्थापना की गई थी –
(अ) 15 मार्च, 1949 (ब) 15 मार्च, 1950
(स) 15 मार्च, 1951 (द) 15 मार्च, 1952

5. भारत में नीति आयोग की स्थापना की गई –
(अ) 1 जनवरी, 2010 (ब) 1 जनवरी, 2012
(स) 1 जनवरी, 2015 (द) 1 जनवरी, 2016

6. नीति आयोग का अध्यक्ष कौन होता है ?
(अ) मुख्यमंत्री (ब) राज्यपाल
(स) प्रधानमंत्री (द) राष्ट्रपति

7. नियोजन का अर्थ है :
(अ) पूर्व दृष्टि (ब) दूर दृष्टि
(स) पूर्व तैयारी (द) उपर्युक्त सभी

8. ''प्लाण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया'' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) एम. विश्वेश्वरैया (ब) जवाहरलाल नेहरू
(स) श्रीमति इंदिरा गांधी (द) के.सी.नियोगी

9. योजना आयोग के अध्यक्ष होते हैं :
(अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति
(स) गृहमंत्री (द) राज्यपाल

10. योजना आयोग की स्थापना किसके द्वारा हुई ?
(अ) राष्ट्रपति (ब) संसद
(स) मंत्रिमण्डल (द) राज्यसभा

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. नियोजन से आप क्या समझते है ?
2. भारत में नियोजन का नाम सर्वप्रथम कब सुनने में आया?
3. योजना आयोग का मुख्य कार्य क्या था ?
4. नीति आयोग के प्रथम उपाध्यक्ष का नाम बताईये ।

5. योजना आयोग की स्थापना सर्वप्रथम कब की गयी थी?
6. योजना आयोग के मुख्य कार्य क्या थे ?
7. सामान्यतः योजना अयोग का अध्यक्ष कौन होता था ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वर्तमान में नियोजन का क्या महत्व है ?
2. भारत में नियोजन कब से आरम्भ हुआ ?
3. योजना आयोग की जगह नीति आयोग का गठन क्यों किया गया ?
4. नीति आयोग पर कौनसी आकांक्षाओं को पूर्ण करने का दायित्व है ?
5. योजना आयोग के प्रमुख तीन कार्य बताईये।
6. योजना आयोग की कोई तीन उपलब्धियाँ बताईये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. नियोजन का अर्थ समझाते हुए भारत में इसकी आवश्यकता का विवेचन कीजिए।
2. नीति आयोग से जनता की आकांक्षाओं एवं इसके उद्धेश्यों पर प्रकाश डालिए।
3. नीति आयोग की संरचना पर लेख लिखिए।
4. योजना आयोग के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला :

1. (अ)	2. (द)	3. (द)	4 (ब)
5. (स)	6. (स)	7. (द)	8. (अ)
9. (अ)	10. (स)		

अध्याय–16
राष्ट्रीय विकास परिषद्
(National Development Council)

भारत में नियोजन के क्षेत्र में प्रभावशीलता लाने हेतु विभिन्न उच्च स्तरीय संस्थाओं के निर्माण की आवश्यकता रही है। ''प्लैण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया'' पुस्तक में एम. विश्वेश्वरैया ने भी इस पर जोर दिया है। राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग की सिफारिशों की देन है। जब भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रारूप रूपरेखा (ड्राफ्ट आउटलाईन) बनाई गई तब उसमें आयोग ने सिफारिश की कि इस प्रकार की एक संस्था बनाई जाए जिसमें केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के जन प्रतिनिधियों द्वारा सहभागिता की जाए, जिससे उसे एक राष्ट्रीय चरित्र की प्राप्ति हो सके। प्रारूप में कहा गया है– ''भारत जैसे भीमकाय देश में, जिसमें संविधान की व्यवस्था के अनुसार राज्यों को अपने–अपने कार्य क्षेत्रों में पूर्ण स्वायत्तता (ऑटोनोमी) प्रदान की गई है, राष्ट्रीय विकास परिषद् जैसे मंच की अति आवश्यकता है, जिसमें समय–समय पर भारतीय प्रधानमंत्री तथा अन्य राज्यों के मुख्यमंत्री योजना की कार्यप्रणाली तथा उसके विविध पहलुओं की मिल बैठकर समीक्षा कर सकें तथा अपने–अपने अनुभव आपस में बाँट सकें।

इस तरह योजना आयोग के सुझाव पर भारत सरकार के एक प्रस्ताव के आधार पर 6 अगस्त, 1952 को राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गई। स्मरणीय है कि इस परिषद् में प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के मंत्री, राज्यों के मुख्यमंत्री तथा योजना आयोग के सदस्य सम्मिलित होते है। तदापि, अन्य केन्द्रीय मंत्रीगण, जो कि स्वयं योजना आयोग के सदस्य नहीं हैं, भी इस मंच की कार्यवाहियों में हिस्सा लेते हैं। इसी भांति अनेक बार बाहरी व्यक्तियों के रूप में विषयों के जानकारों या विशेषज्ञों को बैठक में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाता है पर ऐसा बहुत जरूरी समझने पर कभी–कभी ही किया जाता है। अब योजना आयोग के स्थान पर नीति आयोग का गठन किया गया है, जिससे योजना आयोग के दायित्वों को नीति आयोग द्वारा क्रियान्वित किया जाता है, अतः पूर्व में राष्ट्रीय विकास परिषद् के सम्बन्ध में जो भूमिका योजना आयोग निभाता था उसे अब नीति आयोग द्वारा लागू किया जायेगा।

स्थिति (Status) :

ज्ञातव्य है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में की गई अनुशंसा के आधार पर भारत सरकार के कार्यकारी प्रस्ताव द्वारा हुई थी। योजना आयोग की तरह ही राष्ट्रीय विकास परिषद् भी न तो संवैधानिक निकाय है और न ही विधायी निकाय। तथापि, केन्द्र राज्य संबंधों से संबद्ध सरकारिया आयोग ने अनुशंसा की थी कि राष्ट्रीय विकास परिषद् को संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत संवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए तथा इसका नाम 'राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद्' रखा जाना चाहिए। इस तरह यह मंत्रिमण्डल संकल्प द्वारा गठित संस्था है। विद्यार्थियों को यह ज्ञात रहे कि संवैधानिक निकाय वह संस्थाएँ है जिनके गठन का उल्लेख भारत के संविधान में किया गया है, जैसे–संघ लोक सेवा आयोग। विधायी निकाय वह संस्था है जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर विधायिका द्वारा बनाया जाता है, जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग। योजना आयोग के विघटन के पश्चात् भारत सरकार पुरानी नियोजन प्रणाली पर आधारित राष्ट्रीय विकास परिषद् को भी आने वाले समय में समाप्त कर सकती है। भारत सरकार वर्तमान राष्ट्रीय विकास परिषद् की शक्तियाँ तथा दायित्वों को नीति आयोग की शासकीय परिषद् (Governing Council) को स्थानान्तरित करना चाहती है। आने वाले समय में यदि ऐसा होता है तो एक पृथक संस्था के रूप में राष्ट्रीय विकास परिषद् का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। ऐसे में यह परिषद् नीति आयोग की एक उप संस्था के रूप में कार्य करेगी। अभी मार्च 2017 में राष्ट्रीय विकास परिषद् अपने मौलिक स्वरूप में बनी हुई है तथा सरकार द्वारा इसे समाप्त नहीं किया गया है।

संरचना (Composition) :

वर्तमान में राष्ट्रीय विकास परिषद् में निम्नलिखित सदस्य शामिल हैं –

1. भारत के प्रधानमंत्री (अध्यक्ष के रूप में)
2. मंत्रिमण्डल स्तर के सभी केन्द्रीय मंत्री (वर्ष 1967 से)
3. सभी राज्यों के मुख्यमंत्री
4. सभी संघशासित राज्यों के मुख्यमंत्री/प्रशासक
5. नीति आयोग के सदस्य (विशेषज्ञ) (पूर्व में योजना आयोग के सदस्य)

जरूरत पड़ने पर अन्य मंत्री तथा विशेषज्ञ भी परिषद् की बैठक में बुलाए जा सकते है, 1952 में भारत में राज्य तीन श्रेणियों में विभक्त थे जिससे परिषद् में सदस्यों की संख्या 50 तक हो गई थी। 1956 में भारत के विभिन्न राज्यों का पुनर्गठन किया गया, जिससे प्रांतीय सदस्यों की संख्या में कमी आ गई। प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव पर 1967 से भारत सरकार के सभी केबिनेट स्तर के मंत्रियों को इसका सदस्य बनाया गया। 1954 में परिषद् के कार्यों में सहायता हेतु एक स्थाई समिति बनाई गई। पूर्व में योजना आयोग का सचिव ही राष्ट्रीय विकास परिषद् का भी सचिव होता था। राष्ट्रीय विकास परिषद् को कार्यों के निष्पादन में योजना आयोग से प्रशासनिक और अन्य तरह की सहायता भी प्राप्त होती रही है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.)

अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) संघ सरकार के सभी मंत्रिमण्डल (केबिनेट) स्तर के मंत्री(1967 से) योजना आयोग (नीति आयोग) के विशेषज्ञ मुख्यमंत्री (सभी राज्यों के) तथा केन्द्र शासित क्षेत्रों के उपराज्यपाल या अन्य समस्तरीय प्रतिनिधि

उद्देश्य (Objectives) :

राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों से की गई थी –

1. राष्ट्रीय विकास परिषद् का परम उद्देश्य योजना को कार्यरूप देने में राज्यों का सहयोग प्राप्त करना है।
2. योजना/योजनाओं के समर्थन में राष्ट्र के प्रयासों और संसाधनों को सुदृढ़ता और गतिशीलता प्रदान करना।
3. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समान आर्थिक नीतियों को बढ़ावा देना।
4. देश के सभी भागों में त्वरित एवं संतुलित विकास सुनिश्चित करना।

परिषद् के कार्य (Functions) :

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्ष 1952 के प्रस्ताव (जिसके फलस्वरूप परिषद् का गठन हुआ) द्वारा राष्ट्रीय विकास परिषद् को कई कार्य सौंपे गए थे। इन कार्यों को वर्ष 1967 में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसा के आधार पर संशोधित और पुनर्परिभाषित किया गया था। संशोधित कार्यों की सूची इस प्रकार है :

1. राष्ट्रीय योजना की तैयारी के लिए मार्ग–निर्देश निर्धारित करना।
2. योजना आयोग द्वारा तैयार की गई राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।
3. योजना को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित संसाधनों का आंकलन करना और उनको बढ़ाने के उपाय सुझाना।
4. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक और आर्थिक महत्व के विषयों पर विचार करना।
5. राष्ट्रीय योजना से संबंधित कार्यों की समय–समय पर समीक्षा करना।
6. राष्ट्रीय योजना में निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के उपाय सुझाना।

कार्य प्रक्रिया (Working Procedure) :

राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.) निर्माता प्रस्ताव में कहा गया, 'परिषद् की बैठकें जितनी बार आवश्यक होगा उतनी बार होंगी तथा वर्ष में कम से कम दो बार होंगी। किसी भी बैठक की कार्यावली (1) स्वयं अथवा नीति आयोग (योजना आयोग) द्वारा सुझाए गए विषय, (2) केन्द्रीय मंत्रियों द्वारा सुझाए गए विषय, (3) राज्य सरकारों द्वारा सुझाए गए विषय होते हैं। परिषद् का सचिव कार्यावली के प्रत्येक विषय पर स्मृति–लेख तैयार करवाता है। ये स्मृति–लेख तथा अन्य आवश्यक पत्र पहले ही मंत्रियों में बाँट दिए जाते हैं। परिषद् की कार्यवाही प्रधान मंत्री जो परिषद् का अध्यक्ष होता है, के सम्बोधन से प्रारम्भ होती है। बैठक के दौरान समितियों के विचार, तथा अन्य सुझावों पर भी चर्चा की जाती है। इस समय राज्यों का पक्ष मुख्यमंत्री प्रस्तुत करते है। सम्पूर्ण कार्यवाही का रिकार्ड तैयार करवाया जाता है।

यद्यपि परिषद् की बैठकों में किसी प्रकार का कोई औपचारिक प्रस्ताव पारित नहीं किया जाता है। प्रयास यह रहता है कि अधिकतर निर्णय सभी की सहमति से हो जाए। परिषद् के कार्यों को कुशलतापूर्वक निष्पादित करने के लिए मंत्रिमण्डल स्तरीय मंत्री, मुख्यमंत्री तथा विशेषज्ञ सदस्यों से युक्त समितियाँ बनाई जाती है। ये समितियाँ नियोजन के क्षेत्र से जुड़े किसी विशिष्ट मुद्दे पर गम्भीरता पूर्वक चर्चा करती हैं। अभी रोजगार, अनुसूचित जाति अत्याचार, चिकित्सा, शिक्षा, जनसंख्या आदि पर समितियाँ कार्यरत है। प्रशासन में विभिन्न सुधारों हेतु भी एक उप समिति बनाई गई है।

व्यावहारिक अनुभव (Practical Experience) :

राष्ट्रीय विकास परिषद् की सर्वप्रथम बैठक 8–9 नवम्बर, 1952 को आयोजित की गई। परिषद् की अभी तक 57 बैठकें हो चुकी है तथा नवीनतम बैठक 27 दिसम्बर, 2012 को आयोजित की गई। इस बैठक में कृषि, विद्युत, स्वास्थ्य, कौशल विकास आदि पर बारहवीं पंचवर्षीय योजना में अधिक ध्यान केन्द्रित करने पर जोर दिया गया। इसी बैठक में पिछड़ा क्षेत्र विकास निधि का क्षेत्र बढ़ाने हेतु जोर दिया गया। 1952 में जब से एन.डी.सी. की स्थापना हुई, तब से यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण मामला या प्रश्न नहीं है जिस पर यह संस्था विचार न कर सके। इसकी व्यस्तताएँ कई और विभिन्न हैं, तथा इसके मौलिक दायित्वों के अध्ययन से इसके वर्तमान कार्यों का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। इसके प्रमुख कर्त्तव्य में वर्णित था कि यह समय–समय पर राष्ट्रीय योजना की कार्यविधि का पुनर्विलोकन करेगी।

व्यवहार में परिषद् योजना की संरचना और आकार के संबंध में संस्तुतियाँ करती है। योजना एक प्रारूप के रूप में सामान्य सहमति के लिए इसके समक्ष प्रस्तुत की जाती है। परिषद् समय–समय पर योजना पुनर्विलोकन हेतु भी मिलती है और इस प्रकार इसे समन्वित क्रियान्वयन उपलब्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न बैठकों में यह राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली आर्थिक और सामाजिक नीतियों के महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करती है। यह देश के विभिन्न भागों में सन्तुलित विकास पर बल देती है तथा इस लक्ष्य हेतु घटती हुई क्षेत्रीय असमानताओं की समस्याओं के निरंतर अध्ययन के साथ–साथ सामान्य विकास के उपयुक्त सूचकों की स्थापना करने पर जोर दिया है। इसने विकेन्द्रिकृत औद्योगिक उत्पादन का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त, परिषद् नशाबन्दी की नीति पर सहमत है तथा इसने इसे लागू करने के लिए क्रमिक प्रतिबन्ध कार्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया है।

परिषद् ने अपनी स्थापना के बाद से ही जिला, क्षेत्र तथा ग्रामीण स्तरों पर पंचायती राज लागू करने का समर्थन किया है, तथा सुझाव दिया है कि प्रत्येक राज्य पंचायत राजव्यवस्था का विकास इस प्रकार करे कि यह उस राज्य की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल हो। इसने देश में ''सहकारी खेती विस्तार नीति'' का पूर्ण समर्थन किया है तथा सहकारी समितियों के संगठन एवं उन्हें दी जाने वाली सहायता के सम्बन्ध में व्यापक सिद्धान्त भी निर्धारित किए है। व्यवहार में

परिषद् द्वारा अपने स्थान से हटाए गए विस्थापितों के पुनर्वास से लेकर राष्ट्र में आपातकाल लगने पर भी विचार किया गया है। 1990 के पश्चात् उदारीकरण व वैश्वीकरण से संरचनात्मक नियोजन (Indicative Planning) आरम्भ हुआ जिससे योजना प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका बढ़ी है।

इससे राष्ट्रीय विकास परिषद् का भी महत्व बढ़ा है चूंकि यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है। सन् 2000 के दशक से परिषद् सतत् एवं समावेशी विकास पर जोर देने लगी है। क्योंकि वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के दौर में जहाँ एक तरफ विकास दर में तेजी आई है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक–आर्थिक विषमताओं में भी वृद्धि हुई है। ऐसे में समावेशी विकास (Inclusive Development) के आधार पर ही व्यावहारिक नियोजन सम्भव है।

मूल्यांकन (Evaluation) :

आज राष्ट्रीय विकास परिषद् का प्रथम कार्य संघीय सरकार, नीति आयोग तथा राज्य सरकारों के मध्य एक प्रकार की कड़ी का कार्य करना है। यह केवल योजनाओं, नीतियों तथा कार्यक्रमों के समन्वय में ही सहायक नहीं होती है, बल्कि राष्ट्रीय महत्व के अन्य महत्वपूर्ण विषयों के समन्वय में भी योग देती है। दूसरे, यह वाद–विवाद तथा विचारों के पूर्ण एवं स्वतंत्र आदान–प्रदान के लिए श्रेष्ठ मंच का कार्य करती है। तीसरे, राज्यों तथा केन्द्र सरकार के बीच उत्तरदायित्व विभाजित करने हेतु यह एक प्रभावशाली उपकरण भी है। परिषद् की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं। कुछ लोग तो इस परिषद् पर यह आरोप लगाते हैं कि इसके द्वारा सत्ता हड़प ली गयी है एवं यह एक उच्चतर मंत्रिमंडल के रूप में कार्य करती है।

लेखक ब्रेकर (Brecher) ने इस परिषद् का उल्लेख करते हुए कहा है कि '' राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना नियोजन के उच्चतम प्रशासकीय एवं परामर्शदात्री निकाय के रूप में की गयी थी। यह मंत्रिमण्डल द्वारा अनुमोदित नीति–निर्देशों को ही निर्धारित करती है।'' राष्ट्रीय विकास परिषद् स्पष्टतः योजना आयोग से उच्च निकाय रहा है। वस्तुतः यह नीति–निर्माण करने वाला एक निकाय है और इसकी सिफारिशें केवल सुझाव मात्र नहीं हैं, बल्कि वे नीति संबंधी निर्णय है। संथानम का कथन है कि '' राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के उच्च मंत्रिमण्डल के समकक्ष सी है, अर्थात् उसने एक ऐसे मंत्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यों की सरकारों के लिए कार्य कर रहा है।'' योजना आयोग द्वारा तैयार पंचवर्षीय योजना के प्रारूप को पहले केन्द्रीय मंत्रिमंडल को प्रस्तुत किया जाता है। इसकी स्वीकृति के बाद उसे राष्ट्रीय विकास परिषद् के समक्ष स्वीकृति के लिए रखा जाता है। इसके बाद योजना को संसद में रखा जाता है। संसद की स्वीकृति के बाद इसे अधिकारिक योजना माना जाता है और भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया है। इसलिए, सामाजिक और आर्थिक विकास से संबंधित नीतिगत विषयों के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद्, संसद के बाद, सर्वोच्च निकाय है जो इन विषयों से संबंधित नीति–निर्धारित करने के लिए जिम्मेंदार है।

उपर्युक्त आलोचना को समझने के लिए यह जानकारी आवश्यक है कि परिषद् की स्थिति न तो संवैधानिक है और न ही संविधिक (Staturory)। यह तो केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सृष्टि है। इसकी सिफारिशें किसी पर बन्धनकारी नहीं हैं, यद्यपि यह सच है कि व्यवहार में यह परिषद् उच्च श्रेणी की नीति–निर्मात्री निकाय बन गयी है, और इसकी सिफारिशें प्रायः स्वीकार कर ली जाती है। इसका कारण इसकी सदस्यता की प्रकृति है। इसके सदस्यों की स्थिति एवं स्तर तथा कार्यों के कारण परिषद् निश्चय ही अधिकाधिक प्रभाव, प्रतिष्ठा और वास्तविक सत्ता प्राप्त कर चुकी है। भारत के आर्थिक उदारीकरण एवं स्वतंत्र बाजार व्यवस्था में प्रवेश के बाद योजना आयोग का महत्व स्वतः धीरे–धीरे कम हो गया था फलतः उसकी जगह नीति आयोग की स्थापना की गई। लेकिन आज भी राष्ट्रीय विकास परिषद् का महत्व देश का सर्वांगीण विकास करने हेतु केन्द्र व राज्य के मध्य योजक कड़ी के रूप में बना हुआ है। यद्यपि आने वाला समय ही राष्ट्रीय विकास परिषद् के वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन को तय करेगा तथापि परिषद् का जो भी नाम एवं स्वरूप हो इसका उसी रूप में महत्व बना रहेगा।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग की सिफारिश की देन है, इसका गठन भारत सरकार के कार्यकारी प्रस्ताव से 6 अगस्त, 1952 को हुआ।
2. राष्ट्रीय विकास परिषद् की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करते है।
3. केन्द्र राज्य संबंधों से संबद्ध सरकारिया आयोग ने अनुशंषा की थी कि राष्ट्रीय विकास परिषद् को संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत संवैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए तथा इसका नाम 'राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद्' रखा जाना चाहिए।
4. राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.) निर्माता प्रस्ताव में कहा गया, 'परिषद् की बैठकें जितनी बार आवश्यक होगा उतनी बार होंगी तथा वर्ष में कम से कम दो बार होंगी।
5. राष्ट्रीय विकास परिषद् का परम उद्देश्य योजना को कार्यरूप देने में राज्यों का सहयोग प्राप्त करना है।
6. वर्ष 1952 के प्रस्ताव (जिसके फलस्वरूप परिषद् का गठन हुआ) द्वारा राष्ट्रीय विकास परिषद् को कई कार्य सौंपे गए थे। इन कार्यों को वर्ष 1967 में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंषा के आधार पर संशोधित और पुनर्परिभाशित किया गया था।
7. राष्ट्रीय विकास परिषद् की सर्वप्रथम बैठक 8–9 नवम्बर, 1952 को आयोजित की गई।
8. नियोजन में, एक देश में उपलब्ध भौतिक, मानवीय एवं वित्तीय संसाधनों का व उनसे हो सकने वाले आर्थिक विकास का अनुमान लगाया जाना हैं।
9. पहली बार नियोजित विकास का विचार श्री एम. विश्वेश्वरैया से सन् 1934 में दिया था।
10. मूल रूप में राष्ट्रीय विकास परिषद् एक परामर्शदात्री संस्था मात्र हैं, किन्तु देश के नियोजित विकास में यह अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।
11. केन्द्रीय स्तर के नियोजन तंत्र की प्रमुख संस्थाएँ नीति आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् हैं।

12. राष्ट्रीय विकास परिषद् योजना आयोग की सर्वोच्च नीति निर्धारक संस्था है। इसकी स्थापना 6 अगस्त, 1952 में की गई।
13. राष्ट्रीय विकास परिषद्, योजना आयोग और विभिन्न संस्थानों में परस्पर तथा केन्द्र और राज्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।
14. राष्ट्रीय विकास परिषद् समय–समय पर योजनाओं की समीक्षा करती है तथा अपने सुझाव देती है।
15. योजना आयोग (अब नीति आयोग) के सभी सदस्य, राज्यों के मुख्यमंत्री, केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि तथा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के सभी सदस्य राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्य होते है।
16. योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् का पदेन अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. नियोजन का अर्थ है :
(अ) पूर्व दृष्टि (ब) दूर दृष्टि
(स) पूर्व तैयारी (द) उपर्युक्त सभी

2. ''प्लैण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया'' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) एम. विश्वेश्वरैया
(ब) जवाहरलाल नेहरू
(स) श्रीमति इंदिरा गांधी
(द) के.सी.नियोगी

3. राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन कब किया गया :
(अ) 1947 (ब) 1949
(स) 1950 (द) 1952

4. राष्ट्रीय विकास परिषद् का अध्यक्ष होता है :
(अ) राष्ट्रपति
(ब) प्रधानमंत्री
(स) योजना आयोग का उपाध्यक्ष
(द) वित्तमंत्री

5. योजना आयोग का कार्य है :
(अ) योजना में प्राथमिकताओं का निर्धारण
(ब) आर्थिक विकास का नियोजन
(स) उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का आंकलन
(द) उपर्युक्त सभी

6. राष्ट्रीय विकास परिषद् का सचिव होता है :
(अ) कैबिनेट सचिव (ब) योजना आयोग का सचिव
(स) वित्त सचिव (द) मुख्य सचिव

7. भारत में योजना आयोग एवं राष्ट्रीय विकास परिषद् किस प्रकार की संस्थाएँ हैं :
(अ) प्रशासनिक संस्था (ब) परामर्शदात्री संस्था
(स) संवैधानिक संस्था (द) इनमें से कोई नहीं

8. सरकारिया आयोग ने संविधान के किस अनुच्छेद के तहत राष्ट्रीय विकास परिषद् को संवैधानिक दर्जा देने का प्रस्ताव रखा था ?
(अ) 163 (ब) 263 (स) 280 (द) 352

9. किस वर्ष से मंत्रिमण्डल स्तर के सभी मंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद् के सदस्य बने ?
(अ) 1957 (ब) 1967 (स) 1977 (द) 1987

10. निम्नलिखित में से कौनसा राष्ट्रीय विकास परिषद् का कार्य नहीं है ?
(अ) योजना तैयारी हेतु मार्ग–निर्देश निर्धारित करना
(ब) राष्ट्रीय योजना पर विचार करना
(स) योजना की समय–समय पर समीक्षा करना
(द) योजना को क्रियान्वित करना

11. भविष्य में राष्ट्रीय विकास परिषद् का विलय निम्नलिखित किस संस्था में किया जा सकता है –
(अ) वित्त आयोग (ब) मंत्रिमण्डल
(स) नीति आयोग (द) संसद

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. नियोजन का प्रमुख उद्देश्य क्या है ?
2. राष्ट्रीय विकास परिषद् का गठन पहली बार कब किया गया था ?
3. राष्ट्रीय विकास परिषद् का अध्यक्ष कौन होता है ?
4. राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रमुख कार्य क्या है ?
5. राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना का सुझाव किसने दिया ?
6. राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रमुख उद्देश्य बताइये ?
7. राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव कौन होता है ?
8. राष्ट्रीय विकास परिषद की प्रथम बैठक कब आयोजित हुई ?
9. राष्ट्रीय विकास परिषद् को सुपर केबिनेट किसने कहा है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. नियोजन के प्रमुख उद्देश्य लिखिए।
2. संक्षेप में नियोजन की आवश्यकता बताईये।
3 राष्ट्रीय विकास परिषद् के प्रमुख तीन कार्य बताईये।
4. राष्ट्रीय विकास परिषद् की कोई तीन उपलब्धियाँ बताईये।
5. राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना के तीन उद्देश्य बताईये।
6. राष्ट्रीय विकास परिषद् का संगठन बताईये।
7. सुपर केबिनेट से क्या अभिप्राय है ?

8. राष्ट्रीय विकास परिषद् की कार्य प्रक्रिया समझाइये।
9. राष्ट्रीय विकास परिषद् का दर्जा स्पष्ट कीजिए।
10. भारत में राष्ट्रीय विकास परिषद् के भविष्य पर संक्षेप में टिप्पणी कीजिए।

निबंधात्मक प्रश्न :

1. ''राष्ट्रीय विकास परिषद्, संघीय सरकार, नीति आयोग एवं राज्य सरकारों के मध्य एक प्रकार की कड़ी का कार्य करती है।'' इस कथन पर प्रकाश डालते हुए परिषद् के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
2. राष्ट्रीय विकास परिषद् के संगठन एवं उद्देश्यों का वर्णन कीजिये।
3. राष्ट्रीय विकास परिषद् की कार्य–प्रक्रिया एवं व्यावहारिक अनुभवों पर लेख लिखिए।
4. भारत में राष्ट्रीय विकास परिषद् के उद्देश्य बतलाते हुए इसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

उत्तरमाला :

(1) द	(2) अ	(3) द	(4) ब
(5) द	(6) ब	(7) ब	(8) ब
(9) ब	(10) द	(11) स	

अध्याय–17
नियोजन विभाग एवं योजना मण्डल
(Department of Planning and Planning Board)

नियोजन सामान्यतः अर्थव्यवस्था के विकास से जुड़ा होता है, भारत में विकास की समस्याओं की जटिल प्रकृति के कारण नियोजन की आवश्यकता हुई, कि क्या किया जाना चाहिए और यह कैसे किया जाए, यह सुनिश्चित करना ही नियोजन है। नियोजन व योजना परस्पर पर्यायवाची है।

प्रस्तावना :

समता के साथ आर्थिक विकास की जिम्मेदारी मात्र नीति आयोग (पूर्व में योजना आयोग) तथा संघीय सरकार की ही नहीं होती है। हमारे देश ने जिस संघीय लोकतांत्रिक प्रकृति को अपनाया है उसका यह भी अर्थ है कि राष्ट्रीय आर्थिक विकास की प्रक्रिया सचमुच में राष्ट्रीय होनी चाहिए जिसमें अनेक भागों की सहभागिता होनी चाहिए। इसलिए यह जरूरी है कि योजनाओं के निर्माण तथा कार्यान्विति में सरकार के विविध स्तरों को भी सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। हमारे संविधान ने विषयों को तीन सूचियों में विभाजित किया है जो कि क्रमशः संघीय सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची होती हैं। इसमें राज्य सरकारों के राजस्व (धन) उगाही के साधनों को भी रेखांकित किया गया है यथा उन्हें बिक्री कर तथा भूमि पर लगान लगाने तथा केन्द्र से वैधानिक दृष्टि से हस्तांतरित वित्तीय साधनों/स्रोतों की प्राप्ति का भी अधिकार दिया गया है। इसलिए हमारे संविधान द्वारा विकास कार्यवाहियों तथा स्रोतों/साधनों के जुटाने हेतु राज्यों को अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो राज्य सरकारों की योजनाओं को उचित महत्त्व दिए बिना राष्ट्रीय योजनाओं को भी तैयार नहीं किया जा सकता।

हकीकत यह है कि राज्य योजनाएँ कुल सार्वजनिक क्षेत्र के करीब आधे हिस्से के बराबर की हिस्सेदार हैं। वे राज्य सूची की अनेक विकास कार्यवाहियों को समाहित करते हैं यथा वे कृषि, सिंचाई, ऊर्जा, सहकारिता, सामुदायिक सेवायें तथा अन्य क्षेत्रों की विकास गतिविधियों को भी सम्मिलित करते हैं तथा संचालित करते हैं। वे इसके साथ राज्य स्तर पर अनेक स्रोतों/साधनों के जमा करने का भी दायित्व निभाते हैं और इनके अतिरिक्त संघीय सरकार से भी अपना अंशदान/हिस्सा हासिल करते हैं, जिससे वे विकास योजना के एक भाग का वित्तीय प्रबन्ध कर सकें।

भारत एक संघवादी (Union) राज्य है, अतः यहाँ विकास हेतु सहकारी संघवाद पर बल दिया गया है। सहकारी संघवाद वह व्यवस्था है जिसमें केन्द्र तथा राज्य मिल–जुलकर सहयोगी व पूरक भावना से अपने–अपने दायित्वों का निर्वहन करते है, अतः देश में बनने वाली विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता राज्य सरकारों द्वारा बनाई जाने वाली योजनाओं की प्रभावशीलता पर भी निर्भर करती है।

भारत में राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र :

भारत में राज्य स्तर पर योजना की एक प्रमुख संस्था योजना विभाग है। इसके कार्य तथा भूमिकाएं काल के प्रवाह के साथ बदलती रही हैं, तदापि इसकी प्रमुख सेवा अभी भी राज्य योजना प्रक्रिया से ही संबंधित रही है। प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह पाया कि यह विभाग राज्य योजना से संबंधित बहुमुखी भूमिकाओं को निभाता रहा है, चाहे वह योजना–निर्माण की हो या उसके प्रगति प्रतिवेदन की हो इन सभी प्रबन्धकीय कार्यों में ''स्टेट ब्यूरो ऑफ इकॉनामिक्स एण्ड स्टेटिस्टिक्स'' उसकी सहायता करता है।

पूर्व में राज्यों के योजना विभागों की तकनीकी योग्यताओं को बढ़ाने की दिशा में अभी काफी कुछ किया जाना बाकी था। इसलिए वर्ष 1972 में योजना आयोग ने इन विभागों की कुशलता बढ़ाने के लिए राज्यों को अग्रांकित–विशिष्ट इकाइयां बनाने का सुझाव दिया–विशेषतः जहां पर कि इनकी स्थापना ही नहीं की गई थी, ये है

1. सबसे पहले दूरगामी योजना इकाई (पर्सपेक्टिव प्लानिंग यूनिट) स्थापित की जाए जिससे वह भविष्य को ध्यान में रखकर योजना बनाएं।
2. ''मॉनिट्रिंग'' या अनुश्रवण को योजना–निर्माण तथा मूल्यांकन की इकाई बनाएं।
3. परियोजना (प्रॉजेक्ट) मूल्यांकन इकाई स्थानीय की जाए।
4. जिला/योजना की इकाई बनाई जाए।
5. योजना समन्वय या तालमेल की इकाई स्थापित की जाए।
6. मानव शक्ति तथा रोजगार बढ़ाने की खास इकाई भी संगठित की जाए।

तथा यह भी कहा गया कि यदि राज्य योजना विभागों को ऊपर लिखित तरीकों से मजबूत बनाना चाहेंगे तो उन्हें इसके लिए उचित मात्रा में केन्द्रीय सहायता भी प्रदान की जाएगी।

संरचना :

भारत के विभिन्न राज्यों में योजना प्रक्रिया की बेहतर समझ हेतु राज्यों के योजना विभागों की संरचना का सामान्य अध्ययन विद्यार्थियों हेतु आवश्यक है। किसी भी कार्यालय की स्पष्ट एवं पर्याप्त संरचना से ही प्रभावशाली ढंग से लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव है। यद्यपि इस विषय में अनेक अन्तर–राज्यीय भेद पाए जाते हैं, तथापि विभिन्न राज्यों के योजना विभागों की संरचना के कुछ साझे बिन्दुओं को इस प्रकार उभारा जा सकता

है। प्रत्येक राज्य के सचिवालय में एक योजना विभाग (नियोजन विभाग) होता है, जिसकी अध्यक्षता या तो सचिव अथवा अन्य नामकरण का व्यक्ति यथा विकास–आयुक्त करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रारम्भ में योजना विभाग राज्यों के वित्त विभागों के अंग–प्रत्यंग के रूप में कार्य करते रहे हैं। शनैः शनैः उनकी एक अलग "पहचान" कायम होती चली गई और वे प्रथक विभाग के रूप स्थापित होते गए। जहाँ तक इन योजना विभागों की कार्मिक (अधिकारी–कर्मचारी) शक्ति का सवाल है वह भी राज्य दर राज्य बदलती रही है। इस विभाग में योजना कार्य भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS), राज्यों की प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी (यथा राजस्थान में RAS, अन्य राज्यों में PCS), तकनीकी जानकारी के विषेशज्ञ अधिकारी तथा अन्य सहायक कर्मचारी करते हैं। ये प्रायः प्रशासनिक पृष्ठभूमि के होते हैं, अतः सामान्य प्रशासन का कार्य तो अच्छे ढंग से कर सकते है, लेकिन उनकी योजना तकनीकों की जानकारी शून्य होती है। नतीजतन उनकी भूमिका आमतौर पर अप्रभावी रहती है।

योजना विभाग का कार्य विविध प्रभागों में विभाजित होता है, तथा प्रत्येक प्रभाग का प्रभारी एक संयुक्त सचिव या उप–सचिव स्तर का अधिकारी होता है। पर जहाँ तक इन प्रभागों की संख्या, निपटे जाने वाले विषयों तथा कार्मिकों का सवाल है–उनके विषय में राज्यों में भारी परिवर्तन पाया जाता है। प्रायः सभी योजना विभागों में एक निर्णय इकाई होती है जो कि योजना–निर्माण का काम करती है। इसी भांति अनेक राज्यों में विभाग में विभिन्न ऐसे खण्ड होते हैं जो कृषि, योजना, वित्त, मूल्यांकन, मॉनिट्रिंग, मानवशक्ति, आकलन तथा रोजगार की समस्याओं से निपटते हैं। आजकल पंचायतीराज के सुदृढ़ीकरण होने से राज्यों में क्षेत्रीय तथा जिला योजना से सम्बद्ध प्रभाग भी पाए जाते हैं। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है, जिस मायने में राज्यों में कार्यरत योजना विभागों में कार्य विभाजन हुआ है उसके विषय में कोई एकरूपता नहीं पाई जाती है।

योजना विभागों की सबसे अहम भूमिका अन्य विभागों के साथ तालमेल की होती है। तथा दूसरे उनकी यह भी जिम्मेंदारी होती है कि वे मंत्रीमंडल तथा विधायिका के समक्ष राज्य योजना बनाकर पेश करें। इसी तरह जहां राज्य सीमा के बाहर उनकी भूमिका का सवाल है उस विषय में योजना आयोग (अब नीति आयोग) तथा केन्द्रीय कार्य समूहों के साथ भी अच्छे संबंध विकसित करते हैं। इसी प्रसंग में न केवल समय–समय पर (संघीय) नीति आयोग के साथ विचार–विमर्श करते रहते हैं वरन् वे इसके साथ ही पंचवर्षीय तथा एक वर्षीय योजना की तैयारी, मॉनिट्रिंग तथा मूल्यांकन के कामों से भी जुड़े रहते हैं। इसलिए राज्यों में योजना विभाग अधिकांश योजना अभ्यास करते हैं। पर इसके साथ ही वहाँ पर राज्य योजना मण्डल भी पाए जाते हैं। जो कि इससे मिलते–जुलते प्रकार्य (फंक्शन्स) करते रहते हैं। इस प्रसंग में बुनियादी सवाल के रूप में यह पूछा जाता है कि इन दोनों इकाइयों में से कौन–सी इकाई प्राथमिक रूप से योजना के लिए उत्तरदायी होती है।

इसी से जुड़ा मुद्दा राज्य योजना मंडलों तथा योजना विभागों के बीच कार्य विभाजन का होता है, एवं उनके बीच तालमेल बैठाने की भी समस्या खड़ी रहती है। यह एक मानी हुई बात है कि राज्य योजना मण्डल की भूमिका प्रायः मंत्रणा देने वाली यानी सलाहकार मात्र होती है, तथा उसका कार्य मंत्रिमण्डल को कतिपय तर्क सम्मत नतीजों तक पहुंचाना होता है। भारत में योजना की एक प्रमुख कमी यह भी है कि यहाँ पर जरूरत से ज्यादा केन्द्रीयकरण की ओर रूझान पाया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि राज्य योजना मण्डल लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के जरिए विकास पाने की दिशा में, चाहे छोटा ही सही, पर एक सही कदम है, यानी वे विकास की ओर चलने के लिए एक नई दिशा का तो संकेत देते ही हैं। यद्यपि इस दिशा में देश के विभिन्न राज्यों में धीरे–धीरे सुधार हो रहा है, तथा वे विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ रहे है।

राजस्थान में नियोजन की आवश्यकता :

राजस्थान राज्य प्राचीन समय में कई पृथक–पृथक देशी रियासतों में विभक्त था। इन रियासतों में लोकतंत्र का अभाव था तथा रियासती शासक जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे, अतः प्राचीन समय से ही राजस्थान पिछड़ा राज्य बना रहा। राज्य में प्रथम उत्तरदायी शासन की स्थापना भारत के स्वतंत्र होने के बाद 7 अप्रेल, 1949 को हुई। इस समय राजस्थान प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़ा हुआ था। स्वतंत्रता के समय राज्य में केवल 8.5 प्रतिशत साक्षरता थी, पिछड़ी हुई कृषि प्रणाली थी, राज्य के दो तिहाई क्षेत्र में मरूस्थल था, पेयजल की अनुपलब्धता थी। खनिजों के खनन का कार्य अत्यन्त सीमित था। राजस्थान निर्माण (30 मार्च, 1949) के समय मात्र 15 छोटे विद्युत गृह थे जिनकी कुल स्थापित विद्युत क्षमता मात्र 13.27 मेगावाट थी। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण प्रारम्भ से ही औद्योगिक पिछड़ापन, आजादी के समय राज्य में सड़कों की असंतोषजनक स्थिति सड़क घनत्व 3.96 किमी प्रति 100 वर्ग किमी था। अनेक जिला मुख्यालय भी उस समय सड़क से जुड़े हुए नहीं थे। अकाल एवं सुखा जो कि राजस्थान की स्थायी त्रासदी थे, निर्धनता एवं बेरोजगारी का बड़ा स्तर, निम्न जीवन स्तर, कुपोषण एवं भीषण महामारियाँ, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य की नकारात्मक दशाएँ, सामाजिक–आर्थिक न्याय में असन्तुलन, ग्रामीण विकास एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का अभाव आदि अनेक क्षेत्र में राजस्थान की तात्कालिक स्थिति अत्यंत सोचनीय थी, बिना सुनियोजित नियोजन के इन नकारात्मक घटकों से उभर पाना अत्यंत जटिल एवं दुष्कर था। अतः राज्य में नियोजन प्रणाली अपनाने की आवश्यकता महसूस हुई।

राजस्थान में नियोजन विभाग (Planning Department in Rajasthan) –

राज्य की उपर्युक्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जुलाई, 1953 में पहली बार मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में नियोजन विभाग की स्थापना की गई। नियोजन एवं योजना एक ही शब्द के पर्याय है। 1964 में इस विभाग का दायित्व योजना राज्य मंत्री को दिया गया लेकिन 1981 से पुनः मुख्यमंत्री के पास इस विभाग का दायित्व आ गया। बाद के वर्षों में मुख्यमंत्री के साथ योजना राज्य मंत्री का पद भी बना रहा। योजना राज्य मंत्री इस विभाग का दैनन्दिन प्रशासन तथा निर्देशन कार्य इत्यादि सम्पादित करते है। व्यवहार में योजना निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। यह राज्य की प्राथमिकता

है। राज्य का विकास इसी से जुड़ा होता है। अतः इनमें मुख्यमंत्री की कुशल व प्रभावी भूमिका स्वतः ही बेहद आवश्यक हो जाती है।

संरचनात्मक एवं कार्यात्मक विकास :

राज्य में योजना विभाग के संगठन में समय–समय पर परिवर्तन आता रहा है। राजस्थान में सांगठनिक स्तर पर प्रारम्भ में विकास आयुक्त एवं विकास विभाग के सचिव को ही योजना विभाग का सचिव बनाया गया था। सचिव की सहायता के लिए एक उपसचिव नियुक्त किया गया। सन् 1955 में अतिरिक्त मुख्य सचिव का पद सृजित कर योजना विभाग उसे सौंपा गया। 1961 के आरम्भ तक अतिरिक्त मुख्य सचिव योजना विभाग का भी सचिव बना रहा। अप्रेल, 1961 में इस विभाग का कार्यभार मुख्य सचिव को सौंपा गया। सन् 1967 तक इस विभाग में दो उपसचिव के पद सृजित किये गए। 1968 में वार्षिक योजनाओं और अलग–अलग क्षेत्रों में नियोजन की प्रगति का विश्लेषण करने के उद्‌देश्य से योजना विभाग में एक प्रगति अधिकारी का पद भी बनाया गया। उस समय यह पद सहायक सचिव के पद के समकक्ष था किन्तु वर्तमान में यह पद उपसचिव के समकक्ष है।

सन् 1967 तक राजस्थान राज्य में योजना के लिए नियोजन विभाग ही उत्तरदायी था। यह विभाग मुख्यमंत्री अथवा वित्तमंत्री के अधिकार क्षेत्र में रहता था और राज्य का मुख्य सचिव ही इस विभाग का सचिव हुआ करता था। मुख्य सचिव की सहायता के लिए एक उपसचिव होता था, जो स्वतंत्र रूप से योजना विभाग का पूर्णकालीन कार्य देखता था। इसके अतिरिक्त नियोजन विभाग में पाँच और भी अधिकारी थे– निदेशक जनशक्ति, प्रगति अधिकारी, सहायक सचिव, सांख्यिकी अधिकारी एवं सहायक लेखाधिकारी। योजना विभाग के सभी अधिकारी राजस्थान सांख्यिकी एवं सचिवालय सेवा से संबंधित थे। उच्चाधिकार प्राप्त एक राजस्थान नियोजन समिति भी थी, जो योजना के उद्‌देश्यों और प्राथमिकताओं के लिए उत्तरदायी थी और योजना प्रगति पर भी दृष्टि रखती थी। मुख्यमंत्री, मंत्रीमण्डल के सदस्य, उपमंत्री (नियोजन), संसद के प्रभावशाली सदस्य, जिला परिषदों के प्रमुख, प्रभावी सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षाशास्त्री और उद्योगपति इस समिति के सदस्य होते थे। मुख्य सचिव, वित्त आयुक्त और विकास आयुक्त इस समिति के स्थायी सदस्य होते थे। समिति की बैठक वर्ष में एक बार होती थी। योजना विभाग का मुख्य कार्य पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं का निर्माण और क्रियान्वयन तथा सामंजस्य स्थापित करना, दीर्घकालीन योजना निर्माण एवं जनशक्ति नियोजन था।

सन् 1968 में योजना विभाग के उत्तरदायित्वों को बढ़ाने के लिए ''मूल्यांकन विभाग तथा जिला गजेटियर्स निदेशालय'' भी इसके साथ जोड़ दिये गये। जनशक्ति नियोजन के उपसचिव को मूल्यांकन एवं गजेटियर्स विभाग का अवैतनिक निदेशक नियुक्त किया गया। सन् 1992 में राजस्थान में योजना सचिव का पद सृजित किया गया क्योंकि मुख्य सचिव की व्यस्तताओं को देखते हुए यह अनुभव किया गया कि नियोजन विभाग का पृथक शासन सचिव होना चाहिए। राज्य के मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव, योजना राज्य मंत्री तथा राज्य सरकार के विभागों, केन्द्रीय योजना आयोग एवं मंत्रालयों के साथ योजनाओं के क्रम में समन्वय स्थापित करने की जिम्मेंदारी विभाग के सचिव की थी। सचिव को सहायतार्थ बहुत से अन्य अधिकारी–कर्मचारी विभाग में कार्यरत थे। इसमें सर्वप्रमुख हैं विशिष्ट शासन सचिव योजना तथा निदेशक प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग यूनिट। इस पद का सृजन सन् 1972 में किया गया था। इससे पूर्व विभाग में अतिरिक्त मुख्य सचिव की सहायतार्थ एक उप सचिव का पद सृजित हो चुका था। कालान्तर में संयुक्त सचिव, उपसचिव के अनेक पद योजना विभाग में सृजित किए गए। सचिव तथा विशिष्ट शासन सचिव, भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) के अधिकारी होते हैं जबकि संयुक्त सचिव, उपसचिव तथा निदेशक पदों पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा (RAS) या राज्य आर्थिक एवं सांख्यिकी सेवा के अधिकारी कार्यरत हैं। सहायक सचिव एवं अनुभाग अधिकारी पद, राजस्थान सचिवालय सेवा से एवं अधीनस्थ पद राजस्थान मंत्रालयिक सेवा तथा राजस्थान अधीनस्थ लेखाकार सेवा से भरे जाते है। योजना विभाग के अधीन आर्थिक एवं सांख्यिकी निदेशालय, जनशक्ति एवं गजेटियर्स निदेशालय तथा मूल्यांकन संगठन कार्यकारी संगठनों के रूप में कार्यरत हैं तथापि ये नियोजन के सहायक अभिकरण ही हैं, नियोजन विभाग के प्रत्यक्ष कार्यकारी निकाय नहीं है। दिनांक 26 मई, 1998 में जनशक्ति तथा जिला गजेटियर्स नामक दो विभागों का विलय करके ''जनशक्ति एवं गजेटियर्स विभाग'' नाम दिया गया है। जिला गजेटियर्स विभाग 1960 में जिलों की सूचना, इतिहास, संदर्भ तथा संसाधनों की सूचना प्रकाशन के लिए गठित हुआ था। मूल्यांकन संगठन का गठन मार्च, 1960 में किया गया था। सचिवालय स्तर पर विभाग में आर्थिक एवं सांख्यिकी सेवाओं के कई अधिकारी संयुक्त निदेशक, उपनिदेशक, सहायक निदेशक तथा सांख्यिकी अधिकारी के रूप में पद स्थापित है।

योजना विभाग की आन्तरिक संगठनात्मक रचना कई ग्रुप में विभक्त की गई हैं। विभाग में कई प्रकोष्ठ बनाए गए हैं। सर्वप्रथम सन् 1975 में प्रोजेक्ट प्लानिंग प्रकोष्ठ की स्थापना हुई थी, जिसे 25 मई, 1991को त्वरित कार्य मूल्यांकन प्रकोष्ठ नाम दिया गया था। यह प्रकोष्ठ 2 जून, 1995 से प्रोजेक्ट मॉनीटरिंग यूनिट में समाहित हो चुका है। नियोजन विभाग में 1982–83 में बीस सूत्री कार्यक्रम प्रकोष्ठ, 1986–89 में कम्प्यूटर प्रकोष्ठ, 1988–89 जिला नियोजन प्रकोष्ठ, 1995–96 में प्रोजेक्ट मॉनिट्रिंग इकाई, 1996–97 में जिला गरीबी उन्मूलन परियोजना प्रकोष्ठ की स्थापना की गई थी। आगे भी नियोजन से जुड़ी इकाइयाँ नियोजन विभाग में स्थापित की जाती रही है। आगे चलकर लोक–निजी भागीदारी (Public-Private Partnership-PPP) एवं भामाशाह योजना प्रकोष्ठ की स्थापना की गई। नियोजन विभाग अनेक ग्रुप में बंटा है जो योजनाओं से संबंधित अलग–अलग कार्य संभालते है। यथा ग्रुप–1 राज्य आयोजना तंत्र तथा राज्य आयोजना बोर्ड के बजट संबंधी कार्य देखता है। ग्रुप–2 लोक सभा, राज्य सभा, विधानसभा प्रश्नों के जवाब, राष्ट्रीय विकास परिषद् से संबंधित कार्य देखता है। ग्रुप–3 के पास जिलेवार वित्तीय एवं भौतिक लक्ष्यों का निर्धारण व वार्षिक योजना प्रगति का प्रतिवेदन, जिलेवार लक्ष्यों का प्रकाशन आदि कार्य है।

ग्रुप–4 राज्य की पंचवर्षीय योजना का निर्माण एवं मध्यावधि समीक्षा आदि कार्य संभालता है। ग्रुप–5 वार्षिक योजनाओं के प्रारूप तैयार करने के साथ सिंचाई एवं बाढ़, ऊर्जा, परिवहन, चिकित्सा, सीवरेज, जल प्रदाय आदि कार्य सम्भालता है। ग्रुप–6 राज्य में बैंकिग संबंधी गतिविधियां सम्भालता है। ग्रुप–7 रोजगार तथा जनशक्ति आयोजना से संबंधित सूचनाओं का कार्य करता है। राजस्थान सरकार योजनाओं के विभिन्न क्षेत्रों के समुचित विकास हेतु अनेक समितियों का निर्माण भी करती है। ये समितियाँ नियोजन विभाग के मार्गदर्शन में कार्य करती है। इन्हें आयोजना तथा विकास समन्वय समिति के नाम से जाना जाता है। इनमें ग्रामीण विकास, कृषि, ऊर्जा, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि प्रमुख हैं।

नियोजन में संलग्न पदाधिकारी –

मुख्यमंत्री — राज्य की योजना मुख्यमंत्री की देखरेख में तैयार की जाती हैं। मुख्यमंत्री विभागों के मंत्रियों के परामर्श से राज्य की योजना को अन्तिम रूप देता है। मुख्यमंत्री राज्य की योजनाओं के लिए प्रधानमंत्री, नीति आयोग (पूर्व में योजना आयोग) के उपाध्यक्ष तथा नीति आयोग के अन्य सदस्यों और केन्द्रीय मंत्रियों से सम्पर्क करता हैं और राज्य की योजनाओं के लिए वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था करता हैं। राज्य की योजनाओं को अन्तिम स्वीकृति तो नीति आयोग तथा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल द्वारा दी जाती है। अतः मुख्यमंत्री योजनाओं के लिए अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। राज्य योजना मण्डल के सदस्यों की नियुक्ति मुख्यमंत्री द्वारा की जाती है। सामान्यतः मुख्यमंत्री ही राज्य का योजना मंत्री भी होता है।

राज्य योजना मंत्री : मुख्यमंत्री की सहायता तथा योजना विभाग के क्रिया–कलापों के संचालन के लिए योजना राज्यमंत्री होता हैं जो योजना संबंधी कार्यों में मुख्यमंत्री के मार्गदर्शन में कार्य करता है। यह मंत्री राज्य की योजनाओं की रूपरेखा तैयार करता है तथा जिला योजना एवं पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में भी सहयोग प्रदान करता है। विभिन्न मामलों की जाँच करता हैं तथा राज्य विधानसभा में प्रश्नकाल के दौरान पूछे जाने वाले योजना संबंधी प्रश्नों क उत्तर देता है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर वह स्वयं ही तैयार करता है।

शासन सचिव : मुख्य सचिव की व्यस्तता को देखते हुए यह अनुभव किया गया कि योजना विभाग का पृथक से शासन सचिव होना चाहिए अतः सन् 1992 में राजस्थान में शासन सचिव, योजना का पद सृजित किया गया। राज्य के मुख्यमंत्री, योजना राज्यमंत्री, मुख्य सचिव या राज्य सरकार के विभागों सहित केन्द्रीय योजना आयोग एवं मंत्रालयों के साथ योजनाओं के क्रम में समन्वय स्थापित करने की जिम्मेंदारी योजना विभाग के शासन सचिव की है। वस्तुतः राज्य योजना विभाग में शासन सचिव के अधिकार एवं उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा व्यापक है।

विशिष्ट शासन सचिव : शासन सचिव के कार्यों की सहायता के लिए एक विशिष्ट शासन सचिव होता है। विशिष्ट शासन सचिव विभाग की आन्तरिक कार्यप्रणाली के लिए उत्तरदायी होता है। यह राज्य योजना मंडल का भी सदस्य सचिव होता है। यह परियोजना मूल्यांकन इकाई का निदेशक भी होता है। इसके अधीन परियोजना मूल्यांकन इकाई का संयुक्त सचिव होता है।

विशेष सचिव (नियोजन) : नियोजन हेतु एक विशेष सचिव होता है। इसके अधीन वरिष्ठ उपसचिव, उपसचिव (ग्रुप–1ए), निदेशक राज्य नियोजन बोर्ड एवं संयुक्त निदेशक समन्वय तथा–लोक–निजी भागीदारी (PPP) होते है।

संयुक्त शासन सचिव :

वर्तमान में विभाग में चार संयुक्त शासन सचिव कार्यरत है। इन चारों के पास क्रमशः नियोजन वित्त, जनशक्ति, अनुश्रवण (Monitoring) एवं संस्थागत वित्त का प्रभार है। सामान्यतः संयुक्त शासन सचिव योजनाओं के पर्यवेक्षण का कार्य करते है। संयुक्त शासन सचिवों के कार्यों को सुचारू रूप से संचालन में सहायता हेतु संयुक्त–निदेशक (समन्वय), विशेषाधिकारी, सहायक सचिव तथा एनालिस्ट कम प्रोग्रामर आदि होते हैं। इनके कार्य अग्रलिखित है :

संयुक्त शासन सचिव (योजना वित्त) :

संयुक्त शासन सचिव (योजना वित्त) निम्नलिखित कार्यों को देखता है :

1. योजना निर्माण–वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाएँ
2. आन्तरिक विभागीय मामले
3. केन्द्रीय सहायता

संयुक्त शासन सचिव (जनशक्ति) :

संयुक्त शासन सचिव (जनशक्ति) योजनाओं से संबंधित निम्नलिखित समितियों की प्रगति प्रतिवेदन की जाँच करता हैं :

1. प्राकृतिक साधनों की समिति
2. परिव्यय एवं साधन समिति एवं
3. कृषि कार्यक्रमों की समिति

संयुक्त शासन सचिव (संस्थागत वित्त) :

संयुक्त शासन सचिव (संस्थागत वित्त), यह राज्य आयोजना मण्डल से संबंधित कार्य एवं कार्यकारी समूह के कार्य देखता है।

संयुक्त शासन सचिव (मॉनिट्रिंग) :

संयुक्त शासन सचिव (Monitoring) निम्नलिखित कार्यों को देखता हैं :

1. परियोजना के संदर्भ में व्यय की प्रगति एवं पुनर्भरण के दावों का पर्यवेक्षण
2. विभिन्न मंत्रालयों व विभागों से सम्पर्क स्थापित करना, तथा
3. राज्य के अधिकारियों को प्रशिक्षण।

आगे राजस्थान में नियोजन विभाग की वर्तमान संरचना का चार्ट दिया गया है।

विशिष्ट सचिव, विशेष सचिव एवं संयुक्त सचिव से नीचे पदानुसार संयुक्त सचिव (पी.एम.यू.), वरिष्ठ उप सचिव, निदेशक (राज्य नियोजन बोर्ड), विशेषाधिकारी (योजना), अनेक संयुक्त निदेशक (समन्वय, लोक–निजी भागीदारी, संस्थागत वित्त, टी.पी.पी.) पदस्थापित है। इनसे नीचे अनेक सांख्यिकिकी अधिकारी एवं अन्य स्टाफ पदस्थापित है।

नियोजन विभाग का संगठन

मुख्यमंत्री

योजना (राज्यमंत्री)

सचिव (नियोजन)

- विशिष्ट सचिव तथा निदेशक पी.एम.यू.
- विशेष सचिव, (नियोजन)
- संयुक्त सचिव (नियोजन वित्त)
- संयुक्त सचिव (जन शक्ति)
- संयुक्त सचिव (मोनिट्रिंग)
- संयुक्त सचिव (आधारभूत संरचना)
- सी.ई.ओ. (VSDC)

नियोजन विभाग के कार्य (Functions of Planning Department) :

राजस्थान राज्य का योजना विभाग राज्य के सुनियोजित एवं तीव्र आर्थिक विकास के लिए कार्य करता है। योजना विभाग का मुख्य कार्य राज्य की वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण, क्रियान्वयन तथा नियंत्रण से सम्बन्धित है। योजना विभाग के प्रमुख कार्य व दायित्व इस प्रकार है :

1. वार्षिक एवं पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण :

योजना विभाग राज्य के विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं, वार्षिक योजनाओं तथा स्थानीय योजनाओं का निर्माण करता है। इन योजनाओं का निर्माण करते समय यह विभाग राज्य की अर्थव्यवस्था के सभी पहलुओं एवं क्षेत्रों को ध्यान में रखता है। पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाएँ बनाते समय राज्य सरकार के वित्तीय संसाधनों को ध्यान में रखा जाता है। इन योजनाओं का निर्माण करते समय योजना विभाग विभिन्न सरकारी विभागों एवं अभिकरणों से सम्पर्क करता है और उनसे आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करता है। इन योजनाओं के परिव्यय पर विचार एवं मूल्यांकन के लिए यह बैठकें भी आयोजित करता है।

2. दीर्घकालीन योजना :

योजना विभाग राज्य के आर्थिक एवं सामाजिक विकास को उपयुक्त दिशा प्रदान करने के उद्देश्य से दीर्घकालीन योजनाएँ तैयार करता है। इन योजनाओं की विशेष समितियों द्वारा जाँच की जाती है।

3. सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का निर्देशन :

राज्य के समुचित ग्रामीण विकास के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए है। इस दिशा में सामुदायिक परियोजनाओं एव पंचायतीराज संस्थाओं ने उल्लेखनीय कार्य करते हुए शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य, सिंचाई, उद्योग, सफाई, जल व्यवस्था, यातायात, सड़क निर्माण, परिवार नियोजन आदि क्षेत्रों में प्रशंसनीय उपलब्धियाँ प्राप्त की है। इस हेतु योजना विभाग पूरे राज्य के लिए योजना बनाते समय देहाती क्षेत्रों के विकास कार्यक्रमों के लक्ष्य निर्धारित कर लेता है। ये लक्ष्य ग्राम पंचायत समिति व जिला परिषद् के लिए मार्गदर्शक बन जाते हैं। राज्य सरकार इन स्थानीय निकायों को पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध कराती है। योजना विभाग इस बात का निरीक्षण एवं निर्देशन करता है कि सामुदायिक विकास के ये सभी कार्यक्रम सही तरीके से लागू किये जा रहे हैं या नहीं।

3. योजना हेतु वित्तीय संसाधनों का प्रबंध करना :

यह विभाग राज्य के नियोजत क्रियाकलापों के लिए पर्याप्त वित्तीय साधनों की प्राप्ति हेतु उचित प्रबंध करता है। योजना विभाग राज्य सरकार के वित्त विभाग से सम्पर्क करके वित्तीय संसाधनों के बारे में जानकारी प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप राज्य की योजनाएँ बनाने का प्रयास करता है। भारतीय योजना आयोग तथा वित्त विभाग से राज्य का योजना विभाग निरन्तर सम्पर्क बनाये रखता है तथा योजनाओं के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था करता है।

4. समन्वय सम्बन्धी कार्य :

केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों, योजना आयोग (नीति आयोग), वित्त विभाग, मंत्रिमण्डल, विशिष्ट योजना संगठन (अब ग्रामीण विकास विभाग), जिला नियोजन समितियों तथा अन्य सम्बद्ध संगठनों से राज्य योजना विभाग समन्वय स्थापित करता है।

5. मूल्यांकन सम्बन्धी कार्य :

योजना विभाग राज्य की योजनाओं का सामाजिक आधार पर मूल्यांकन करता है तथा मूल्यांकन प्रतिवेदन तैयार करके राज्य सरकार को प्रस्तुत करता है।

योजनाओं का मूल्यांकन करके योजना के निर्माण एवं क्रियान्वयन में रहने वाली कमियों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। मूल्यांकन के आधार पर राज्य सरकार अपने प्रशासनिक तंत्र को सजग बनाने का कार्य करती है।

राजस्थान राज्य में योजना प्रक्रिया (Planning Process in Rajasthan State) :

राजस्थान में वर्तमान योजना प्रक्रिया ने अत्यन्त व्यवस्थित व आधुनिक स्वरूप धारण कर लिया हैं राजस्थान में योजना प्रक्रिया विभिन्न चरणों से गुजरती है और इसके बाद उसे क्रियान्वित किया जाता है। योजना प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। राजस्थान में दो प्रकार की योजनाएं बनाई जाती है –
(1) पंचवर्षीय योजना (2) वार्षिक योजना

(1) पंचवर्षीय योजना का निर्माण (Five Year Plan Formulation) :

पंचवर्षीय योजना का निर्माण कार्य विभिन्न चरणों में पूरा होता है जो अग्रलिखित है :

प्रथम चरण : राज्य का योजना विभाग पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण से संबंधित आरम्भिक कार्य शुरू करता है। इसके

अन्तर्गत योजना विभाग कार्यरत योजना की आधी अवधि पूर्ण होने के बाद उसके कार्यों का मूल्यांकन करना शुरू कर देता है।

द्वितीय चरण : राज्य योजना विभाग पिछली पंचवर्षीय योजना की प्रगति व उनके अनुभव के आधार पर उनका मूल्यांकन कार्य करता है तथा राज्य के नीति–निर्देशों को ध्यान में रखते हुए राज्य में उपलब्ध प्राकृतिक, भौतिक, मानवीय एवं वित्तीय साधनों के आधार पर यह निर्णय करता है कि, आगामी पंचवर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य क्या होंगे तथा उनमें किन–किन क्षेत्रों के विकास पर अधिक बल दिया जायेगा। इस योजना नीति के आधार पर ही राज्य सरकार पंचवर्षीय योजना के निर्माण हेतु विभिन्न कार्यात्मक समूहों की रचना करती है।

तृतीय चरण : विभिन्न कार्यात्मक समूह सभी प्रासंगिकताओं को ध्यान में रखते हुए अपने क्षेत्रों के विकास से संबंधित योजनाओं के प्रारूप तैयार करते हैं। सभी कार्यात्मक समूह अपने–अपने प्रस्तावों को योजना विभाग को प्रेषित करते है।

चतुर्थ चरण : राज्य का योजना विभाग कार्यात्मक समूहों से प्राप्त प्रस्तावों का गहन अध्ययन करता है तथा राज्य के वित्तीय साधनों एवं सम्भावित केन्द्रीय सहायता को ध्यान में रखते हुए और राष्ट्रीय विकास परिषद् की सिफारिशों के आधार पर पंचवर्षीय योजना का प्रारूप तैयार करता है। इस चरण में मुख्यतया योजना विभाग भौतिक नियोजन का वित्तीय नियोजन के साथ सन्तुलन स्थापित करता है। इसके लिए वह कार्यात्मक समूहों से प्राप्त प्रस्तावों का एकीकरण व संश्लेषण करता है इस संश्लेषण के दौरान योजना विभाग विभिन्न प्रशासकीय विभागों एवं वित्त विभाग के साथ निकट सम्पर्क में रहता है।

पंचम चरण : योजना विभाग द्वारा तैयार पंचवर्षीय योजना का प्रारूप (ड्राफ्ट) राज्य योजना मण्डल (Planning Board) को प्रेषित किया जाता है। इस बोर्ड में योजना के विभिन्न पहलुओं पर राजनीतिज्ञों, प्रशासकों व विषय विशेषज्ञों द्वारा गम्भीर विचार–विमर्श किया जाता है। यदि यह मण्डल उचित समझे तो योजना के प्रारूप में संशोधन कर सकता है।

शष्ठम चरण : योजना के प्रारूप को योजना मण्डल की सिफारिशों सहित मंत्रिमण्डल (केबिनेट) के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इनमें यदि कोई संशोधन करना हो तो उसका संशोधन करके राज्य की केबिनेट द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है।

सप्तम चरण : मंत्रिमण्डल द्वारा सुझाये गये संशोधन सहित योजना प्रारूप (Draft Plan) को राज्य सरकार द्वारा केन्द्र के योजना आयोग (अब नीति आयोग) को प्रेषित किया जाता है। नीति आयोग में राज्य की योजना का विस्तृत विश्लेषण आयोग के कार्यात्मक समूहों (Working Groups) द्वारा किया जाता है। कार्यात्मक समूहों की सिफारिशों को नीति आयोग में ''कार्यक्रम सलाहकार'' के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। कार्यक्रम सलाहकार इसको आयोग के उपाध्यक्ष को प्रेषित कर देता है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि कार्यात्मक समूहों एवं कार्यक्रम सलाहकारों से राज्य के अधिकारियों का निरन्तर सम्पर्क बना रहता है।

अष्टम चरण : अष्टम चरण के अन्तर्गत नीति आयोग के उपाध्यक्ष व राज्य के मुख्यमंत्री के बीच उच्च स्तरीय विचार विमर्श होता है। इसी बैठक में राज्य को नीति आयोग द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता के बारे में भी अन्तिम निर्णय ले लिया जाता है इस प्रकार इस चरण की समाप्ति पर राज्य की पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप प्राप्त होता है।

अन्तिम चरण : नीति आयोग (पूर्व में योजना आयोग) द्वारा राज्य की योजना के प्रारूप (ड्राफ्ट प्लान) को अन्तिम रूप दिये जाने पर राज्य सरकार द्वारा राज्य की पंचवर्षीय योजना के प्रलेख को प्रकाशित किया जाता है। प्रलेख में योजना की विशिष्ट एवं सामान्य जानकारियों का वर्णन होता है। यह प्रलेख विभिन्न विभागों एवं संस्थाओं को उनके विषय से संबंधित योजना के बारे में सूचना देने के लिए भेजा जाता है। इस पर विभिन्न विभाग व संस्थाएं योजना प्रारूप के आधार पर योजना का अन्तिम रूप तैयार करते हैं। यही पंचवर्षीय योजना के निर्माण का अन्तिम चरण है।

वार्षिक योजना का निर्माण :

राज्य की वार्षिक व पंचवर्षीय योजना के निर्माण हेतु नियोजन विभाग उत्तरदायी है। वार्षिक योजनाएं, पंचवर्षीय योजनाओं का ही छोटा भाग होती है, इन्हें वार्षिक बजट के माध्यम से भी समझा जा सकता है। प्रत्येक वार्षिक योजना पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर बनाई जाती है। इस प्रकार एक पंचवर्षीय योजना में पांच वार्षिक योजनाओं का निर्माण होता है। वार्षिक योजना निर्माण के अग्रलिखित चरण है :

प्रथम चरण : इसके अन्तर्गत् आगामी वित्त वर्ष की योजना के निर्माण का कार्य आगामी योजना के शुरू होने के आठ माह पूर्व (अगस्त) से शुरू हो जाता है। इसके अन्तर्गत् योजना विभाग अगस्त माह में ही राज्य के विभिन्न विभागों के साथ समन्वय स्थापित करके उनसे आगामी वित्त वर्ष की आवश्यकताओं एवं साधनों के बारे में पूर्ण ब्यौरा मंगवाता है। इस प्रकार अगस्त माह में विभिन्न प्रशासनिक विभागों द्वारा आवश्यक तथ्यों का संग्रहण कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है। ये विभिन्न जिलों से प्राप्त अपने विषय से संबंधित योजनाओं को ध्यान में रखते हुए, अपने–अपने विभाग की योजनाओं के प्रस्तावों की रचना प्रारम्भ कर देते है।

द्वितीय चरण : सितम्बर माह तक ये सभी प्रस्ताव नियोजन विभाग को प्रेषित कर दिए जाते हैं। इसके बाद विभाग में प्रस्तावों का सम्पादन व संशोधन किया जाता है। इसके अन्तर्गत विभाग भौतिक नियोजन व वित्तीय नियोजन के बीच समन्वय करता है तथा विभिन्न विभागों से विचारोपरान्त अक्टूबर के आरम्भ में आगे के वित्तीय वर्ष की वार्षिक योजना के प्रारूप तैयार करता है।

तृतीय चरण : अक्टूबर में योजना प्रारूप तैयार करके इसे राज्य के मंत्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जो कि आवश्यकता पड़ने पर इसमें संशोधन के लिए आदेश जारी कर सकता है।

चतुर्थ चरण : संशोधित योजना प्रारूप को अक्टूबर के अन्त में ही नीति आयोग के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाता है।

पंचम चरण : नवम्बर व दिसम्बर माह में राजस्थान की योजना के प्रारूप के संबंध में केन्द्रीय नीति आयोग तथा राज्य के

योजना विभाग के बीच काफी विचार–विमर्श होता है तथा राज्य के मंत्री व उच्च लोक सेवक नीति आयोग के समक्ष राज्य योजना के संबंध में अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। इस विचार–विमर्श के दौरान नीति आयोग द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र की आर्थिक एवं वित्तीय स्थिति एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सन्तुलित विकास के लिए राज्य की योजना प्रारूप में कटौती की जाती है अथवा अनेक बार राज्य की मांग पर प्रस्ताव बढ़ा दिये जाते है।

शष्ठम चरण : जनवरी माह के दौरान सामान्यतया नीति आयोग द्वारा राजस्थान की योजना के बारे में अन्तिम निर्णय ले लिया जाता है, जिसका एक प्रमुख पहलू यह देखना होता है कि कितनी वित्तीय सहायता राज्य को प्रदान की जायेगी।

सप्तम चरण : नीति आयोग के निर्णयों से अवगत होने के पश्चात राजस्थान का योजना विभाग राज्य की योजनाओं में आवश्यक संशोधन करता है तथा इस दौरान यदि आवश्यक हो तो संबंधित प्रशासनिक विभागों से उच्च स्तरीय विचार विमर्श भी करता है। इन सभी प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप निर्मित वार्षिक योजनाओं के वित्तीय प्रारूप को मंत्रिमण्डल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिसे सामान्यतया स्वीकार कर लिया जाता है।

अष्ठम चरण : इस चरण में योजना विभाग राज्य के वित्त विभाग एवं प्रशासनिक विभागों से निकट संपर्क बनाये रखता है जिससे विभिन्न विषय क्षेत्रों में राज्य के वित्तीय साधनों का आवंटन सही प्रकार से किया जा सके।

नवम् चरण : इस चरण में वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने के कुछ ही समय पूर्व वार्षिक योजना का अन्तिम प्रलेख प्रकाशित कर दिया जाता है, जिसे सभी संबंधित मंत्रालयों और विभागों को प्रेषित कर दिया जाता है। परन्तु यह प्रकाशन राजस्थान विधान सभा में बजट प्रस्तुत होने के बाद ही किया जाता है जिससे कि योजना के लिए उपलब्ध वित्तीय साधनों के बारे में स्थिति स्पष्ट हो सके।

अन्तिम चरण : अन्तिम चरण में विधानसभा द्वारा बजट पास होने के बाद विभिन्न विभाग अपनी योजना के आधार पर अपने विषय से संबंधित विभिन्न जिला योजनाओं को अन्तिम रूप प्रदान करते है। इन सभी विषयवार योजनाओं के आधार पर प्रत्येक जिला अपनी योजना को समन्वित करता है।

योजना क्रियान्वयन (Implementation of Plan)

पंचवर्षीय योजना एवं वार्षिक योजनाओं के निर्माण एवं उनके स्वीकृत हो जाने के बाद उनका राज्य में क्रियान्वयन किया जाता है। राज्य में योजना के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व राज्य सरकार द्वारा अग्रलिखित चार स्तरों के सहयोग से पूरा किया जाता है :

1. नियोजन विभाग द्वारा
2. सचिवालय स्तर के विभिन्न प्रशासनिक विभागों द्वारा
3. विभिन्न कार्यकारी विभाग, निदेशालय तथा समितियों द्वारा
4. जिला एवं खण्ड स्तर पर योजना की क्रियान्विति।

पंचवर्षीय योजनाओं को वार्षिक योजना में विभाजित करके योजना विभाग द्वारा अपनी देखरेख में योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाता है। सचिवालय स्तर के विभिन्न प्रशासनिक विभाग, योजना विभाग द्वारा सौंपे गये योजना कार्यों को पूरा करते है, इसके लिए समय–समय पर मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक प्रगति प्रतिवेदन योजना विभाग को प्रस्तुत करते हैं। ये प्रतिवेदन भौतिक लक्ष्यों, वित्तीय आवंटन और व्यय, अन्तर्विभागीय समस्याएँ, संस्थागत वित्त निर्माण, साख प्रगति, रोजगार के आँकड़े, प्रशिक्षण और भर्ती आदि की आवश्यकताओं इत्यादि की सूचना उपलब्ध कराते हैं। राज्य की योजना का क्रियान्वयन राज्य के कार्यकारी विभाग व निदेशालय तथा विभिन्न समितियों के माध्यम से किया जाता है। इनमें समन्वय समिति का विशेष महत्व है, जो कि योजना क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह समिति योजना क्रियान्वयन के साथ–साथ योजना समन्वय का भी महत्वपूर्ण कार्य करती है।

योजना का मूल्यांकन (Evaluation of Plan) :

निर्मित योजना का सही ढंग से क्रियान्वयन अत्यन्त आवश्यक है। क्रियान्वयन एवं पुनः सही योजना बन सके इस हेतु मूल्यांकन का महत्वपूर्ण योगदान है। अतः योजना के क्रियान्वयन के पश्चात् विभिन्न विभागों तथा संस्थाओं द्वारा नियमित रूप से योजना की प्रगति का मूल्यांकन किया जाता है। राजस्थान में योजना का सामूहिक मूल्यांकन करने के लिए ''मूल्यांकन संगठन'' की स्थापना की गई है। राज्य का मूल्यांकन संगठन योजनाओं की प्रगति से संबंधित प्रतिवेदन तैयार करता है। यह प्रतिवेदन योजना की विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का विवरण प्रस्तुत करता है। इन प्रतिवेदनों के आधार पर नियोजन निष्पादन की त्रुटियों को सुधारा जा सकता है।

योजना मण्डल (Planning Board) :

भारत में संविधान लागू होने के समय तक राज्य स्तर पर नियोजन तंत्र को सशक्त बनाने के लिए कोई सुनियोजित कदम नहीं उठाये गये थे। उस समय के योजना आयोग ने सन् 1962 में राज्यों को परामर्श दिया कि योजना आयोग की भांति ही प्रत्येक राज्य में योजना मण्डल स्थापित किया जाए जो राज्य में योजना की दिशा में मुख्य नीति–निर्धारण कार्य करे और योजना क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का भी समाधान करे। आयोग ने राज्य योजना मण्डल के सम्बन्ध में जो सुझाव दिया उसके अनुसार योजना मण्डल का अध्यक्ष मुख्यमंत्री और वित्तमंत्री उसका सदस्य हो। केन्द्रीय योजना आयोग की भाँति ही राज्य योजना मण्डल में भी दो–तीन पूर्णकालिक सदस्य हों जिन्हें राज्य की आर्थिक समस्याओं और योजना के बारे में पर्याप्त अनुभव हों। आयोग का विचार था कि राज्य योजना मण्डल राज्य योजना विभाग की तुलना में नियोजन समस्याओं का अधिक सफलतापूर्वक समाधान कर सकेगा, चूंकि ये मण्डल विशेषज्ञ प्रकृति के होंगे।

योजना आयोग की भाँति प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग और उसके अध्ययन दल (1967) ने भी राज्य योजना मण्डलों की स्थापना का परामर्श दिया। राजस्थान में 1963 में राजस्थान की प्रशासनिक सुधार समिति (हरिश्चन्द्र माथुर समिति) ने भी **राज्य आयोजना तथा विकास आयोग** के नाम से ऐसी ही संस्था गठित करने का सुझाव दिया। राजस्थान में

1973 में योजना मण्डल की स्थापना की गई।

योजना मण्डल : उद्देश्य

योजनाएँ विकास प्रशासन से सम्बन्धित होती है। विकास प्रशासन वह प्रशासन है जो विकास के कार्यों में लगा हुआ है। विकास की प्रकृति विशेषज्ञता लिए हुए होती है अतः योजनाओं के कुशलतापूर्वक निर्माण क्रियान्वयन व मूल्यांकन में विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राजस्थान राज्य में योजना मण्डल का गठन किया गया है। इसके प्रमुख उद्देश्य अग्रलिखित है :

1.योजनाओं का निर्माण तथा क्रियान्वयन जटिल कार्य है अतः विशेषज्ञों से युक्त सशक्त निकाय आवश्यक है।

2 .योजनाओं में स्थायित्व तथा राजनीतिक प्रभाव में कमी हेतु मण्डल की स्थापना की आवश्यकता है।

3. नियोजन विभाग, राज्य सरकारों के परम्परागत नौकरशाही के संगठन हैं जबकि योजना मंडल एक स्वतंत्र निकाय होगा।

4. वर्तमान नियोजन तंत्र उपलब्ध साधनों की क्षमता का मूल्यांकन कर पाने में पूर्ण सक्षम नहीं है।

5. योजना आयोग की तरह राज्यों में योजना मण्डल बनने से केन्द्र राज्य सामंजस्य सुदृढ़ बनेगा।

6. योजना मण्डल नियोजन कार्यक्रमों की प्राथमिकता के निर्धारण में तर्क–संगत वितरण कर पाने में सक्षम होगा।

उपर्युक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ही राजस्थान में राज्य आयोजन मण्डल (State Planning Board) की स्थापना की गई। यह मण्डल आधारभूत रूप से एक परामर्शदात्री निकाय है जो सरकार को नियोजन के मामलों में सलाह देता हैं।

राज्य योजना मण्डल का संगठन (Organization of State Planning Board):

योजना मण्डल की संरचना किस प्रकार की हो, इस संबंध में समय–समय पर विभिन्न सुझाव दिये गये हैं। भारतीय योजना आयोग का सुझाव था कि इस मण्डल का अध्यक्ष राज्य का मुख्यमंत्री होना चाहिए तथा वित्तमंत्री, योजना राज्यमंत्री तथा योजना विशेषज्ञ इसके सदस्य होने चाहिए।

सामान्यतः राजस्थान में योजना मण्डल की संरचना निम्नलिखित चार्ट के अनुरूप रही है।

स्थापना के समय राज्य योजना मण्डल के संगठन में अध्यक्ष (मुख्यमंत्री) एक उपाध्यक्ष (वित्त एवं योजना मंत्री) तथा 17 अन्य सदस्य थे। सदस्यों में 4 क्षेत्रीय विशेषज्ञ, एक संसद सदस्य, दो विधानसभा सदस्य तथा 3 प्रशासकीय सदस्य (मुख्य सचिव, कृषि उत्पाद सचिव, नियोजक सचिव) थे।

उसके पश्चात् इस मण्डल की 25 जून, 1973 को प्रथम बैठक तथा 4 सितम्बर, 1975 को द्वितीय बैठक हुई। लम्बे समय तक निष्क्रिय रहे इस मण्डल को 1978, 1988, 1990, 1994, 1997 तथा 1999 में बार–बार पुनर्गठित किया जाता रहा है। इस प्रकार विशेषज्ञ सदस्यों की संख्या लगभग 20 तक पहुंच गई तथा राज्य आयोजना मण्डल का आकार 40 से 65 सदस्यों से युक्त एक निष्क्रिय समिति जैसा होता चला गया।

राज्य योजना मण्डल को प्रभावी बनाने के लिए राजस्थान सरकार ने सन् 1996 में केरल, कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेश राज्यों के राज्य योजना आयोगों का अध्ययन करवाया तथा यह निष्चय किया गया कि राज्य योजना मण्डल का आकार छोटा किया जाए तथा इसमें पूर्णकालिक उपाध्यक्ष पद सृजित किया जाए। इस प्रकार राज्य योजना मण्डल का अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। राष्ट्रपति शासन के दौरान यह दायित्व राज्यपाल निभाता है। राज्यपाल यह कार्य किसी सलाहकार या मुख्य सचिव के माध्यम से करता है। कुछ राज्यों में उपाध्यक्ष का पद राज्य के वित्तमंत्री या योजना मंत्री द्वारा धारण किया जाता हैं। कुछ राज्यों में विशेषज्ञ सदस्य को यह पद दिया जाता है। सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं हैं राज्य योजना मण्डल की स्थापना से लकर आज तक योजना विभाग ही मण्डल के सचिवालय के रूप में कार्य करता रहा है।

सामान्यतः राजस्थान सहित अधिकांश राज्यों में राज्य योजना मण्डल सुनियोजित तरीके से योजना कार्य नहीं कर रहे हैं और न ही इनकी नियमित बैठकें हो रही है। राज्य योजना मण्डल के पास स्थायी रूप से पृथक प्रशासनिक संरचना तथा सचिवालय नहीं होता है, बल्कि राज्य योजना विभाग का एक ग्रुप इस कार्य में सहयोग देता है। राज्य योजना मण्डल अपने दायित्वों के निर्वहन हेतु बहुधा कुछ कार्य दलों या समितियों का निर्माण कर लेते है।

आयोजना मण्डल के कार्य (Functions of Planning Board) :

केन्द्रीय योजना आयोग के सुझाव के अनुसार अनेक राज्य सरकारों ने राज्य योजना मण्डलों का गठन किया। कतिपय राज्यों में इनका नामकरण भी भिन्न–भिन्न रखा गया। राज्य योजना मण्डल के कार्यों के संबंध में अभी तक

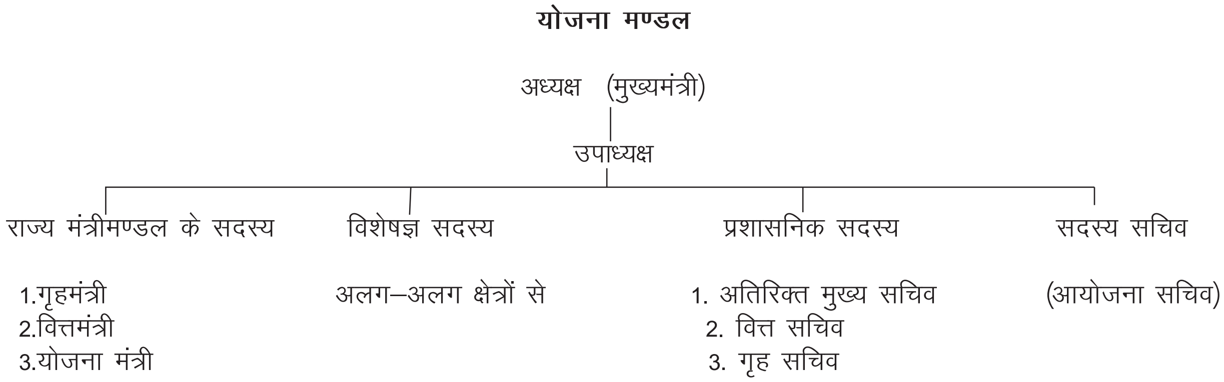

मतैक्य स्थापित नहीं हो पाया है। राजस्थान सरकार द्वारा गठित हरिश्चन्द्र माथुर समिति ने मण्डल के कार्य इस प्रकार प्रस्तावित किये थे :

1. दूरगामी योजना तथा योजना निर्माण अध्ययन क्रम में मंत्रिमण्डल को परामर्श देना।
2. आवश्यकता होने पर योजना का पुनर्निर्धारण या स्पष्टीकरण करना।
3. पंचायतीराज संस्थाओं को अनुदान देने के क्रम में वित्त आयोग जैसी भूमिका निभाना।
4. राज्य के पिछड़े क्षेत्रों के विकास हेतु विशेष ध्यान देना।
5. विभिन्न देशों तथा भारत के राज्यों के राज्य स्तरीय नियोजन तंत्र की विशेषताओं का अध्ययन करना जिससे राजस्थान राज्य भी लाभान्वित हो सके।
6. योजना कार्यक्रमों की प्रगति के क्रम में सतत् निगरानी रखना, प्रतिवेदन करना तथा मण्डल की जानकारी में कमियां आते ही चेतावनी देना और यदि आवश्यक हो तो दौरे करना।
7. राजस्थान नहर क्षेत्र के सामाजिक–आर्थिक नियोजन का विशेष ध्यान रखना।
8. राज्य में लोक उपक्रमों के नियोजन तथा प्रगति को निर्देशित करना।
9. विकास परियोजनाओं विशेषतः लाभार्जन करने वाली योजनाओं की नियमित निगरानी रखना।
10. योजनाओं के निर्माण तथा पुनर्निर्धारण में राष्ट्रीय विकास परिषद् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना।

इस प्रकार राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति ने राज्य योजना मण्डल के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त व्यापक तथा महत्वपूर्ण माना था जिससे राज्य का विकास प्रभावी ढंग से हो सके। दूसरी ओर प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1967 में यह पाया कि इन राज्य योजना मण्डलों के कार्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है तथा उनकी प्रगति भी संतोषजनक नहीं रही है। अतः प्रशासनिक सुधार ने अपनी सिफारिशों में राज्य योजना मण्डलों के अग्रांकित कार्य सुझाये हैं

1. राज्य के संसाधनों का आंकलन करना तथा इसके प्रभावी एवं संतुलित उपयोग के लिए योजनाओं का निर्माण करना।
2. राष्ट्रीय योजनाओं की प्राथमिकताओं के दायरे में राज्य की प्राथमिकताओं का निर्धारण करना।
3. योजना कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की प्रगति की समीक्षा करना तथा नीतियों एवं कार्यक्रमों के मध्य संतुलन स्थापित करना।
4. जिला–स्तरीय अधिकारियों को उन क्षेत्रों में विकास योजनाएं बनाने में सहायता प्रदान करना। तथा उनका राज्य योजनाओं के साथ समन्वय स्थापित करना।
5. राज्य के आर्थिक तथा सामाजिक विकास में बाधक कारकों का पता लगाना तथा योजनाओं के सफल क्रियान्वयन हेतु आवश्यक स्थितियों का खुलासा करना।

राज्य सरकार ने सन् 1973 में राज्य योजना मण्डल की स्थापना करते हुए निम्नांकित कार्य निर्धारित किये थे :

1. राजस्थान के स्थायी विकास हेतु दीर्घकालीन योजना के स्वरूप में परामर्श देना।
2. विकास हेतु नीति निर्धारण करना।
3. राष्ट्रीय योजना के दायरे के अन्तर्गत् उपलब्ध वैज्ञानिक एवं आर्थिक आंकड़ों को ध्यान में रखते हुए राज्य योजना में क्षेत्रवार प्राथमिकताओं का निर्धारण करना।
4. परियोजना निर्माण तथा आँकड़ा एकत्रण हेतु आर्थिक अध्ययनों को शुरू करना,
5. योजना के निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन में परामर्श प्रदान करना,
6. विशेष पिछड़े हुये क्षेत्रों हेतु क्षेत्रीय विकास योजनाओं एवं जिला योजनाओं के कार्यक्रमों को निर्देशित करना
7. योजना–कार्यक्रमों की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा आवश्यकता होने पर सुधारात्मक कदम सुझाना,
8. योजना विभाग, जिला योजना समितियों तथा योजना आयोग के साथ समन्वय स्थापित करना।
9. राज्य में आधारभूत ढांचे के पिछड़ेपन को देखते हुये आधारभूत सुविधाओं हेतु विकास योजनाएं, जिसमें सरकारी तथा गैर सरकारी निवेश हेतु परामर्श देना।

इस प्रकार राज्य योजना मण्डल से उसी प्रकार की भूमिका की अपेक्षा राज्य में की गई है जैसी भूमिका केन्द्रीय योजना आयोग, राष्ट्रीय स्तर पर निर्वाहित करता रहा है, किन्तु विगत 43 वर्ष (वर्ष 1973 से) का अनुभव यह सिद्ध करता है कि राज्यों के योजना मण्डल बहुत सारी न्यूनताओं तथा विसंगतियों से ग्रस्त रहे हैं। सम्पूर्ण देश में गठित राज्य योजना मण्डलों की संरचना तथा कार्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, न ही इनकी कार्यप्रणाली में एकरूपता पायी जाती है। इनका आकार भी प्रायः बड़ा रहा है। राजस्थान में तो इसमें कई बार 60–65 सदस्य रहे है तो पश्चिम बंगाल तथा केरल में यह संख्या 25–30 की रही है। इस व्यापक आकार के कारण न तो मण्डल समय पर बैठक कर पाते हैं न ही कोई सार्थक बहस होती है। मण्डल के उपाध्यक्ष तथा सदस्यों के सम्बन्ध में भी एकरूपता नहीं है। कभी सदस्य अंशकालिक तो कभी पूर्णकालिक रखे जाते है। कभी उपाध्यक्ष को केबिनेट मंत्री का दर्जा दिया जाता है तो कभी नहीं। यह सब सत्तारूढ़ दल के मुख्यमंत्री की इच्छा पर निर्भर करता है। अधिकांश राज्यों में राज्य योजना मण्डल का पृथक से सचिवालय (कार्यालय) तथा प्रशासनिक तंत्र नहीं है बल्कि मंडल को राज्य योजना विभाग से ही सचिवालयीय सहायता मिलती रही है। राज्य योजना मण्डल के सदस्यों के मध्य स्पष्ट कार्य–विभाजन नहीं पाया जाता है अतः कहा जा सकता है कि इन मण्डलों में सामूहिकता का बोलबाला है। कटु सत्य यह भी है कि सभी की जिम्मेदारी, किसी की जिम्मेदारी नहीं होती। स्पष्ट है इससे योजना कार्य विपरीत रूप में प्रभावित होता है।

वास्तविकता में राज्य योजना मण्डल को केन्द्रीय नीति आयोग जैसा स्तर देने तथा वैसी भूमिका सुनिश्चित करने में किंचित व्यावहारिक बाधाएं है। केन्द्रीय स्तर पर योजना आयोग (अब नीति आयोग) ही योजना मंत्रालय की भूमिका निभाता आया है जबकि राज्यों में योजना विभाग की भूमिका प्राथमिक बनी हुई है। दूसरा चिन्तन का बिन्दु यह है कि योजना निर्माण तथा स्वीकृति का कार्य अधिकांशतः केन्द्रीय स्तर पर हो जाता है अतः राज्यों की भूमिका सीमित हो जाती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि अब निर्देशात्मक नियोजन का समय बीत गया है तथा उदारीकरण, वैश्वीकरण

एवं निजीकरण के युग में संकेतात्मक नियोजन (Indicative Planning) का प्रचलन बढ़ा है। ऐसे में राजस्थान के आयोजना मण्डल के दायित्वों एवं संरचना में भी शीघ्र आवश्यकतानुसार सुधार हो सकते है। यद्यपि राजस्थान में विभिन्न सरकारें आयोजन मण्डल में कतिपय परिवर्तन लाती रही है। केन्द्र सरकार ने इसी परिप्रेक्ष्य में योजना आयोग की जगह 1 जनवरी, 2015 से नीति आयोग का गठन कर दिया है। संभवतः विभिन्न राज्य सरकारे भी केन्द्र सरकार के नीति आयोग की तर्ज पर अपने–अपने आयोजना मण्डल में सुधार करे जिससे ये ज्यादा प्रभावशाली बन सके।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. स्वतंत्रता के समय राज्य में केवल 8.5 प्रतिशत साक्षरता थी, पिछड़ी हुई कृषि प्रणाली थी, राज्य के दो तिहाई क्षेत्र में मरूस्थल था, पेयजल की अनुपलब्धता थी। खनिजों के खनन का कार्य अत्यन्त सीमित था।
2. राजस्थान में नियोजन विभाग अलग–अलग ग्रुप में बंटा है। प्रत्येक ग्रुप किसी विशिष्ट उत्तरदायित्व का निर्वहन करता है।
3. भारतीय प्रशासन में एक संघात्मक व्यवस्था है जिसके अनुसार योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन का दायित्व केन्द्र के साथ–साथ राज्यों पर भी है।
4. राजस्थान में योजना विभाग की स्थापना सर्वप्रथम मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में जुलाई, 1953 में की गई थी।
5. सन् 1967 तक राजस्थान राज्य में योजना के लिए योजना विभाग ही उत्तरदायी था। यह विभाग मुख्यमंत्री अथवा वित्तमंत्री के अधिकार क्षेत्र में रहता था और राज्य का मुख्य सचिव ही इस विभाग का सचिव हुआ करता था।
6. राज्य योजना विभाग के अधीन आर्थिक एवं सांख्यिकी निदेशालय, जनशक्ति एवं गजेटियर्स निदेशालय तथा मूल्यांकन संगठन कार्यकारी संगठनों के रूप में कार्यरत है तथापि ये योजना के सहायक अभिकरण ही है, योजना विभाग के प्रत्यक्ष कार्यकारी निकाय नहीं है।
7. राज्य योजना विभाग सचिवालय स्तर पर विकास कार्यक्रमों, योजनाओं के निर्माण एवं समन्वय के लिए मुख्य उत्तरदायी संस्था है।
8. राज्य योजना विभाग राज्य के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए पंचवर्षीय एवं वार्षिक योजनाओं का निर्माण करता है।
9. केन्द्रीय योजना आयोग की भांति ही प्रशासनिक सुधार आयोग ने 1967 में राज्य आयोजन मण्डलों की स्थापना का परामर्श दिया था।
10. सन् 1963 में राजस्थान की प्रशासनिक सुधार समिति ने राजस्थान में योजना मण्डल का नाम राज्य योजना तथा विकास आयोग सुझाया था। जबकि प्रशासनिक सुधार आयोग ने इसका नाम राज्य योजना मण्डल रखा था।
11. राजस्थान में राज्य योजना मण्डल की स्थापना 6 फरवरी, 1973 को हुई थी। फरवरी, 1997 को राजस्थान सरकार ने योजना मण्डल को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से मंत्रिमण्डलीय समिति के आदेश द्वारा पुनर्गठित करने का प्रयास किया।
12. राज्य योजना मण्डल से उसी प्रकार की भूमिका की अपेक्षा की गई है जैसी भूमिका केन्द्रीय योजना आयोग राष्ट्रीय स्तर पर निर्वाह करता किन्तु विगत चार दशकों के अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि राज्यों के योजना मण्डल बहुत सारी न्यूनताओं तथा विसंगतियों से ग्रस्त रहे हैं।
13. वर्तमान में राज्य में 12वीं पंचवर्षीय योजना (2012–2017) का क्रियान्वयन हो रहा है।
14. उदारीकरण, वैश्वीकरण एवं निजीकरण के युग में संकेतात्मक नियोजन (Indicative Planning) का प्रचलन बढ़ा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. राजस्थान में नियोजन विभाग की स्थापना कब हुई ?

(अ) 1953 (ब) 1973 (स) 1950 (द) 1952

2. राज्य नियोजन विभाग की स्थापना किसकी अध्यक्षता में की गई ?

(अ) राज्यपाल (ब) प्रधानमंत्री
(स) मुख्यमंत्री (द) मुख्य सचिव

3. राज्य नियोजन विभाग का कार्य है ।

(अ) वार्षिक योजनाओं का निर्माण
(ब) पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण
(स) योजना हेतु वित्तीय संसाधनों का प्रबन्ध
(द) उपर्युक्त सभी

4. राज्य नियोजन विभाग के क्रिया–कलापों का संचालन किसके द्वारा किया जाता है ?

(अ) राज्यपाल (ब) राज्य नियोजन मंत्री
(स) मुख्य सचिव (द) गृहमंत्री

5. राज्य नियोजन विभाग से संलग्न अभिकरण हैं ?

(अ) आर्थिक एवं सांख्यिकी निदेशालय
(ब) मूल्यांकन संगठन
(स) जनशक्ति एवं गजेटियर्स निदेशालय
(द) उपर्युक्त सभी

6. राजस्थान में आयोजना मण्डल की स्थापना कब हुई ?

(अ) 6 फरवरी, 1973 (ब) 15 जुलाई, 1953
(स) 15 मार्च, 1950 (द) 6 अगस्त, 1952

7. राज्य योजना मण्डल के अध्यक्ष होते है :

(अ) मुख्यमंत्री (ब) राज्यपाल
(स) वित्तमंत्री (द) मुख्य सचिव

8. राजस्थान में योजना मण्डल एक –
(अ) आदेशात्मक निकाय है
(ब) परामर्शदात्री निकाय है
(स) परामर्शदात्री निकाय नहीं है
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं है

9. प्रशासनिक सुधार आयोग ने राज्य योजना मण्डलों की स्थापना का सुझाव दिया था ।
(अ) 1963 (ब) 1967
(स) 1988 (द) 1997

10. राजस्थान की प्रशासनिक सुधार समिति ने राज्य योजना मण्डल का नाम सुझाया था ।
(अ) राज्य योजना मण्डल
(ब) मूल्यांकन आयोग
(स) राज्य योजना तथा विकास आयोग
(द) उपर्युक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. राजस्थान में योजना विभाग की स्थापना सर्वप्रथम कब की गयी थी ?
2. राज्य योजना विभाग का प्रमुख कार्य क्या है ?
3. सामान्यतः योजना विभाग का अध्यक्ष कौन होता है ?
4. राज्य योजना विभाग के अधीन कौन–कौन से संगठन कार्यरत हैं ?
5. राज्य की योजनाएं किस की देखरेख में तैयार की जाती है ?
6. राजस्थान में राज्य योजना मण्डल का गठन पहली बार कब किया गया था ?
7. राज्य योजना मण्डल का अध्यक्ष कौन होता है ?
8. राजस्थान में योजना मण्डल किस प्रकृति का निकाय है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. राजस्थान में नियोजन की आवश्यकता क्यों महसूस हुई?
2. राज्य स्तर के योजना तंत्र से आप क्या समझते हैं?
3. राज्य में योजना विभाग की स्थापना किस उद्देश्य से की गई थी ?
4. संक्षेप में योजना विभाग के संगठन एवं कार्यप्रणाली के विकास को लिखिये।
5. योजना विभाग के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिये।
6. योजना विभाग के संगठन का संक्षेप वर्णन कीजिये।
7. राज्य योजना मण्डल के संदर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों को लिखिए।
8. राज्य योजना मण्डल की स्थापना के उद्देश्यों को लिखिए।

निबंधात्मक प्रश्न :

1. योजना विभाग के अधीन कार्यरत संगठनों का वर्णन कीजिये।
2. योजना विभाग के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. राजस्थान राज्य में निर्धारित योजना प्रक्रिया का वर्णन कीजिये।
4. राज्य योजना मण्डल के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।
5. नियोजन को समझाते हुए राजस्थान में नियोजन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

उत्तरमाला :

1. (अ)	2. (स)	3. (द)
4. (ब)	5. (द)	6. (अ)
7. (अ)	8. (ब)	9. (ब)
10. (स)		

अध्याय–18
जिला आयोजना समिति
(District Planning Committee)

भारत में आर्थिक सुधारों को अपनाए लगभग ढाई दशक व्यतीत हो गया है। नई आर्थिक व्यवस्था के साथ ही पुराने एवं समाजवादी प्रतिमान की केन्द्रीयकृत नियोजन प्रणाली में भी कमियां सामने आने लगी। स्थानीय स्वशासन एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के सफल संचालन हेतु पारम्परिक नियोजन प्रणाली में परिवर्तन लाने हेतु दबाव बढ़ा। प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण हेतु जिला नियोजन एवं खण्ड स्तरीय नियोजन पर जोर दिया गया। मूलतः भारतीय संविधान में संघ सरकार (केन्द्र) तथा राज्यों के मध्य विधायी एवं वित्तीय शक्तियों के वितरण का प्रावधान है। लेकिन संविधान में जिलों के लिए पृथक से कोई राजनीतिक प्राधिकार की व्यवस्था नहीं की गई है, जो जिला नियोजन की उपयुक्तता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। संविधान के 73 वें एवं 74 वें संशोधन जिनका सम्बन्ध क्रमशः पंचायती राज एवं नगरीय निकायों से है, के माध्यम से पहली बार संवैधानिक रूप से इन संस्थाओं को कार्य करने हेतु विषय आंवटित किए गए है। ये संस्थाएं इन विषयों के प्रभावशाली क्रियान्वयन हेतु योजनाओं का निर्माण कर सकती है। जिला एवं इससे निचले स्तरों पर नियोजन इस देश में प्रजातंत्र को मजबूत करने की प्रक्रिया में आवश्यक तत्व के रूप में देखे गए है। इससे सामाजिक–आर्थिक न्याय प्राप्ति की दिशा में प्रगति होना सम्भव होगा। एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय (Social Justice) की बुनियाद सभी मनुष्यों (सभी जातियों एवं वर्गों) को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। इसके अनुसार किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। आर्थिक न्याय (Economic Justice) से अभिप्राय है कि देश की कुल सम्पदा का न्यायपूर्ण वितरण हो तथा देश से गरीबी एवं आमजन से जुड़ी अन्य आर्थिक समस्याओं का विधिवत निपटारा हो।

यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति से ही देश में नियोजन प्रक्रिया के लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में सीमित रूप से प्रयास किये गये है। मुख्यतः लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा से तात्पर्य योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में जनता की भागीदारी एवं सम्बद्धता है। इस प्रकार की योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय स्तर पर, राज्य स्तर पर तथा उससे नीचे जिला, खण्ड एवं ग्राम स्तरों पर नियोजन होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त नियोजन तंत्र की स्थापना किये जाने की आवश्यकता है। नियोजन के इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न स्तरों पर योजना संबंधी जानकारी स्पष्ट तथा उचित प्रकार से दी जाये तथा नियोजन के विभिन्न स्तरों के बीच निकट सम्पर्क सूत्र स्थापित किये जायें। इसके अतिरिक्त चूंकि आर्थिक मामलों पर निर्णय लेने की योग्यता तथा शक्ति नियोजन का एक अत्यावश्यक भाग है, अतः लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में राजनीतिक, प्रशासनिक तथा वित्तीय शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा अन्तर्निहित है।

हमारे देश में जिस प्रकार से प्रशासन के लिए संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है, उसी प्रकार से आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में भी संघीय आर्थिक प्रणाली को अपनाया गया है। हमारे देश में बहुस्तरीय नियोजन प्रणाली को उपयुक्त माना गया है जिससे केन्द्रीय नियोजन तथा विकेन्द्रीकृत नियोजन दोनों के लाभ प्राप्त हो सके। देश में सभी लोगों को आर्थिक योजनाओं एवं कार्यक्रमों का लाभ पहुँचाने के लिए जिला नियोजन व्यवस्था को अपनाया गया है।

जिला स्तरीय नियोजन के अन्तर्गत् एक जिले को नियोजन इकाई माना जाता है। जिलों को विभिन्न खण्डों में विभक्त किया जाता है और खण्डों को भी नियोजन की इकाई माना जाता है। प्रो. डी.आर.गाडगिल के अनुसार नियोजन प्रक्रिया में जिला अन्तिम एवं महत्वपूर्ण इकाई होता है और नियोजन की सफलता में जिला स्तरीय नियोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिला स्तरीय नियोजन के अन्तर्गत जिले में चलाये जाने वाले विकास कार्यक्रमों की योजना बनायी जाती है। सामान्यतया कृषि, लघु सिंचाई, भूमि सुधार, डेयरी विकास, पशुपालन, ग्रामीण जल आपूर्ति, बाँध निर्माण, उद्योग आदि के बारे में जिला स्तरीय नियोजन के अन्तर्गत कार्यक्रम तैयार किये जाते है।

जिला नियोजन की प्रकृति (Nature of District Plannning) :

जिला नियोजन प्रत्येक जिले में तैयार किया जाने वाला एक ऐसा अभिलेख है जो इस बात की जानकारी देता है कि जिले में वर्तमान में क्या–क्या संसाधन उपलब्ध है, जिले की क्या क्षमताएँ हैं, क्या–क्या आवश्यकताएँ हैं तथा एक निर्धारित अवधि में उपलब्ध वित्तीय एवं भौतिक संसाधनों से प्राथमिकता के आधार पर जिले में क्या–क्या विकास कार्य कराये जायेंगे तथा सेवाएं उपलब्ध कराई जायेगी। जिला नियोजन की प्रकृति अथवा विशेषताओं को अग्रलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

1. जिला नियोजन विकेन्द्रीकृत नियोजन का स्वरूप होता है।
2. जिला नियोजन में नगरीय व ग्रामीण संस्थाओं द्वारा निर्मित योजनाएँ सम्मिलित होती हैं।
3. जिला नियोजन सम्पूर्ण राज्य की योजनाओं का अंग होता है।

4. जिला स्तरीय नियोजन के लिए एक जिले को नियोजन इकाई माना जाता है तथा जिले के आर्थिक विकास के लिए योजना बनायी जाती है।
5. जिला नियोजन की आवश्यकता उस समय होती है जब देश में बहुस्तरीय आर्थिक नियोजन प्रणाली को अपनाया जाता है।
6. जिला नियोजन के लिए वित्तीय संसाधनों की प्राप्ति राज्य सरकार से हाती है तथा केन्द्रीय पोषित योजनाओं एवं कार्यक्रमों के लिए धनराशि भी राज्य सरकार के माध्यम से प्राप्त होती है।
7. जिला नियोजन के लिए नीति निर्धारण तथा मार्गदर्शन का कार्य राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। राज्य सरकार के योजना विभाग के निर्देशानुसार ही जिला नियोजन किया जाता है।
8. जिला नियोजन में ग्रामीण विकास, कृषि विकास, पशुपालन, डेयरी विकास, महिला एवं बाल विकास, शिक्षा प्रसार एवं साक्षरता तथा ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि के लिए विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये जाते है।

जिला नियोजन के उद्देश्य (Objectives of District Planning):

जिला नियोजन स्थानीय स्तर से सम्बन्धित होता है। इसके उद्देश्य बहुआयामी होते है। जिला स्तरीय नियोजन में एक जिले में उपलब्ध वित्तीय, भौतिक एवं प्राकृतिक साधनों का पूरा–पूरा उपयोग करना होता है। इसके माध्यम से देश एवं राज्यों में व्याप्त क्षेत्रीय विषमताओं को समाप्त करना आसान हो जाता है। जिला स्तरीय नियोजन से योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन में जन–भागीदारी को बढ़ावा मिलता है, जिससे कुशलता बढ़ती है। समाज के पिछड़े हुए वर्गों तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के विकास को तेज गति प्रदान किया जा सकता है। जिला स्तरीय नियोजन से विभिन्न विकास कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित हो जाता है। इसके माध्यम से गरीबी की रेखा से नीचे (Below Poverty Line) जीवन–यापन करने वाले लोगों के लिए विकास कार्यक्रम बनाए जा सकते है। जिले में स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय नियोजन के लक्ष्यों के अनुरूप कार्यक्रम तैयार करने में सुविधा रहती है। इससे क्षेत्रीय अनुभवों के आधार पर व्यावहारिक योजनाएँ तैयार करना सरल हो जाता है। जिले की क्षमताओं की पहचान करने का यह सशक्त साधन होती है। विकेन्द्रीकृत नियोजन से जिले की समस्याओं एवं स्थानीय संसाधनों के उपयोग के उद्देश्य से योजनाएँ तैयार करने में तथा जिले की आवश्यकताओं एवं अभावों की प्राथमिकतायें निर्धारित करने में सुविधा रहती है।

जिला नियोजन का क्षेत्र (Scope of District Planning) :

जिला हमारे देश की प्रशासनिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी होता है। केन्द्रीय व राज्य स्तरीय योजनाओं का वास्तविक क्रियान्वयन जिला स्तर पर ही किया जाता है। अतः जिला नियोजन का निर्माण एवं क्रियान्वयन जितना सही एवं प्रभावी होता है, केन्द्रीय व राज्य स्तरीय नियोजन उतना ही सफल रहता है। जिला नियोजन में सम्मिलित किये जाने वाले कार्यक्रमों एवं गतिविधियों में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में परिवर्तन होता रहा है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में जिला नियोजन में सम्मिलित किए जाने वाले कार्यक्रमों के आधार पर हम जिला नियोजन के क्षेत्र को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट कर सकते है :

1. पशुपालन एवं डेयरी विकास
2. महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम
3. शिक्षा प्रसार कार्यक्रम
4. समाज कल्याण कार्यक्रम
5. सहकारिता का विकास
6. पेयजल आपूर्ति योजनाएँ
7. भूमि सुधार एवं लघु सिंचाई योजनाएँ
8. सघन कृषि कार्यक्रम
9. ग्रामीण उद्योगों का विकास
10. परिवार कल्याण कार्यक्रम
11. पिछड़े वर्गों के विकास के लिए आर्थिक कार्यक्रम
12. साक्षरता कार्यक्रम
13. ग्रामीण सड़कों का निर्माण
14. आवास सुविधाओं के विकास हेतु कार्यक्रम
15. ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यक्रम
16. स्वास्थ्य तथा साफ–सफाई, अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य तथा औषधालय
17. सार्वजनिक वितरण प्रणाली
18. सामुदायिक परिसम्पत्तियों का रख रखाव
19. सामाजिक वानिकी तथा कृषि वानिकी

जिला आयोजना समिति (District Planning Committee) :

लोक प्रशासन के विद्यार्थी होने के नाते आपको देश में जिला स्तरीय नियोजन का संक्षिप्त इतिहास एवं विकास की जानकारी होना आवश्यक है। ब्रिटिश शासन काल में इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई थी। स्वतंत्रता के समय देश गंभीर रूप से पिछड़ा हुआ था। हमारे देश में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करने हेतु आयोजना प्रकिया का प्रादुर्भाव 1934 में हुआ, जब सर एम.विश्वेश्वरैया ने अपनी पुस्तक ''प्लाण्ड इकॉनामी फॉर इण्डिया'' प्रकाशित करवाई। स्वतंत्रता के पश्चात राष्ट्रीय स्तर पर नियोजन विकास की अवधारणा का शुभारम्भ 1950 में योजना आयोग की स्थापना के साथ हुआ। प्रथम योजना के साथ ही वर्ष 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम लागू कर ग्रामीण विकास के नए आयाम स्थापित किए गये साथ ही 1956 में राष्ट्रीय प्रसार सेवा कार्यक्रम भी लागू किया गया।

इस अनुभव के आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल (1956–1961) में जिला एवं त्रिस्तरीय पंचायती राज ढांचे की स्थापना पर बल दिया गया एवं ग्रामीण क्षेत्रों में एकीकृत सामाजिक संरचना के लिए पंचायतों के माध्यम से कार्य करने के प्रयास भी किये गये। इसी दौरान सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की कारगर भूमिका निर्धारण करने हेतु 1957 में बलवन्त राय मेहता कमेटी का गठन किया गया। कमेटी ने अपने विस्तृत प्रतिवेदन में पंचायतीराज के त्रिस्तरीय ढांचे की स्थापना करने

के साथ ही साथ विकेन्द्रीकृत नियोजन हेतु संस्तुति की एवं प्रान्त स्तर से नीचे जिले को एक सशक्त स्तर व शासन तंत्र की सक्षम इकाई बनाकर कार्यों एवं अधिकारों के हस्तातंरण पर बल दिया। विकेन्द्रीकृत नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ करने हेतु योजना आयोग द्वारा सितम्बर, 1969 में मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रसारित कर सभी राज्यों को जिला नियोजन कार्य प्रारम्भ करने के निर्देश दे दिए थे, लेकिन प्रारम्भ में इसे मूर्त रूप देने में अधिकतर राज्यों के उत्साह में कमी दृष्टिगत हुई।

पंचायतीराज का मूल्यांकन करने एवं इस प्रणाली को अधिक कारगर बनाने के लिए सुझाव देने हेतु केन्द्र सरकार द्वारा अशोक मेहता समिति का दिसम्बर 1977 में गठन किया। इस समिति द्वारा अगस्त, 1978 में प्रस्तुत अपने विस्तृत प्रतिवेदन में ढाँचागत सुधार एवं अन्य सिफारिशों के साथ विकेन्द्रीकृत आयोजना पर अधिकाधिक बल देते हुए स्पष्ट किया कि–

1. जिला स्तर योजना निर्माण के लिए व्यावसायिक दृष्टि से योग्यता धारक एक सक्षम दल के गठन का सुझाव दिया, जिसमें सभी आवश्यक विशेषज्ञ भी सम्मिलित किये जाए।
2. जिला स्तर से नीचे विकेन्द्रीकृत प्रणाली का कारगर ढंग से नियोजन एवं क्रियान्वयन कार्य के सम्पादन को आवश्यक बतलाते हुए आधार स्तर की पंचायतों पर मण्डल पंचायत के नाम से गठित करने की संस्तुति की गई।

एम.एल.दांतेवाला (1977) की अध्यक्षता में एक और कार्यकारी दल नियुक्त किया गया, जिसे ब्लॉक स्तरीय आयोजना के लिए मार्गदर्शिका तैयार करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। कार्यकारी दल द्वारा अपने प्रतिवेदन में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए थे जो निम्नलिखित है :

1. खण्ड स्तरीय योजना के लिए कृषि, लघु सिंचाई, भू–संरक्षण, पशुपालन, वनारोपण आदि कुल 12 कार्यक्रमों की एक सांकेतिक सूची भी तैयार की गई जिनके लिए उन योजनाओं में प्रावधान किये जाने की सिफारिश की गई।
2. दल ने पंचायतीराज संस्थाओं का आयोजना निर्माण एवं क्रियान्विति में सीधी भागीदारी का सुझाव दिया जिससे अधिक जनभागीदारी आकर्षित करने का वातावरण बनाया जा सके।
3. स्वैच्छिक संस्थाओं के माध्यम से योजनाएँ बनाई जाने व क्रियान्वित करने के लिए सुझाव दिये गये।
4. दल द्वारा जिला स्तरीय योजना शाखा के मुख्य कार्यों का भी उल्लेख किया गया, जिसके अनुसार संसाधनों का आंकलन, आँकड़े एकत्रित करना, उनका विश्लेषण करना, क्षेत्र की प्राथमिकता वाले कार्यक्रमों का चिन्हीकरण करना आदि सम्मिलित हैं।
5. कार्यकारी दल ने जिला स्तर पर मुख्य आयोजना अधिकारी का पद सृजित करने की सिफारिश की।

केन्द्र सरकार द्वारा बार–बार किये गये उपर्युक्त प्रयास के उपरान्त भी महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात आदि कतिपय राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव से विकेन्द्रीकरण की गति धीमी रही एवं विकेन्द्रीकृत आयोजना की व्यवस्था सभी राज्यों में पूर्ण रूप से लागू नहीं हो सकी।

1982 में योजना आयोग ने हनुमन्ता राव की अध्यक्षता में एक कार्यकारी दल गठित किया, जिसने अपना प्रतिवेदन आयोग को मई, 1984 में प्रस्तुत किया। इस दल ने अपनी सिफारिशों में हर स्तर पर विकेन्द्रीकृत आयोजना निर्माण हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :

1. विकेन्द्रीकृत आयोजना के लिए संस्थानिक ढांचे को सुदृढ़ बना कर स्थानीय जनप्रतिनिधियों की सक्रिय सहभागिता सुनिश्चित कर स्थानीय स्तर पर स्वायत्तता प्रदान करना।
2. जिले को बहुस्तरीय योजना ढांचे का भाग माना जाये।
3. ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के लिए संयुक्त योजना बनाना।
4. जिला सेक्टर को आवंटित धन राशि का बंटवारा एक उद्देश्य आधारित फार्मूले के आधार पर करने का सुझाव दिया।

राजस्थान सरकार के आयोजना विभाग में अप्रेल, 1993 को एक आदेश प्रसारित करते हुए जिला स्तर पर जिला आयोजना प्रकोष्ठ गठित करने का मार्ग प्रस्तुत किया । यह प्रकोष्ठ जिला स्तर पर प्रत्येक विभाग से समन्वय स्थापित करते हुए जिले की वार्षिक योजना तथा विभिन्न क्षेत्रों की योजनाओं के सबंध में निर्धारित लक्ष्यों एवं उनकी प्राप्ति का अध्ययन करता रहा, किन्तु वास्तविक रूप से जिला आयोजना निर्माण में स्वतंत्र तथा प्रभावी भूमिका नहीं निभा सका। भारतीय संविधान के 73वें एवं 74वें संशोधन लागू होने पर वर्ष 1993 में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं (पंचायतीराज संस्थाओं एवं नगरीय निकायों) को संवैधानिक मान्यता मिली है। संविधान के अनुच्छेद 243(जी) के अनुसार ''आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय हेतु योजना तैयार करना'' इन संस्थाओं का अहम संवैधानिक दायित्व है। संविधान के 74वें संशोधन का अनुच्छेद 243(जेड डी) जिला स्तर पर जिला अयोजना समिति के गठन का निर्देश देता है। जिसका दायित्व स्थानीय संस्थाओं द्वारा तैयार किये गये वार्षिक योजना प्रस्तावों को समेकित कर, सम्पूर्ण जिले का ड्राफ्ट डवलपमेंट प्लान (विकास योजना प्रारूप) तैयार करना है।

राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994 की धारा 121 के अनुसरण में प्रत्येक जिले में एक जिला आयोजना समिति का गठन ग्रामीण विकास एवं पंचायतीराज विभाग द्वारा 10 जुलाई, 1996 को किया गया। पंचायतीराज नियम,1996 के नियम 350, 351 एवं 352 में जिला आयोजना समिति के गठन, निर्वाचन, शक्तियाँ एवं कार्यों का विस्तार से प्रावधान किया गया है। आगे समय–समय पर विभाग इन समितियों का पुनर्गठन करता रहता है।

जिला आयोजना समितियों का गठन :

राजस्थान में जिला आयोजना समितियों का गठन करने हेतु अग्रलिखित प्रावधान किये गए है :

1. जिला आयोजना समितियों का गठन ''राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994'' की धारा 121 के अन्तर्गत होगा।
2. प्रत्येक जिले में एक जिला आयोजना समिति होगी जिसमें

कुल 25 सदस्य होंगे।

3. 20 सदस्य संबंधित जिले की जिला परिषद् तथा नगर पालिकाओं में से निर्वाचन द्वारा चुने जाएंगे।
4. निर्वाचित सदस्यों का अनुपात जिले की नगरीय तथा ग्रामीण जनसंख्या के आधार पर होगा अर्थात् किसी जिले की शहरी जनसंख्या अधिक होने पर नगरपालिकाओं से तथा ग्रामीण जनसंख्या अधिक होने पर जिला परिषद् से अधिक सदस्य लिये जा सकेंगे।

    (उदाहरण के लिए जयपुर में 11 जिला परिषद् एवं 9 नगरपालिकाओं से, अजमेर में 12 जिला परिषद् एवं 8 नगरपालिकाओं से, जोधपुर में जिला परिषद् से 13 एवं 7 नगरपालिकाओं से, उदयपुर में 16 जिला परिषद् एवं 4 नगरपालिकाओं से, कोटा में जिला परिषद् से 10 एवं नगरपालिकाओं से 10 सदस्य चुने जाते है।)
5. निर्वाचित सदस्य उसी रीति से चुने जायेंगे जैसे पंचायत समितियों और जिला परिषदों की स्थाई समितियों के सदस्यों का निर्वाचन होता है।
6. निर्वाचन हेतु समय व दिनांक की सूचना कम से कम सात दिन पहले जिला परिषद् एवं जिले की नगरपालिकाओं के निर्वाचित सदस्यों को दी जाएगी। नगरपालिकाओं में नगर निगम, नगर परिषद् तथा नगर पालिका मण्डल सम्मिलित है।
7. जिला आयोजना समिति का अध्यक्ष संबंधित जिले का जिला प्रमुख होगा।
8. मुख्य आयोजना अधिकारी समिति का सदस्य सचिव होगा।
9. राज्य सरकार द्वारा पांच सदस्य मनोनीत होंगे जिसमें जिला कलेक्टर, अतिरिक्त कलेक्टर (विकास) तथा जिला परिषद् का मुख्य कार्यकारी अधिकारी स्थाई रूप से पदेन सदस्य होंगे तथा दो सदस्य जिले के सांसद / विधायक या स्वैच्छिक संगठनों से मनोनीत किये जायेंगे।

जिला आयोजना समितियों की शक्तियाँ एवं कार्य :

जिला आयोजना समिति, पंचायत समितियों और नगरपालिकाओं द्वारा तैयार की गई वार्षिक योजनाओं का संकलन कर, संपूर्ण जिले के लिए विकास योजना प्रारूप तैयार कर, राज्य सरकार को अग्रेषित करेगी। समिति विकास योजना प्रारूप तैयार करते समय स्थानीय आयोजना में ऐसे विषयों का समावेश करेगी जो ग्रामीण व नगरीय दोनों क्षेत्रों के सामान्य हितों से संबंधित हो, जैसे जल, भौतिक व प्राकृतिक साधन तथा पर्यावरण आदि।

मुख्य आयोजना अधिकारी, जिला आयोजना समिति का सचिव होता है। जिला आयोजना प्रकोष्ठ (शाखा) जिला परिषद् के प्रशासनिक नियंत्रण में मुख्य आयोजना अधिकारी के अधीन समिति के सचिवालय का कार्य करती है तथा पंचायतीराज विभाग जिला आयोजना समिति का प्रशासनिक विभाग है।

कार्य :

ग्रामीण विकास एवं पंचायतीराज विभाग राजस्थान सरकार की अधिसूचनाओं के अनुसार जिला आयोजना समितियों के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये है –

1. आवश्यकतानुसार समिति की बैठक आमंत्रित कर विचार–विमर्श करना।
2. पंचायतों, पंचायत समितियों, नगर पालिकाओं द्वारा वार्षिक योजना तैयार करने हेतु दिशा–निर्देश जारी करने एवं ग्राम सभा, ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं नगरपालिकाओं की सामान्य बैठक के अनुमोदन के पश्चात जिला आयोजना समिति को भेजने हेतु कार्यक्रम निर्धारित करना
3. योजना निर्माण हेतु विभागों को आधारभूत सूचनाएं संकलित कर भेजने हेतु निर्देश जारी करना।
4. जिला स्तर पर हर विभाग में योजना कार्य हेतु समन्वय

जिला आयोजना समिति की संरचना

जिला प्रमुख (पदेन अध्यक्ष)

निर्वाचित सदस्य	(20)पदेन सदस्य (03)	मनोनीत सदस्य (02)	सदस्य सचिव
(ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या के अनुपात में निर्वाचित)	1. कलक्टर 2 मुख्य कार्यकारी अधिकारी 3 अतिरिक्त मुख्य कार्यकारी अधिकारी (जिला परिषद्)	सांसद / विधायक / स्वैच्छिक संगठन	(मुख्य आयोजना अधिकारी) जिला आयोजना प्रकोष्ठ (सचिवालय)

अधिकारी निश्चित करना।

5. सस्थाओं, संगठनों, तकनीकी अधिकारियों से योजना के संबंध में परामर्श करना।
6. स्थानीय भौतिक व प्राकृतिक संसाधनों के उपर्युक्त विकास को ध्यान में रखते हुए प्राप्त वार्षिक योजनाओं को एकीकृत करना।
7. पर्यावरण के संरक्षण का ध्यान रखना।
8. ग्रामीण एवं शहरी दोनों क्षेत्र के विकास की योजना बनाना।
9. ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों की योजना को समन्वित कर जल व अन्य भौतिक तथा प्राकृतिक संसाधनों का आवंटन निर्धारित करना।
10. गत वर्ष की योजना राशि के 125 प्रतिशत के बराबर योजना प्रस्ताव तैयार करना।
11. जिले के भौगोलिक एवं प्राकृतिक साधनों के दोहन और आधारभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्राथमिकताएं निर्धारित करना।
12. गत वर्ष के अनुपयुक्त राशि हेतु नये वर्ष की प्राथमिकता के अनुसार योजना प्रास्तावित करना।
13. पंचायतीराज संस्थाओं एवं नगरपालिकाओं के बीच सामान्य हित के विषयों का ध्यान रखना।
14. उपलब्ध वित्तीय एवं अन्य स्त्रोत के विस्तार का ध्यान रखना।
15. योजना तैयार कर राज्य सरकार को प्रेषित करना।
16. कोई अन्य कार्य जो राज्य सरकार द्वारा जिला आयोजना समिति को सौंपा जाए उसे पूर्ण करना।

जिला आयोजना समितियों की शक्तियाँ :

जिला आयोजना समितियों को राज्य सरकार द्वारा अग्रलिखित शक्तियाँ प्रदान की गई है :

1. जिला आयोजना समिति जिला स्तर पर योजना तैयार करने हेतु पंचायतीराज संस्थाओं, नगरपालिकाओं एवं ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कार्यों से संबंधित जिला स्तरीय अधिकारियों को आवश्यक निर्देश दे सकेगी।

2. उपयुक्त संस्थाओं व अधिकारियों से विकास कार्यों से संबंधित सूचनाएं मंगवा सकेगी एवं समस्त जिला स्तरीय अधिकारी समिति द्वारा चाही गई सूचनाएं उपलब्ध करवाऐंगे।

3. गत वर्ष की उपयुक्त एवं उपलब्ध राशि हेतु पुनः योजना बना सकेगी।

वर्ष 1996 की अधिसूचना के द्वारा राज्य के सभी जिलों में, निर्वाचन प्रणाली के माध्यम से जिला आयोजना समितियाँ गठित की जा चुकी है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में जिला आयोजना समिति एक संवैधानिक (Constitutional) संस्था है जबकि राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत नीति आयोग (NITI Aayog) एक गैर–संवैधानिक संस्था है। वर्ष 1993 में संसद द्वारा 73वें एवं 74वें संविधान संशोधनों से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है, जिसके अनुसार जिला आयोजना समितियों के गठन एवं ग्रामीण व नगरीय निकायों द्वारा आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाएं बनाने के आदेशात्मक प्रावधान किये गये है। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के दृष्टिपत्र में भी यह चिंता व्यक्त की गई है कि पंचायतों को न तो कारगर ढंग से, सत्ता, कार्यों एवं वित्तीय संसाधनों का हस्तान्तरण ही किया गया है एवं न ही उन्हें यथेष्ट संसाधन, करों द्वारा वसूल करने के लिए ही अधिकृत किया है। ये वस्तुतः विचारणीय विषय है कि गत वर्षों से लगातार योजना आयोग के निर्देशों एवं अनेकानेक समितियों एवं कार्यकारी दलों की सिफारिशों के बावजूद भी महाराष्ट्र, केरल, गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश आदि कुछ राज्यों को छोड़कर अन्य कई राज्यों ने इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठायें है।

जिला आयोजना समिति की समस्याएँ :

जिला स्तर पर नियोजन की महत्ता पर बारम्बार बल दिया जाकर इसकी आवश्यकता को अनुभव किया जाता रहा है, लेकिन जिला आयोजना अभी भी व्यावहारिक अर्थात वास्तविक रूप नहीं ले सका है। विभिन्न समितियों, कार्यदलों आदि में इस हिस्से का गहराई से अध्ययन कर विभिन्न सुझाव दिये है, किन्तु उनके अनुरूप बहुत कम ठोस उपाय किये गये है। राज्य के सभी जिलों में जिला आयोजना समितियां गठित हो चुकी है। समितियों का गठन जिस उद्देश्य को लेकर किया गया था, उसे मूर्तरूप देने में अभी भी कई प्रमुख कठिनाइयां अनुभव की जा रही है।

राजस्थान में जिला आयोजना समितियों की असफलता के विभिन्न कारण रहे है। कुछ प्रमुख समस्याओं पर अधिक जोर दिये जाने की आवश्यकता है। इनका संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है :

1. समुचित प्रशिक्षण का अभाव :

राज्य में विकेन्द्रीकृत आयोजना का कार्य नया होने तथा इस हेतु उत्तरदायित्व निभाने के लिए चिन्हित अधिकारी व जनप्रतिनिधियों को कोई पूर्व अनुभव नहीं होने के कारण विकेन्द्रीकृत आयोजना को समझने एवं लागू करने में समर्थ नहीं हो रहे है। समिति के सदस्यों के लिए योजना निर्माण प्रक्रिया संबंधित प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता है। उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण नहीं दिया जा रहा है।

2. दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव :

राज्य सरकार ने जिला आयोजना समितियों का गठन तो कर दिया है लेकिन सरकार ने समिति को न तो पूर्ण अधिकार दिये है, और न ही समुचित संसाधन उपलब्ध करवाये है। ऐसी स्थिति में जिला आयोजना समिति से जिला आयोजना तैयार करवाना केवल कागजी कार्यवाही मात्र ही रहेगा। सरकार की दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में समिति अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पा रही है।

3. वित्तीय संसाधनों के हस्तान्तरण का अभाव :

जिला स्तर पर उपयुक्त वित्तीय संसाधनों का अभाव है। किसी भी स्थानीय निकाय को यह स्पष्ट पता नहीं होता है कि जिस वित्तीय वर्ष की विकास योजनाएं बनाई जा रही है, उस में कितना बजट उन्हें मिलने वाला है जो संभावित बजट का आंकलन विगत वर्षों के आधार पर करते भी है। यह किसी न किसी योजना बंधा होता है। उदाहरण के तौर पर केन्द्र सरकार की ग्रामीण रोजगार अथवा गरीबी उन्मूलन योजनाएं। अतः निर्बन्ध राशि बगैर प्राप्त किये वित्तीय संसाधनों की निश्चितता के अभाव में – स्थानीय विकास योजना बनाने की सार्थकता पर

सवालिया निशान लगाना स्वाभाविक है।

4. जिला आयोजना प्रकिया में समन्वय का अभाव :

संवैधानिक आवश्यकता के विपरीत वर्तमान में जिला आयोजना, ग्रामीण व नगरीय निकायों की आयोजना का एकीकरण न हो कर जिले में कार्यरत विभागों की वार्षिक योजना को जारी करने की प्रक्रिया मात्र है जिसे जिला आयोजना का नाम अपने मन में भारी भ्रम पालने जैसी स्थिति है। ये योजना तो विभागीय स्तर पर बनकर राज्य आयोजना विभाग और योजना आयोग से अनुमोदित हो जाती है, उसके अनुमोदित आँकड़ों को संकलित कर उसे जिला आयोजना कहना किसी भी दृष्टि से सही नहीं है।

इस प्रक्रिया से जो भी तथाकथित जिला आयोजना प्रारूप जिलों से राज्य आयोजना विभाग को प्राप्त होते है, वह संबंधित वर्ष में आधी योजना के क्रियान्वित हो जाने के पश्चात उस वर्ष के नवम्बर, दिसम्बर माह तक प्राप्त होते है जिससे इन्हें राज्य आयोजना में शामिल कर के, राज्य की वार्षिक योजना तैयार करने का तो प्रश्न ही नहीं होता है।

वर्तमान में जिला आयोजना प्रक्रिया न तो पिछली कड़ी–ग्राम योजना पर आधारित होती है और न ही अगली कड़ी राज्य आयोजना में जुड़ाव बना पाती है, परिणामतः यह महज एक औपचारिक व कागजी कार्यवाही बनकर रह जाती है। जिसके लिए अनावश्यक श्रम व धन का अपव्यय हो रहा है।

5. विशय विशेषज्ञों का अभाव :

वर्तमान में न तो स्थानीय संस्थाओं में न ही जिला आयोजना समिति के स्तर पर आयोजना निर्माण की प्रक्रिया के विषय विशेषज्ञ उपलब्ध हैं। जिला आयोजना समिति के सदस्य सचिव को भी तकनीकी विशेषज्ञों की टीम उपलब्ध नहीं करवाई गई है। अतः जिला आयोजना पंचायत आधारित योजना, ब्लॉक आयोजना व नगर पालिका आयोजना निर्माण एवं इनका जिला आयोजना समिति स्तर पर एकीकरण करने हेतु एक तकनीकी विशेषज्ञ कोर टीम का गठन किया जाना चाहिए जिनमें अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, अभियंता, नियोजन, विशेषज्ञ, प्रबन्धक, परियोजना विशेषज्ञ तथा स्वैच्छिक संस्था प्रतिनिधियों को जोड़ने तथा इनका स्वैच्छिक परामर्श व जुड़ाव सतत् रूप से प्राप्त करने के प्रयास कर आयोजना प्रक्रिया को सम्बल देने की आवश्यकता है। इन विशेषज्ञ समूह में सेवारत व सेवानिवृत दोनों प्रकार के अनुभवी लोगों को जोड़ा जा सकता है।

6. प्रचार–प्रसार का अभाव :

पंचायतीराज संस्थाओं एवं नगरीय निकायों में निर्वाचित सदस्यों को आयोजना निर्माण की जानकारी नहीं होती है। जिसके अभाव में योजना निर्माण का कार्य निचले स्तर पर नहीं हो पाता है। जिला आयोजना समितियों के सदस्यों व स्थानीय निकायों के जनप्रतिनिधियों को अपने अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान नहीं होता तथा न ही आयोजना प्रक्रिया के बारे में जानकारी होती है। अतः सरकार को व्यापक स्तर पर इसका प्रचार–प्रसार करना चाहिए। जिसमें सदस्यों को अपने अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान हो सके।

7. मॉनिटरिंग का अभाव :

जिला आयोजना समिति के गठन के पश्चात राज्य सरकार समितियों के कार्यों की समय–समय पर उच्च स्तर पर समीक्षा नहीं कर पा रही है, जिससे आयोजना निर्माण का कार्य उचित ढंग से सम्पन्न नहीं हो रहा है।

8. जिला आयोजना समिति का अपूर्ण गठन :

राज्य सरकार द्वारा जिला आयोजना समितियों में जो सदस्य मनोनीत किये जाने थे उनका मनोनयन ज्यादातर जिलों में नहीं किया गया है। जो कि राज्य सरकार की उन समितियों के प्रति उदासीनता का द्योतक है। यद्यपि राजस्थान में वर्तमान में सभी जिलों में इन समितियों का गठन हो गया है, लेकिन भारत के कई राज्यों में सभी जिलों में अभी इनका गठन नहीं किया गया।

9. अधिकारियों एवं जनप्रतिनिधियों के मध्य समन्वय एवं संचार का अभाव :

जिला आयोजना समितियों में कार्यरत प्रशासनिक अधिकारी एवं जनप्रतिनिधियों के मध्य आपसी समन्वय एवं संचार के अभाव के कारण समिति अपने अपेक्षित उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही है। अधिकारी वर्ग द्वारा जनप्रतिनिधियों के विचारों को महत्व नहीं दिया जाता तथा संपूर्ण अधिकारों का उपयोग स्वयं करते है।

10. **शक्तियों के हस्तानान्तरण का अभाव** :

संविधान की धारा 243(जी) में राज्य विधायिकाओं पर स्थानीय संस्थाओं को ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करने का दायित्व है जिसके फलस्वरूप ये संस्थाएं स्वशासन की संस्थाओं के रूप में आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय की योजनाएं बना सके एवं इन योजनाओं को क्रियान्वित कर सके। राज्य सरकार ने पंचायतीराज संस्थाओं एवं नगर निकायों को संविधान की अनुसुची 11 एवं 12 में वर्णित विषयों को अभी तक पूर्ण रूप से हस्तानान्तरित नहीं किया है। इसी प्रकार जिला आयोजना समिति को भी आयोजना निर्माण की पूर्ण शक्तियां नहीं दी गई है जिससे जिला आयोजना का कार्य पूर्ण रूप से नहीं हो पा रहा है।

11. कर्मचारियों की अप्रयाप्तता :

जिला आयोजना सचिवालय में प्रर्याप्त मात्रा में स्टाफ न होने के कारण जिला आयोजना से संबंधित आधारभूत सूचनाएं संकलित नहीं हो पा रही है। तथा जो निर्णय लिए जाते है उनकी क्रियान्विति भी सही समय पर नहीं हो पाती है, इससे समिति के कार्यों में व्यवधान आता है।

सुझाव :

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि राज्य में जिला आयोजना समिति को मूर्तरूप देने में अभी भी कई प्रमुख समस्याओं एवं कठिनाइयों का अनुभव किया जा रहा है इसलिए जिला आयोजना समिति को प्रभावशाली बनाने हेतु
अग्रलिखित सुझाव दिये जाते है :

1. समिति में पर्याप्त संख्या में विषय विशेषज्ञों की नियुक्ति करना
2. आयोजना प्रक्रिया का सरलीकरण करना?
3. वित्तीय संसाधनों का पर्याप्त मात्रा में आवंटन करना
4. प्रतिनिधियों एवं कार्मिक वर्ग के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना
5. समिति में राजनीतिक हस्तक्षेप को समाप्त करना

6. समिति का पूर्ण गठन करना
7. आयोजना निर्माण में अपेक्षित जनसहयोग प्राप्त करना
8. जनप्रतिनिधियों की पूर्ण भागीदरी सुनिश्चित करना
9. योजना निर्माण में सहयोग के लिए उपसमितियों का गठन करना
10. समितियों में सामाजिक कार्यकर्ताओं को लेने का प्रावधान करना
11. योजना अनुभागों का सुदृढ़ीकरण करना
12. योजनाओं की समीक्षा के लिए मॉनिट्रिंग (अनुश्रवण) की व्यवस्था करना
13. समितियों के प्रति सरकार के सकारात्मक दृष्टिकोण को विकसित करना
14. पर्याप्त प्रशासनिक अधिकार देना
15. समिति की बैठक को नियमित व अनिवार्य करना।

राजस्थान में जिला आयोजना समितियों का कार्यकरण :

नीति आयोग (पूर्व में योजना आयोग), भारत सरकार द्वारा प्राप्त निर्देशों के अनुसार राजस्थान को राज्य योजना के साथ–साथ जिला योजना तैयार करना भी अनिवार्य है। राज्य में पंचायतीराज के अधीन सृजित जिला आयोजना प्रकोष्ठ के माध्यम से स्वायत–शासन विभाग के सक्रिय सहयोग से वार्षिक जिला योजना तैयार की जाती है। राज्य में ये योजनाएं ग्राम पंचायत, नगर पालिका, पंचायत समिति स्तर पर तैयार की जाकर जिला योजना में सम्मिलित की जाती है। राज्य के सभी 33 जिलों में जिला आयोजना समितियों का गठन किया जा चुका है। राज्य में जिला योजना के लिए 17 प्राथमिक सेक्टर्स का चयन किया गया है। सभी ग्राम पंचायतों में ग्राम सभाओं का आयोजन कर उनमें योजनाओं हेतु प्रस्ताव लिए जाते है तथा इन प्रस्तावों को व्यवस्थित कर आगे भिजवाया जाता है। राज्य में ग्रामीण स्तर से जिला योजना निर्माण के प्रयास आरम्भ हो गये है। इसके सफल क्रियान्वयन हेतु अग्रलिखित संस्थागत व्यवस्था की गई है :

1. राज्य स्तर पर अतिरिक्त मुख्य सचिव (विकास) की अध्यक्षता में एक राज्य स्तरीय समन्वय समिति का गठन किया गया हैं।

2. जिला स्तर पर जिला कलक्टर की अध्यक्षता में एक जिला स्तरीय जिला आयोजना समन्वय उपसमिति का गठन किया गया है।

3. उपखण्ड स्तर पर उपखण्ड अधिकारी (एस.डी.एम.) की अध्यक्षता में एक उपखण्ड स्तरीय आयोजना समन्वय उपसमिति का गठन किया गया है।

निष्कर्ष :

राजस्थान सहित अनेक राज्यों में संवैधानिक बाध्यता के कारण विभिन्न जिलों में जिला नियोजन समितियाँ तो गठित हो गई है लेकिन अभी ये सशक्त ढंग से कार्य नहीं कर पा रही है। आम जनता को तो इन समितियों के बारे में कोई जानकारी ही नहीं है। राज्य सरकार द्वारा भी अभी पूरी तरह इनमें सुधार हेतु प्रयास आरंभ नहीं किये गये है। अधिकतर राज्यों में इनके कार्मिक संसाधन में सुधार हेतु अपेक्षित प्रयास नहीं किये गये है। इनमें तकनीकी विशेषज्ञता के समावेश हेतु कोई गंभीर प्रयत्न नहीं हुए है। 74वें संविधान संशोधन का अनुच्छेद 243 (जेड–डी) में जिला स्तर पर जिला आयोजना समितियों की संरचना को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई है। यहां भारत सरकार के योजना आयोग (अब नीति आयोग) का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि योजना आयोग गैर संवैधानिक इकाई होने के बावजूद काफी प्रभावशाली रहा है। अभी हाल ही में राजस्थान राज्य के कुछ जिलों की, जिला आयोजना समितियों का अध्ययन किया गया, जिससे पता चलता है कि उनका गठन तो हुआ लेकिन राज्य सरकार द्वारा जो विषय विशेषज्ञ मनोनीत किये जाने थे, वे आज तक मनोनीत नहीं हो पाये। वास्तविकता यह है कि जिला आयोजना समिति निष्क्रिय बनी हुई है। लेकिन इससे हमें निराशाजनक निष्कर्ष नहीं निकालने चाहिए। वास्तव में समय के साथ ये समितियाँ प्रभावशाली व कुशल ढंग से कार्य करने में सक्षम हो जायेगी। विकेन्द्रीकृत नियोजन का लक्ष्य भी सही अर्थ में तभी पूर्ण होगा।

महत्वपूर्ण बिन्दू

1. राजस्थान में बलवन्त राय मेहता समिति के सुझाव पर त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था आरम्भ हुई।
2. प्रो.डी.आर.गाडगिल के अनुसार नियोजन प्रक्रिया में जिला अन्तिम एवं महत्वपूर्ण इकाई होता है और नियोजन की सफलता में जिला स्तरीय नियोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
3. जिला नियोजन में नगरीय एवं ग्रामीण संस्थाओं द्वारा निर्मित योजनाएं सम्मिलित होती है।
4. इसके लिए नीति निर्धारण तथा मार्गदर्शन का कार्य राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। राज्य सरकार के योजना विभाग के निर्देशानुसार ही जिला नियोजन किया जाता है।
5. जिला हमारे देश की प्रशासनिक व्यवस्था की अन्तिम तथा महत्वपूर्ण कड़ी होता है। केन्द्रीय एवं राज्य स्तरीय योजनाओं का वास्तविक क्रियान्वयन जिला स्तर पर ही किया जाता है। अतः जिला नियोजन का निर्माण एवं क्रियान्वयन जितना सही एवं प्रभावी होता है, केन्द्रीय एवं राज्य स्तरीय नियोजन उतना ही सफल रहता है।
6. विकेन्द्रीकृत नियोजन प्रक्रिया प्रारंभ करने हेतु योजना आयोग द्वारा सितम्बर, 1969 में मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रसारित कर सभी राज्यों को जिला नियोजन का कार्य प्रारंभ करने के निर्देश दे दिये थे। लेकिन प्रारंभ में इसे मूर्तरूप देने में मुख्य रूप से अधिकांश राज्यों के उत्साह में कमी दृष्टिगत हुई।
7. राजस्थान सरकार के आयोजना विभाग में अप्रैल, 1991 को एक आदेश प्रसारित करते हुए जिला स्तर पर जिला आयोजना प्रकोष्ठ गठित करने का मार्ग प्रस्तुत किया।
8. संविधान के अनुच्छेद 243(जी) के अनुसार "आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय हेतु योजना तैयार करना" इन संस्थाओं का अहम संवैधानिक दायित्व है।
9. जिला आयोजना समितियों का गठन "राजस्थान पंचायतीराज अधिनियम, 1994" की धारा 121 के अन्तर्गत् किया गया है।

10. राजस्थान के सभी 33 जिलों में जिला आयोजन समितियों का गठन किया जा चूका है।

11. राजस्थान में जिला आयोजन समितियों के सफलतापूर्वक कार्य करने हेतु राज्य स्तरीय, जिला स्तरीय एवं उपखण्ड स्तरीय समन्वय समितियों का गठन क्रमशः अतिरिक्त मुख्य सचिव (विकास), जिला कलक्टर तथा उपखण्ड अधिकारी (एस.डी.एम.) की अध्यक्षता में किया गया है।

12. जिला आयोजना समिति का अध्यक्ष संबंधित जिले का जिला प्रमुख होगा।

13. योजना निर्माण एवं उसके क्रियान्वयन में स्थानीय संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

14. भारत में जिला आयोजना समिति एक संवैधानिक (Constitutional) संस्था है जबकि राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत नीति आयोग (NITI Aayog) एक गैर–संवैधानिक संस्था है।

15. वर्ष 1993 में संसद द्वारा 73वें एवं 74वें संविधान संशोधनों से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है, जिसके अनुसार जिला आयोजना समितियों के गठन एवं ग्रामीण व नगरीय निकायों द्वारा आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाएं बनाने के आदेशात्मक प्रावधान किये गये है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. जिला आयोजना समिति का अध्यक्ष कौन होता है ?
(अ) जिला प्रमुख
(ब) जिला कलैक्टर
(स) मुख्य कार्यकारी अधिकारी
(द) एस.डी.एम.

2. आजकल नीति आयोग किस विचार पर जोर दे रहा है ?
(अ) योजना प्रक्रिया के केन्द्रीयकरण
(ब) योजना प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण
(स) योजना प्रक्रिया को निरस्त करने
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में किस प्रणाली को अपनाया गया है ?
(अ) संघीय आर्थिक प्रणाली
(ब) राज्य स्तरीय आर्थिक प्रणाली
(स) जिला स्तरीय आर्थिक प्रणाली
(द) सार्वजनिक आर्थिक प्रणाली

4. जिला नियोजन का उद्देश्य नहीं है :
(अ) जिले के उद्योगपतियों को प्रोत्साहन देना
(ब) क्षेत्रीय विषमताओं को समाप्त करना
(स) विभिन्न विकास कार्यों में समन्वय स्थापित करना
(द) जिले की समताओं की पहचान करना

5. विकेन्द्रीकृत नियोजन प्रक्रिया प्रारम्भ करने हेतु योजना आयोग द्वारा मार्गदर्शक सिद्धान्त कब प्रसारित किये गये–
(अ) 1969 (ब) 1972
(स) 1976 (द) 1980

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. जिला नियोजन की प्रकृति समझाइए।
2. पंचायती राज का मूल्यांकन करने हेतु मेहता समिति का गठन कब किया गया।
3. जिला आयोजना प्रकोष्ठ कब गठित किया गया।
4. पंचायती राज नियम के किस प्रावधान द्वारा जिला आयोजना समिति के गठन,निर्वाचन,शक्तियों एवं कार्यों का विस्तार किया गया।
5. जिला आयोजना समितियों का गठन संविधान के किस अनुच्छेद के तहत किया जाता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्नः

1. जिला नियोजन की प्रकृति की कोई तीन विशेषताएं बताइये।
2. जिला आयोजना समिति को कोई चार समस्याएं बताइये।
3. जिला आयोजन समिति को प्रभावशाली बनाने हेतु चार सुझाव बताइये।
4. जिला नियोजन का क्षेत्र समझाइये।

5. राजस्थान में जिला आयोजन समिति के गठन से संबंधित प्रावधान बताइये।

निबंधात्मक प्रश्न :

1. जिला आयोजना समिति की शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. जिला आयोजना समिति की प्रमुख समस्याएं कौन–कौन सी है।
3. जिला नियोजन की प्रकृति, उद्देश्य एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (ब) 3. (स)
4. (अ) 5. (अ)

इकाई–7 वित्तीय प्रशासन

अध्याय : 19
बजट की अवधारणा
(Concept of Budget)

लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पक्ष वित्तीय प्रशासन है। वित्त प्रशासन वह प्रशासन है जिसमें वित्त (धन) के विभिन्न आयामों का अध्ययन किया जाता है। मानव शरीर में जैसे रक्त आवश्यक है, वैसे संगठन के कार्यकलापों हेतु वित्त आवश्यक हैं। अतः वित्त ही प्रशासन की जीवन शक्ति है। एल.डी.व्हाईट का मानना है कि '' प्रशासन एवं वित्त को परस्पर पृथक नही किया जा सकता। प्रत्येक प्रशासनिक कार्य का वित्तीय पहलू होता है, जो उससे वैसे ही अपृथक्करणीय होता है जैसे मनुष्य तथा उसकी छाया। वित्त प्रशासन का महत्वपूर्ण पक्ष सरकार की राजकोषीय नीति होती है। राजकोषीय नीति का अंग्रेजी पर्याय 'फिस्कल (Fiscal)' है जो यूनानी भाषा के शब्द फिस्क से बना है। इसका अर्थ है 'टोकरी' या 'डलिया' जो कि सरकारी खजाने को व्यक्त करता है। राजकोषीय नीति आर्थिक नीति का वह हिस्सा है जो कि मुख्यतः सरकार के आय तथा व्यय से संबंधित है। इसमें सरकार विभिन्न स्त्रोंतों से जो भी उधार लेती है, वह भी शामिल है।

बजट (Budget) :

बजट एक निश्चित समयावधि के लिए, सामान्यतः एक वर्ष के लिए आय–व्यय का पूर्वानुमान है। यह सरकार द्वारा आने वाले वर्ष के लिए निश्चित निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु तैयार की गई विस्तृत कार्य–योजना होती है। वित्तीय प्रशासन बजट के माध्यम से ही काम करता है। बजट राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण उपकरण है।

बजट शब्द का निर्माण फ्रेंच भाषा के शब्द ' बोजते ' से हुआ है। जिसका सामान्य अर्थ ''चमड़े का थैला'' हैं। यह शब्द सन् 1733 में इंग्लैण्ड की संसद में बोला गया था। उस समय वहाँ वित्त मंत्री राबर्ट वालपोल (कार्यकाल 1721 से 1742) ने अपनी वित्तीय योजना संसद में प्रस्तुत की जिसे ससंद के ही एक सदस्य ने व्यंग्य में कहा कि वित्त मंत्री ने अपना बजट अर्थात चमड़े का थैला खोला है। भारत में आधुनिक बजट प्रणाली की शुरुआत गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग के समय में हुई। इस समय गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के वित्त सदस्य जेम्स विल्सन ने 18 फरवरी, 1860 को सर्वप्रथम बजट प्रस्तुत किया। 1860 से ही भारत में अप्रैल से मार्च का बजट वर्ष या वित्तीय वर्ष की प्रणाली शुरु हुई।

परिभाषाऐं (Defination) :

बजट को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। विश्लेषक मुख्यतः बजट की परिभाषा अनुमानित आमदनियों तथा खर्चों के विवरण के रुप में करते हैं।

हारलॉड आर.ब्रूस – '' बजट किसी संगठन की अनुमानित आय तथा प्रस्तावित व्यय का वित्तीय वक्तव्य है जो आगामी वर्ष के लिए पहले से तैयार किया जाता है। ''

विलने – '' बजट, अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण , आय एवं व्यय का तुलनात्मक चित्र और इन सभी से पहले यह राजस्व एकत्र करने तथा सार्वजनिक धन खर्च करने के लिए सक्षम प्राधिकारी को दिया हुआ अधिकार तथा निर्देश है।''

रेने गाज – '' आधुनिक राज्य में बजट सार्वजनिक प्राप्तियों एवं खर्चों का पूर्वानुमान तथा एक अनुमान है, और कुछ खर्चों को करने तथा प्राप्तियों को एकत्र करने का अधिकृतीकरण है।

डिमॉक – '' बजट एक वित्तीय योजना है जो अतीत में वित्तीय अनुभव का स्तर प्रस्तुत करता है, वर्तमान की योजना बनाता है और भविष्य के एक निश्चित काल पर इसे आगे बढ़ाता है। ''

मुनरो – '' बजट आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए अर्थ प्रबंधन की योजना है। उसमें एक ओर सभी प्रकार की आय का और दूसरी ओर खर्चों का मद के अनुसार अनुमान दिया होता है।

रेने स्टार्म – '' बजट एक प्रलेख है जिसमें सरकारी आय–व्यय की एक प्रारम्भिक अनुमोदित योजना रहती है।

टेलर – '' बजट एक निश्चित अवधि के लिए सरकार की वित्तीय योजना है। ''

सरल शब्दों में कहें तो बजट सरकार का एक निश्चित दिवस पर प्रस्तुत किया जाने वाला आय–व्यय का हिसाब है। यह कार्य करने हेतु एक वित्तीय योजना का नक्शा है, अतः सरकारी विभागों , निजी क्षेत्र एवं आम नागरिकों के लिए विशेष महत्व रखता है।

बजट का उद्देश्य (Objectives of Budget) -

बजट सरकार के हाथों में एक शक्तिशाली साधन है। यह बहुउद्देश्यीय होता है। प्रत्येक वर्ष के लिए सरकार पूर्व में ही योजना बना लेती है। इससे, किस क्षेत्र में कितना खर्च करना है तथा कहाँ से कितनी आय होगी, इसका सरलता से आकलन किया जा सकता है। बजट के कुछ अग्रलिखित उददेश्य है :

जवाबदेही : यह विधायिका के प्रति कार्यपालिका की वित्तीय एवं विधिक जवाबदेही सुनिश्चित करता है। बजट से कार्यपालिका विभिन्न मदों (Item) के अन्तर्गत अनुमोदित कार्यों के लिए व्यवस्थापिका द्वारा प्रस्तावित की गई सीमा के भीतर रहकर ही व्यय कर सकती है। इसी प्रकार की जवाबदेही कार्यपालिका में निहित है। कार्यपालिका का प्रत्येक अधीनस्थ अधिकारी पदसोपान में अपने से उपर वाले अधिकारी के प्रति जवाबदेह होता है। जवाबदेही बजट निष्पादन तथा

योजनाओं के क्रियान्वन में अपनी उपयोगी भूमिका रखती है।

प्रबंधन : बजट प्रबंधन का महत्वपूर्ण उपकरण हैं प्रबंध के एक प्रभावी माध्यम के रुप में बजट में योजना, समन्वय, नियंत्रण, मूल्यांकन, प्रतिवेदन तथा समीक्षा शामिल है। बजट के क्रियान्वन से इन सिद्वान्तों के पालन में सुविधा प्राप्त होती है।

सामाजिक एवं आर्थिक नीति का उपकरण :

बजट सामाजिक एवं आर्थिक नीति का उपकरण होता है। सरकार अपनी विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक योजनाओं को बजट के माध्यम से प्रस्तुत करती है।

कुशलता में अभिवृद्धि : बजट के कुशल क्रियान्वयन से सरकारी कार्यों एवं सेवाओं के वितरण में कुशलता बढती है।

बजट का महत्व (Significance of Budget):

बजट का अत्यधिक महत्व है। बजट से शासन–प्रशासन के कार्यों में एकरुपता, कुशलता एवं प्रभावशीलता आती है। यह सरकारी विभागों की विभिन्न गतिविधियों को एक योजना के अधीन लाकर उन्हें एक रूप करता है। बजट से प्रशासन पर नियंत्रण बनाए रखना आसान होता है। बजट अन्तर–विभागीय समन्वय का श्रेष्ठ साधन है। बजट किसी भी सरकार की विचारधारा को प्रकट करता है। बजट में किए गए विभिन्न प्रावधानों से ही आम नागरिक सरकार का मूल्यांकन करते हैं। बजट एवं वित्त प्रशासन के महत्व पर प्रचलित वक्तव्य निम्नलिखित है।

कौटिल्य–'' सभी कार्य वित्त पर निर्भर है। अतः सर्वाधिक ध्यान कोषागार पर देना चाहिए। ''

हूवर आयोग–'' वित्तीय प्रशासन आधुनिक सरकार का मर्म है। ''

विलोबी–'' बजट प्रशासन का अभिन्न और अनिवार्य औजार है। ''

डिमॉक–'' वित्तीय प्रशासन के सभी पक्षों में से बजट निर्माण सबसे ज्यादा नीति संबंधी प्रश्न उठाता है। ''

लॉयड जार्ज–'' सरकार वित्त है। ''

मॉरस्टेन मार्क्स–'' प्रशासन में वित्त वातावरण में ऑक्सीजन की तरह ही सर्वव्यापी है। ''

बजट के सिद्धांत (Principles of Budget):

वर्तमान में वित्तीय प्रशासन का महत्व निरन्तर बढ़ रहा है। वित्त प्रशासन में बजट सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है, जिसके उचित संचालन हेतु अनेक सिद्धांतों की जरुरत होती है। ये सिद्धांत बजट बनाने वाली संस्था के उद्देष्यों एवं प्रकृति पर भी निर्भर करते हैं, फिर भी बहुत से सिद्धांत सभी तरह की संस्थाओं के लिए सामान्य होते हैं। बजट सिद्धांतों की यह रचना इसलिए हुई है जिससे पैसे का कुशल एवं प्रभावाशाली प्रबंधन किया जा सके। तर्कसंगत बजटिंग के सिद्वांत निम्नलिखित हैं :

बजट संतुलित हो :

इसका अर्थ है कि अनुमानित व्यय अनुमानित आय से अधिक नही होना चाहिए अथवा यह कहा जाये कि ' संतुलित बजट ' वह बजट है जिसमें अनुमानित व्यय अनुमानित आय से मेल खाते हैं। अगर अनुमानित आय अनुमानित व्यय से अधिक है इसे ' बचत का बजट ' कहते हैं और यदि अनुमानित आय अनुमानित व्यय से कम है तो इसे ' घाटे का बजट ' कहते हैं। बचत का बजट वह बजट है जिसमें सरकार या संस्था जिसका बजट है, वह बजट के माध्यम से लाभ अर्जित करती है। सामान्यतः निजी क्षेत्र के बजट, बचत के बजट होते हैं, क्योंकि निजी क्षेत्र की आर्थिक संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। राजकीय बजट सामान्यतः बचत के बजट नहीं होते।

घाटे का बजट वह बजट होता है जिसमें सरकार या संस्था जिसका बजट है, उसे बजट के माध्यम से लाभ की जगह आर्थिक अर्थ में हानि होती है। ऐसे बजट निजी क्षेत्र की तुलना में सरकारी क्षेत्र में सामान्य है। सरकार द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले सालाना बजट में अनेक लोक कल्याणकारी योजना होती है, जिनमें सरकार रुपये के रूप में निवेश करती है, लेकिन इनसे रुपयों में प्रतिफल प्राप्त नहीं होता है। घाटे का बजट के आर्थिक लाभ प्राप्ति के उद्देश्य नहीं होकर सामाजिक–आर्थिक न्याय प्राप्त करना लक्ष्य होता है। सरकार घाटे का बजट लम्बे समय तक चलाती है लेकिन निजी क्षेत्र में यदि लम्बे समय तक घाटे का बजट रहता है तो शीघ्र ही संस्था (निजी उपक्रम) के कार्य–कलाप बन्द हो जाते हैं।

रोकड बजटिंग : इसका अर्थ है व्यय और आय का अनुमान तैयार करने का आधार यह हो कि वित वर्ष के दौरान वास्तव में कितना व्यय व कितनी आय होने की आशा है। रोकड बजटिंग (Cash Budgeting) के विपरीत होती है, राजस्व बजटिंग (Revenue Budgeting) । इसके अंतर्गत बजट अनुमान मांग और देयता के आधार पर तैयार किये जाते हैं, अर्थात वित्तीय वर्ष के बजट में एक वित्तीय वर्ष के व्यय और आय को उसका ख्याल रखे बिना जोड़ा जाता है कि उस वित्तीय वर्ष में वास्तव में खर्च प्राप्त होगें या नहीं। संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन और भारत में रोकड़ बजटिंग है। जबकि फ्रांस और यूरोप के कुछ अन्य देशों में राजस्व बजटिंग ।

सरल शब्दों में कहे तो रोकड़ बजट वह बजट है जिसमें समस्त आय–व्यय का हिसाब उसी वित्त वर्ष में पूरा करके फिर नया बजट बनाया जाता है। जबकि राजस्व बजट वह बजट है जिसमें किसी एक निश्चित वित्त वर्ष के आय–व्यय का समायोजन नया बजट आने के बाद भी उसी निश्चित वित्त वर्ष में करते हैं जैसे 2017–18 के बजट की कोई योजना 2021–22 में जाकर पूरी होती है तो इसके हिसाब का समायोजन 2017–18 के बजट में ही होगा, चाहे इसके बाद कई नए बजट आ गए हो। राजस्व बजटिंग की अपेक्षा रोकड़ बजटिंग में सार्वजनिक खातों का समापन जल्दी करना आसान होता है। देरी होने से वित्तीय वर्ष के लिए उनका महत्व कम हो जाता है।

एक बजट ' के विपरीत हैं, बहु बजट जिसमें अलग–अलग विभागों के बजट अलग–अलग तैयार किये जाते हैं। ' एक बजट ' प्रणाली सरकार की सम्पूर्ण वित्तीय स्थिति अर्थात सम्पूर्ण बचत या घाटे को प्रकट करती है। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन में 'एक बजट' प्रणाली है जबकि फ्रांस , स्विट्जरलैण्ड और जर्मनी में 'बहु बजट' प्रणाली है। भारत में पूर्व में दो प्रकार के बजट होते थे, आम बजट और रेलवे बजट। वित्त वर्ष 2017–18 से भारत में भी एकल बजट प्रणाली आंरभ हो गई है।

बजटिंग सकल होनी चाहिए, शुद्ध नहीं : इसका अर्थ है कि बजट में सरकार की प्राप्तियाँ और व्यय के तमाम लेनदेन को पूर्णतः और अलग–अलग प्रदर्शित होना चाहिए। प्राप्तियों को व्यय से हटाने या इससे उल्टा करने और बजट को शुद्व प्राप्तियाँ या खर्चों के लिए तैयार करने की पद्वति बजटिंग का स्वस्थ सिद्वांत नही है। कारण यह है कि इससे अधूरा लेखाकंन हो पाता है तथा अधूरे लेखा के चलते वित्त पर विधायिका का नियंत्रण कम हो जाता है।

अनुमान ठोस होने चाहिए : इसका अर्थ यह है कि बजट के अनुमानों को यथा संभव सटीक होना चाहिए। कारण यह है कि अनुमान अधिक होने से कराधान अधिक होता है। और अनुमान कम होने से बजट का क्रियान्वयन अप्रभावी होता है। 'ठोस बजटिंग का अर्थ यह भी है कि खर्चों की खास मदों को स्पष्ट होना चाहिए और कोई एकमुश्त अनुदान की माँग नहीं होनी चाहिए।

कालातीत का नियम (Rule of Lapse) : बजट वार्षिक आधार पर होना चाहिए। अर्थात विधायिका द्वारा कार्यपालिका को धन एक वित्तीय वर्ष के लिए दिया जाना चाहिए। अगर स्वीकृत धन वित्तीय वर्ष के अंत तक खर्च नहीं होता तब शेष धनराशि को समाप्त हो जाना चाहिए, और इसे कोषागार को लौटा देना चाहिए। इस परिपाटी को कालातीत का नियम कहते हैं। भारत और इंग्लैण्ड में वित्तीय वर्ष 1 अप्रेल से 31 मार्च तक होता है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में 1 जुलाई से 30 जून तक और फ्रांस में 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक का वित्तीय वर्ष होता है।

कालातीत का नियम से विधायिका के वित्तीय नियंत्रण का रास्ता आसान हो जाता है। क्योंकि आरक्षित कोष का निर्माण इसकी अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है। परन्तु इस नियम के पालन से वित्तीय वर्ष के अंत में खर्चों की भारी भीड़ लग जाती है। भारत में इसे आमतौर पर ''मार्च की हड़बड़'' (March Rush) कहते हैं। बजट का बड़ा भाग इसी समय खर्च किया जाता है।

राजस्व और पूँजी भाग अलग–अलग हो : इसका अर्थ है कि सरकार के चालू वित्तीय लेनदेन पूँजीगत लेनदेन से अलग होना चाहिए। दोनों को बजट के अलग–अलग हिस्सों में राजस्व बजट और पूँजीगत बजट के रुप में प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इससे प्रचालन व्यय को निवश व्यय से पृथक करना आवश्यक हो जाता है। वित्तीय मामलों में राजस्व बजट को चालू राजस्व से और पूँजीगत बजट को बचतों तथा उधारियों से काट दिया जाता है।

अनुमानों के रुप लेखा के रुपों के अनुरुप हो : इसका अर्थ है कि बजट संबंधी अनुमानों के रुप लेखा (Account) के **रुपों** के **अनुरुप** होना चाहिए। जिससे की वित्तीय नित्रंयण को कारगर किया जा सके। उदाहरण के लिए भारत में बजट संबंधी शीर्ष (Budget Head) और लेखा शीर्ष (Accounts Head) अर्थात प्रमुख शीर्ष , गौण शीर्ष , उप शीर्ष और विवरण शीर्ष एक समान होते हैं।

बजट के अन्य सिद्धांत :

ऊपर बतलाए गए सभी सिद्धांत तकनीकी प्रकृति के है। बजट के कुछ सामान्य सिद्धांत भी हैं। हैराल्ड डी. स्मिथ के अनुसार ये अग्रलिखित है :

1. प्रचार (Publicity) : बजट की जानकारी सभी को प्राप्त होनी चाहिए इस हेतु प्रिंट मीडिया तथा इलेक्ट्रानिक मीडिया का उपयोग करना चाहिए। इससे बजट क्रियान्वयन के समय जन सहभागिता बढ़ती है। आज के समय में सोश्यल मीडिया का भी इस्तेमाल प्रचार हेतु करना चाहिए।

2. स्पष्टता (Clearity) : बजट की प्रभावशीलता एवं सार्थकता के लिए इसे स्पष्ट होना चाहिए।

3. व्यापकता (Comprehensiveness) : बजट व्यापक होना चाहिए जिससे सरकार के सम्पूर्ण राजकोषीय कार्यक्रम का सारांश बजट में आ जाए।

4. एकता (Unity) : बजट में जो व्यय (खर्चे) प्रस्तुत किए गए हैं उन सभी की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सरकार को एक सामान्य निधि एकत्रित करनी चाहिए।

5. नियतकालिकता (Periodicity) : सरकार या संस्था जिसका यह बजट है उसे विनियोग तथा खर्चे करने का अधिकार केवल निश्चित अवधि हेतु दिया जाना चाहिए।

6. परिशुद्धता (Accuracy) : परिशुद्धता से अभिप्राय है कि बजट में प्रस्तावित अनुमान इतने संतुलित हो कि वे आवश्यकता से अधिक कम अथवा ज्यादा नहीं लगे।

7. सच्चरित्रता (Integrity) : बजट निर्माण के समय जो भी उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, उन्हे प्राप्त करने के लिए ईमानदारी एवं कार्य कुशल प्रशासन का होना आवश्यक है।

बजट के प्रकार (Types of Budget) :

बजट के अनेक प्रकार है बजट का प्रत्येक प्रकार एक अलग विचार की अवधारणा के साथ विकसित हुआ है। समय के साथ साथ जिस प्रकार विभिन्न व्यवस्थाओं में सुधार एंव परिवर्तन आए वैसे ही बजटीय प्रणालियों में भी अन्तर आया है। बजट निर्माणकारी जिन पद्वतियों का विकास इतिहास के लम्बे दौर में हुआ है, उनके बारे में नीचे बताया जा रहा है।

मद क्रम बजट निर्माण (Line-Item Budgeting) :

इसको परम्परागत या रुढिगत बजट निर्माण भी कहा जाता है। बजटिंग की इस प्रणाली का विकास 18 वीं और 19 वी शताब्दी में हुआ। इसमें खर्चों के उददेश्यों को सामने लाये बिना उनकी मदों (Items) पर जोर दिया जाता है और बजट की कल्पना वित्तीय अर्थ में की जाती है अर्थात बजट को मद क्रम वर्गीकरण के अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत विधायिका द्वारा मद विशेष पर स्वीकृत धन राशि का उपयोग इस मद पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार बजटिंग का उद्देश्य विधायिका द्वारा कार्यपालिका को स्वीकृत धन की बर्बादी, आय–व्यय तथा दुरुपयोग को रोकना है। बजटिंग की यह प्रणाली सार्वजनिक व्ययों पर अधिकतम नित्रंयण का मार्ग प्रशस्त करती है। वास्तव में मद क्रम बजटिंग प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य धन की जवाबदेही अर्थात खर्चों की वैधानिकता तथा नियमित्ता को सुनिश्चित करना रहा है। इस प्रणाली को 'वर्धनशील बजटिंग' (Incremental Budgeting) भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें धन का आवंटन वर्तमान आधार की पहचान करने के बाद वर्धनशील आधार पर किया जाता है।

निष्पादन बजटिंग (Performance Budgeting) :

इस प्रणाली का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। पहले इसे क्रियाशील या कार्यकलाप बजटिंग कहा जाता था। ' निष्पादन बजट ' शब्द को प्रथम हूवर आयोग 1949 ने गढ़ा था। इसने संयुक्त राज्य अमरीका में निष्पादन बजटिंग अपनाने की सिफारिश की थी। जिससे की बजटिंग के प्रति कुशल प्रबंध का दृष्टिकोण बनाया जा सकें। तदनुसार अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रमेन द्वारा इसको 1950 में लागू किया गया।

मद–क्रम बजटिंग के विपरित निष्पादन बजटिंग खर्चे के बजाए खर्चे के उद्देश्य पर जोर देता है। यह बजट को कार्यक्रमों, क्रियाशीलताओं और परियोजनाओं के अर्थ में प्रस्तुत करता है। यह प्रत्येक कार्यक्रम और गतिविधि के निष्पादन या उत्पादन और वित्तीय (निवेश) पक्षों के बीच संबंध स्थापित करती है। अतः यह प्रणाली बजट के क्रियाशील वर्गीकरण को आवश्यक कर देती है। भारत में निष्पादन बजट की सिफारिश सर्वप्रथम संसदीय आकलन समिति ने 1956 में की। भारत में बजट बनाने की इस प्रणाली की उपयोगिता और व्यवहारिकता का अध्ययन करने के लिए सरकार ने 1964 में अमरीकी विशेषज्ञ फ्रेंक डब्ल्यू. क्राउस को आंमत्रित किया। अंततः भारत में निष्पादन बजटिंग को प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश पर 1968 में लागू किया गया। उस आयोग के अनुसार निष्पादन बजटिंग के लाभ या उद्देश्य यह हैं :

1. कार्यपालिका संसद से जिन उद्देश्य एवं लक्ष्यों से धन की मांग करती हैं उनको यह बजटीय प्रणाली अधिक स्पष्ट रुप से सामने लाती है।
2. यह कार्यक्रमों और उपलब्धियों को वित्तीय और वास्तविक अर्थ में सामने लाती है।
3. इससे संसद बजट को बेहतर ढंग से समझ सकती है और उसकी बेहतर समीक्षा कर सकती है।
4. इससे बजट निरुपण में सुधार आता है।
5. इससे सरकार के सभी स्तरों पर निर्णय निर्माण प्रक्रिया आसान होती है।
6. यह वित्तीय कार्यकलापों के संबंध में प्रबंधकीय, नियंत्रण के अतिरिक्त उपकरण उपलब्ध कराता है।
7. यह निष्पादन लेखा परीक्षा को अधिक उद्देश्यपूर्ण और कारगर बनाता है।
8. यह प्रबंधन की जवाबदेही बढाता है।

1968 में निष्पादन बजटिंग को भारत सरकार के चार मंत्रालयों में शुरु किया गया था। बाद में 1977–78 में उसका विस्तार 32 विकासात्मक विभागों में कर दिया गया।

कार्यक्रम बजटिंग (Programme Budgeting) :

निष्पादन बजटिंग की तरह ही कार्यक्रम बजटिंग (अथवा, नियोजन कार्यक्रम बजटिंग पद्वति) की उत्पत्ति भी संयुक्त राज्य अमरीका में हुई। इसका सूत्रपात 1965 में राष्ट्रपति जॉनसन ने किया। बजटिंग की इस प्रणाली में नियोजन, कार्यक्रम निर्माण और बजटिंग के कार्यों को एक कर दिया जाता है। '' कार्यक्रम बजटिंग '' में नियोजक पक्ष पर बल देते है जिसका उददेश्य अनेक उपलब्ध कार्यक्रमों में से सर्वश्रेष्ठ का चुनाव करना तथा बजट में धन का आंवटन करते समय आर्थिक अर्थों में सर्वश्रेष्ठ को चुनना है। यह मानता है कि बजट प्रतिद्वंदी दावों के बीच आंवटन करने की प्रक्रिया है जो नियोजन के प्रासंगिक उपायों को प्रयोग करके चलाई जाती है।

शून्य आधारित बजटिंग (Zero Base Budgeting) :

इसका भी जन्म और विकास अमरीका में हुआ। इस बजटीय प्रणाली का निर्माण निजी उद्योग के प्रबंधक पीटर ए. पायर ने 1969 में किया। अमरीका में इसको राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने 1978 में लागू किया। निष्पादन बजटिंग की तरह यह भी बजटिंग की एक तर्कसंगत पद्धति है। इसके अंतर्गत बजट में सम्मिलित किए जाने से पहले प्रत्येक कार्यक्रम/योजना की आलोचनात्मक समीक्षा की जानी चाहिए और शून्य से प्रांरभ होकर संपूर्णतया दोबारा सही सिद्व करना चाहिए। अतः शून्य आधारित बजटिंग में बजटिंग के वर्धनशील दृष्टिकोण को (जो हालिया खर्चे के आंकलन से शुरु होता है) अर्थात नए वित्त वर्ष के बजट का प्रत्येक मद (Item) नए सिरे से आरम्भ किया जाता है। अनुसरण करने के स्थान पर सभी योजनाओं की शुरु से (अर्थात शून्य से) पुनः परीक्षा करना आता है। व्यवहार में शून्य आधारित बजटिंग की मूल विशिष्टता यह है कि अपना बजट तैयार करते समय विभागों को किसी चीज को पहले मानकर नहीं चलना चाहिए और इसलिए उनको कोरे कागज से शुरुआत करनी चाहिए। आगामी वर्ष के बजट निर्माण की प्रक्रिया शून्य से शुरु होनी चाहिए न कि मौजूदा बजट को आधार मानकर। शून्य आधारित बजटिंग के सम्बंध में कह सकते हैं कि यह एक क्रियाशील, नियोजन और बजटिंग प्रक्रिया है जो प्रत्येक प्रबंधक से अपने बजट की पूरी मांग को शुरुआत से सही सिद्ध करने की अपेक्षा करती है और यह सिद्ध करने के साक्ष्य का बोझ प्रबंधक पर डालती है कि उसको धन खर्च ही क्यों करना चाहिए। यह प्रणाली इस पर भी बल देती है कि काम बेहतर कैसे किया जा सकता है ? चूंकि यह प्रणाली प्रत्येक कार्य की पुनः शुरुआत करती है अतः इसे शून्य आधारित बजट कहते हैं।

शून्य आधारित बजटिंग पद्धति के लाभ इस प्रकार है :

1. यह कम या सीमित वरीयता के कार्यक्रमों को हटाता है या न्यूनतम कर देता है।
2. यह कार्यक्रम की प्रभावशीलता को एकाएक बढा देता है।
3. इससे अधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों को अधिक धन मिलता है।
4. इससे कर वृद्धि में कमी आती है।
5. यह लागत प्रभावशीलता ओर लागत लाभ के अर्थ में योजनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा को आसान बनाता है।
6. इससे वर्ष के दौरान बजट समायोजन शीघ्र होता है।
7. यह पर्याप्त संसाधनों का सुसंगत आंवटन करता है।
8. बजट की तैयारी में यह संबंद्ध कार्मिकों की भागीदारी बढाता है।

भारत में शून्य आधारित बजटिंग को सबसे पहले 1983 में विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी विभाग में और तत्पश्चात् 1986–87 के वित्त वर्ष के दौरान अन्य मंत्रालयों में लागू किया गया था।

परिणामोन्मुखी बजट (Outcome Budget) :

भारत में सर्वप्रथम 2005 में परिणामोन्मुखी बजट प्रस्तुत

किया गया। इसके अन्तर्गत आम बजट में आंवटित धनराशि का विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों ने क्या तथा कैसे उपयोग किया, इसका पूर्ण विवरण देना होता है। यह बजट क्रियान्वयन अभिकरणों की जिम्मेंदारी तय करता है। यह बजट एक प्रकार का रिपोर्ट कार्ड है। यह मंत्रालयों तथा विभागों के कार्य प्रदर्शन में एक मापक का कार्य करता है। इससे सेवा, निर्माण प्रक्रिया, कार्यक्रमों के मूल्यांकन तथा परिणाम को ज्यादा बेहतर बनाया जा सकता है।

लैंगिक बजट (Gender Budget)

वर्तमान में संचालित बजट में उन तमाम योजनाओं तथा कार्यक्रमों पर जिनका सम्बंध महिला एवं शिशु कल्याण से है, कितना धन आवंटित किया गया, इसका उल्लेख ही लैंगिक बजट है। इसके माध्यम से सरकार महिलाओं के विकास, कल्याण तथा सशक्तीकरण से संबंधित योजनाओं तथा कार्यक्रमों के लिए प्रतिवर्ष एक निर्धारित राशि की व्यवस्था सुनिश्चित करने का प्रावधान करती है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त बजट निर्माण के आधार पर निम्नलिखित प्रकार के बजट भी मिलते हैं।

1. व्यवस्थापिका बजट
2. कार्यपालिका बजट
3. मण्डल या आयोग प्रणाली का बजट

1. व्यवस्थापिका बजट :

ऐसी प्रणाली जिसमें बजट का निर्माण व्यवस्थापिका के द्वारा सम्पन्न होता है तो उसे व्यवस्थापिका बजट कहा जाता है। इस प्रकार के बजट को कार्यपालिका की प्रार्थना पर व्यवस्थापिका की एक समिति द्वारा तैयार किया जाता है। व्यवस्थापिका बजट को तैयार करती है और उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करती है। इसलिए उसका महत्व कार्यपालिका की अपेक्षा बढ़ जाता है। लेकिन जब व्यवस्थापिका की समिति बजट का निर्माण करती है तब कार्यपालिका की उसे आवश्यकता पडती है, क्योंकि बिना कार्यपालिका के समस्त आवश्यक जानकारियों के बिना व्यवस्थापिका बजट का निर्माण नही कर सकती है। इसलिए आलोचकों को मत हैं कि व्यवस्थापिका बजट निर्माण करने में सक्षम नहीं होती। इस प्रकार बजट की परिपाटी अमेरिका में कतिपय शहरों तथा राज्यों में प्रचलन में रही है। किन्तु इस प्रकार से तैयार किए जाने वाले बजट अधिक पुख्ता एवं व्यावहारिक नहीं हो सकते। सामान्यतः इस प्रणाली से बजट का निर्माण नहीं किया जाता है।

2. कार्यपालिका बजट :

ऐसी प्रणाली जिसमें बजट का निर्माण कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है और व्यवस्थापिका की स्वीकृति मिल जाने पर इसे लागू करने की जिम्मेंदारी कार्यपालिका के पास ही रहती है। वित्तीय प्रशासन में कुशलता लाने तथा मितव्ययता के सिद्वान्त को अपनाने के लिए आज दुनिया के अधिकांश देशों में कार्यपालिका प्रणाली के बजट को ही अपनाया गया है।

3. मण्डल या आयोग प्रणाली का बजट :

जब बजट का निर्माण किसी आयोग अथवा बोर्ड या मण्डल द्वारा तैयार किया जाता है तो उसे आयोग प्रणाली बजट कहते हैं। इन आयोगों के सदस्य प्रशासकीय अधिकारी होते हैं। यह व्यवस्था अमरीका के कुछ राज्यों में पाई जाती है। यह प्रकिया वित्त पर से कार्यपालिका के एकाधिकार को हटाने के लिए अथवा बजट के निर्माण में स्वंतंत्र प्रशासनिक अधिकारियों को कार्यपालिका का साथ देने के लिए अपनाई जाती है।

वर्तमान में विश्व के अधिकांश देशों में बजट निर्माण की कार्यपालिका प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय है क्योंकि यह अधिक व्यावहारिक है तथा बजट प्रस्तावों के क्रियान्वयन की दृष्टि से इस प्रणाली को अधिक प्रभावशाली कहा जा सकता है।

निष्कर्ष :

अनेक देशों में अवांछित, पुराने, बेकार और अनुपयोगी कार्यक्रमों को समाप्त करने के लिए नीति समीक्षा को औपचारिक प्रक्रिया के रूप में बजट निर्माण हेतु उपयोग किया जाता है। इसे सूर्यास्त विधान (Sunset Legislation) कहते है। यह कार्यक्रम के वैधानिक प्राधिकार की समाप्ति की व्यवस्था करके अपने आप पीछे हो जाने वाले सरकारी कार्यक्रमों के विचार को साकार करता है। इसके लिए सरकारी कार्यक्रमों पर विधायी अधिनियमों में दी समय सीमा बाँध दी जाती है और ऐसी व्यवस्था की जाती है कि जब तक एक विस्तृत पुनरवलोकन के बाद विधायिका द्वारा उनको मजबूती से दोबारा जीवित न किया जाए, वे अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

सूर्यास्त विधान के लाभ इस प्रकार हैं :

1. यह सरकारी खर्चो में मितव्ययता को सुनिश्चित करता है।
2. यह सरकारी गतिविधियों के अनावश्यक फैलाव को रोकता है।
3. यह किसी भी कार्यक्रम को निश्चित समायावधि में पूरा करता है।

व्यवहार में इस विधान में प्रत्येक योजना, परियोजना की अवसान तिथि इनके निर्माण के साथ ही तय कर दी जाती है, जिस प्रकार सूर्य उदय होने के साथ ही उसके अस्त होने तक का समय तय रहता है। यह बजट का विशिष्ट प्रकार तो नहीं है लेकिन बजट निर्माण में काम आने वाली एक तकनीक है, जिसका स्तेमाल सभी प्रकार के बजट में किया जा सकता है। अलग–अलग समय में अलग–अलग देशों में वहाँ कि विचारधारा के अनुरूप बजट के प्रकार को अपनाया गया है। भारत में भी समय के साथ बजट के स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन आए है।

स्वतंत्रता के समय जहाँ देश में लाइन–आइटम बजट पर जोर था, वहीं आज आउटकम बजट पर बल दिया जाता है। बजट नियोजन का ही दूसरा नाम है। आज उदारीकरण व वैश्वीकरण के युग में संकेतात्मक नियोजन प्रणाली बढ़ रही है। फलतः बजट भी अब विशिष्ट उद्देश्यों के साथ बनाए जाते है।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. बजट वार्षिक आधार पर होना चाहिए। अर्थात विधायिका द्वारा कार्यपालिका को धन एक वित्तीय वर्ष के लिए दिया जाना चाहिए अगर स्वीकृत धन वित्तीय वर्ष के अंत तक खर्च नहीं होता तब शेष धनराशि को समाप्त हो जाना चाहिए, और इसे कोषागार को लौटा देना चाहिए। इस परिपाटी को कालातीत का नियम कहते हैं। भारत और इंग्लैण्ड में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक होता है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में 1 जुलाई से 30 जून तक और फ्रांस में 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक का वित्तीय वर्ष होता है।
2. बजट शब्द की व्युत्पत्ति ब्रिटिश कॉमन्स सभा में तत्कालीन वित्त मंत्री द्वारा प्रस्तुत सरकार के आय–व्यय के संबंध में प्रस्तुत किए गए कागजातों से माना जाता है। बजट मे बीते हुए वर्ष तथा आगामी वर्ष की वार्षिक योजनाएँ एवं उनकी राशि निर्धारित की जाती है।
3. बजट का निर्माण तीन प्रकार से होना बताया गया है यथा– व्यवस्थापिक प्रणाली द्वारा बजट का निर्माण करना, कार्यपालिका द्वारा बजट का निर्माण करना एवं आयोग प्रणाली द्वारा बजट का निर्माण करना लेकिन इनमें से वर्तमान में कार्यपालिका द्वारा निर्मित किए जाने वाले बजट को ही विश्व के अधिकांश देशों ने महत्ता दी है।
4. बजट राष्ट्र की समृद्धि का दर्पण है जिसमें उसका चेहरा विश्व के राष्ट्रों के समक्ष प्रस्तुत होता है कि वह धनवान है, समृद्ध है या विकासशील या अविकसित मात्र।
5. प्रशासन की सुव्यवस्थिता हेतु बजट के कुछ सिद्धान्त सामने आए हैं जैसे बजट सन्तुलित होना चाहिए, आय–व्यय का अनुमान वास्तविकता पर आधारित हो, वार्षिक बजट की व्यवस्था हो, आय तथा व्यय को उसी वर्ष बजट में सम्मिलित किया जाए, बजट का निर्माण 'शुद्ध आय' पर न होकर 'सकल आय' पर होना चाहिए।
6. बजट के निर्माण की भी एक सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया मानी गई है, जिससे कि वह व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक हो। भारत में 1 अप्रेल से 31 मार्च का समय वित्तीय वर्ष (बजट वर्ष) कहलाता है।
7. बजट का निर्माण हो जाने पर उसे संसद में पेश किया जाता है जिस पर उपस्थित सभी सदस्य सामान्य वाद–विवाद करते है।
8. भारत में सर्वप्रथम 2005 में परिणामोन्मुखी बजट (OutCome Budget) प्रस्तुत किया गया। इसके अन्तर्गत आम बजट में आंवटित धनराशि का विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों ने क्या तथा कैसे उपयोग किया, इसका पूर्ण विवरण देना होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. लैंगिक बजट का सम्बन्ध किससे है ?
(अ) महिला एवं शिशु कल्याण (ब) सैनिक कल्याण
(स) सहकारिता का विकास (द) वृद्धजनों का कल्याण

2. भारत में परिणामोन्मुखी बजट सर्वप्रथम कब आया?
(अ) 2004 (ब) 2005 (स) 2006 (द) 2007

3. भारत में वित्तीय वर्ष कब से कब तक माना जाता है?
(अ) 1 जनवरी से 31 दिसम्बर
(ब) 1 मार्च से 30 अप्रेल
(स) 1 अप्रेल से 31 मार्च
(द) 15 अगस्त से 14 अगस्त

4. 'बजट' शब्द 'बोजते' (Bougette) शब्द से बना है, यह बजट शब्द किस भाषा से संबंधित है ?
(अ) फ्रेंच (ब) इंग्लिश (स) लैटिन (द) स्पैनिश

5. 'बजट' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किस सन् में किया गया ?
(अ) 1768 (ब) 1773 (स) 1947 (द) 1980

6. संक्षेप में बजट से तात्पर्य है :
(अ) आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सरकारी खर्चों और विनियोगों का अनुमान
(ब) आगामी वित्तीय वर्ष की सरकारी आय का अनुमान
(स) सरकारी कोष में मौजूदा स्थिति का उल्लेख
(द) उपर्युक्त सभी

7. "बजट एक निश्चित अवधि के लिए सरकारी की वित्तीय योजना है" यह मत है –
(अ) रेने स्टार्म (ब) विलोबी
(स) टेलर (द) मुनरो

8. बजट का निर्माण प्रायः सभी देशों में किया जाता है ।
(अ) 5 वर्ष के लिए (ब) 2 वर्ष के लिए
(स) 3 वर्ष के लिए (द) 1 वर्ष के लिए

अति लघूरात्तमक प्रश्न :

1. प्रशासनिक दृष्टि से समस्त प्रशासन का जीवन रक्त किसे कहा गया है ?
2. वित्तीय प्रशासन का प्रमुख उपकरण कौन–सा है ?
3. फ्रेंच भाषा के शब्द 'बोजते' (Bougettee) से क्या अभिप्राय है ?

4. ''बजट एक प्रलेख है जिसमें सरकारी आय–व्यय की एक प्रारंभिक अनुमोदित योजना रहती है।'' यह मत किसका है ?
5. सामान्यतः लोक प्रशासन में बजट के कितने प्रकारों का उल्लेख मिलता है ?

लघूरात्तमक प्रश्न :

1. ''बजट'' शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई ?
2. 'मुनरो' ने बजट को किस प्रकार परिभाषित किया है?
3. बजट के विभिन्न प्रकार कौन–कौन से है ?
4. बजट के विभिन्न सिद्धान्त क्या है ?
5. लैंगिक बजट से क्या तात्पर्य है ?
6. जीरो बेस बजट को समझाइए।
7. निष्पादन बजटिंग के प्रमुख उद्देश्य बताइए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. बजट को परिभाषित करते हुए इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए ?
2. बजट के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ?

उत्तरमाला :

1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (अ)
5. (ब) 6. (द) 7. (स) 8. (द)

अध्याय – 20

भारत में बजट
(Budget in India)

बजट किसी भी राष्ट्र के लक्ष्यों का दर्पण होता है। यह एक वित्तीय योजना है। स्वतत्रंता प्राप्ति के पश्चात् , वित्तीय प्रशासन के उद्देश्यों, नीतिगत ढांचों एवं पर्यावरण में उग्र परिवर्तन हुये। इन्हें स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं व अपेक्षाओं के अनुरुप बनाया गया। भारत ने लोक कल्याणकारी राज्य का आदर्श स्वीकार किया । लोक कल्याणकारी राज्य वह होता है जो सभी लोगों के कल्याण हेतु प्रयास रत रहता है। बजट कल्याणकारी योजनाओं को प्रस्तुत करने का सबसे अधिक सशक्त साधन है। आजादी के बाद बजट ही वह उपकरण था, जिससे उभरते भारत की तस्वीर को ढ़ाला जा सकता था। भारत के दासता से स्वंतत्र होकर गणतांत्रिक राज्य बनने से लोकमत एवं वित्तीय प्रशासन को लक्षित करने वाली आंकाक्षाओं तथा नीतियों और प्रक्रियाओं के मध्य का द्वंद एक ही दिन में मिट गया। यद्यपि भारत सरकार अधिनियम, 1935 के मूलभूत लक्षणों को बनाये रखा था, तथापि इन साधनों को परिवर्तित उददेश्यों के अनुसार बदला जा सकता था और ऐसा ही किया भी गया।

भारत में बजट प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 112 से 117 तक में दिये गये प्रावधानों को पालन करती है। इसके अनुसार संघ का वार्षिक बजट जो आय–व्यय अनुमानों का वित्तीय विवरण कहलाता है, संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबध में प्रस्तुत किया जाना चाहिये।

भारत में बजट का इतिहास :

भारत में आधुनिक बजट प्रणाली की शुरुआत ब्रिटिश काल में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के वित्त सदस्य जेम्स विल्सन ने 18 फरवरी, 1860 को बजट प्रस्तुत करके की। 1860 से ही भारत में अप्रेल से मार्च का बजट वर्ष या वित्तीय वर्ष की प्रणाली शुरु हुई। स्वतंत्र भारत का प्रथम केन्द्रीय बजट 26 नवम्बर 1947 को आर.के. शनमुखम चेट्टी द्वारा प्रस्तुत किया गया। 1992–93 के बजट से भारत में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत की गई। वर्ष 1999–2000 तक, केन्द्रीय बजट फरवरी माह के अंतिम कार्य–दिवस को सांय 5 बजे घोषित किया जाता था। यह औपनिवेशिक परम्परा थी। 2000–2001 से केन्द्रीय बजट का समय बदल दिया गया एवं इसे दिन में 11 बजे घोषित किया जाने लगा। वित्त वर्ष 2017–18 से आम बजट 1 फरवरी को प्रस्तुत किया जाने लगा है। संसद में आम बजट वित्त मंत्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तथा अभी तक रेल मंत्री रेल बजट प्रस्तुत करते आए है।

भारत में बजट सरकार की प्राप्तियों एवं भुगतान को तीन भागों में दर्शाता है, जिनके अन्तर्गत सरकारी खाते रखे जाते हैं :

1. संचित निधि, 2. आकस्मिक निधि, एवं 3. सार्वजनिक खाता।

भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) :

सरकार द्वारा किया गया समस्त राजस्व, इसके द्वारा प्राप्त किये गये ऋण तथा संचित निधि में से प्रदान किये गये ऋणों की अदायगी से प्राप्त धन को मिलाकर संचित निधि का निर्माण किया जाता है। सरकार का समस्त व्यय (खर्चा) संचित निधि में से किया जाता है, तथा इस निधि में से संसद की स्वीकृति के बिना कोई भी राशि नही निकाली जा सकती। अर्थात इसमें से धन लेने से पहले संसद से अनुमति जरुरी हैं।यह राजस्व– प्राप्तियों (कर एवं कर–अतिरिक्त राजस्व) एवं इस राजस्व में से किये गये व्यय से मिलकर बनती है। बजट में दर्शाये गये राजस्व–प्राप्तियों के अनुमान वित्तीय अधिनियम में प्रस्तावित कर प्रस्तावों के प्रभावों को भी ध्यान में रखते है। सरकार के राजस्व– आय के अन्य **स्रोत** है : ब्याज एवं निवश पर प्राप्त लाभ, शुल्क तथा सरकार द्वारा प्रदान की गई अन्य सेवाओं से प्राप्त आय।

आकस्मिक निधि (Contingency Fund) :

ऐसे आपात अवसर भी आ सकते है जब कि सरकार को कोई अत्यावश्यक आकस्मिक व्यय संसद की स्वीकृति के विचाराधीन हुए बिना भी करना पड़े। आकस्मिक निधि राष्ट्रपति के अधिकार में दी गई अग्रिम धन राशि है जो कि इस प्रकार के व्यय के लिये होती है, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर अचानक व तुरन्त करना होता है। इस व्यय के लिये राशि निकालने के लिये संसदीय स्वीकृति बाद में ले ली जाती है तथा आकस्मिक निधि में से निकाला गया धन उसमें वापिस लौटा दिया जाता है। अभी संसद द्वारा अधिकृत इस निधि में कुल संग्रहित राशि में 500 करोड रुपये है।

सार्वजनिक खाता (Public Account) :

संचित निधि के अलावा सरकार को सामान्य आय एवं व्यय के लिये सरकारी खातों में कुछ ऐसे लेन–देन भी किये जाते हैं जिनके संबंध में सरकार एक बैंकर के समान कार्य करती हैं – उदाहरण के लिये भविष्य निधि, लघु बचत खाता संग्रह, अन्य जमा निधि इत्यादि इस प्रकार प्राप्त धन है, जिन्हें सार्वजनिक खाते में रखा जाता है तथा संबंधित भुगतान भी उसी में से किये जाते हैं। सामान्य बोली में ,इस खाते में जमा धन सरकार का नही होता तथा यह धन एक समय पर उन व्यक्तियों अथवा अधिकारियों को वापिस लौटाना होता है जिन्होंने उसे जमा कराया था। अतः सार्वजनिक खाते में से भुगतान के लिये संसदीय स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती।

प्रभारित व्यय (Charged Expenditure) :

संविधान के अन्तर्गत व्यय की कुछ मदें जैसे राष्ट्रपति के परिलब्धियाँ एवं भत्ते , राज्य सभा के सभापति एवं उपसभापति तथा लोक सभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन एवं भत्ते, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा महालेखा परीक्षक का वेतन पेंशन, सरकार द्वारा प्राप्त ऋणों एवं उनके ब्याज की अदायगी तथा न्यायालयों के आदेशों का पालन करने के लिये भुगतान इत्यादि संचित निधि से दिये जाते हैं। इस पर संसद द्वारा वोट नही किया जाता है। संचित निधि में से किया गया प्रभारित व्यय बजट में पृथक रुप से दर्शाया जाता है। अर्थात वित्त मंत्रालय जिन बजट अनुमानों को संसद में प्रस्तुत करने के लिये अंतिम रुप देता है। उनमें व्यय दो प्रकार के होते हैं । भारत के समेकित कोष से ' प्रभारित व्यय ' और वे व्यय जो इस समेकित कोष से ' किये जाते ' हैं। संसद प्रभारित व्यय पर मतदान नहीं कर सकती अर्थात संसद इस पर केवल चर्चा कर सकती है जबकि दूसरे प्रकार के व्यय पर संसद में मतदान होना जरुरी है। प्रभारित व्यय की सूची निम्नलिखित है :

1. राष्ट्रपति की परिलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके कार्यालय संबंधी अन्य खर्चे।
2. राज्य सभा के सभापतियों तथा उपसभापतियों एवं लोकसभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।
3. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते और पेंशन ।
4. उच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों की वेतन, भत्ते और पेंशन, जिनके न्यायक्षेत्र में भारत का कोई भी क्षेत्र शामिल है।
5. नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का वेतन, भत्ते और पेंशन।
6. संघ लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों के वेतन, भत्ते और पेंशन।
7. सर्वोच्च न्यायालय, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक कार्यालय और संघ लोक सेवा आयोग कार्यालय के कर्मचारियों के वेतन, भत्तों और पेंशन सहित उनके प्रशासनिक खर्चे।
8. वे ऋण प्रभार जिनकी दायिता भारत सरकार पर है। इनमें ब्याज और कर्ज उठाने संबंधी निक्षेप, धन प्रभार, ऋण मोचन प्रभार तथा इन जैसे अन्य खर्च और ऋण सेवा तथा मोचन खर्च शामिल है।
9. किसी न्यायालय या मध्यस्थता ट्राइब्यूनल के किसी निर्णय, आदेश अथवा अधिनियम की पूर्ति के लिए अपेक्षित कोई धनराशि।
10. इस प्रकार से प्रभारित कोई अन्य व्यय।

भारतीय बजट के घटक :

भारत में सरकारी बजट के अन्तर्गत निम्नलिखित घटक समाविष्ट होते है :

1. राजस्व बजट, एवं 2. पूँजी बजट।

राजस्व बजट : यह राजस्व– प्राप्तियों (कर एवं कर–अतिरिक्त राजस्व) एवं इस राजस्व में से किये गये व्यय से मिलकर बनता है। बजट में दर्शाये गये राजस्व–प्राप्तियों के अनुमान वित्तीय अधिनियम में प्रस्तावित कर प्रस्तावों के प्रभावों को भी ध्यान में रखता है। सरकार के राजस्व– आय के अन्य **स्रोत** है : ब्याज एवं निवेश पर प्राप्त लाभ, शुल्क तथा सरकार द्वारा प्रदान की गई अन्य सेवाओं से प्राप्त आय।

पूँजीगत बजट :

इसमें पूँजीगत आय एवं भुगतान सम्मिलित किये जाते हैं। पूँजीगत आय की मुख्य मदें हैं सरकार द्वारा जनता से लिया गया ऋण, जो कि बाजार ऋण कहलाता है, सरकार द्वारा रिजर्व बैंक तथा अन्य पक्षों से सरकारी हुण्डियों को बेचकर प्राप्त की गई उधार राशि , विदेशी सरकारों एवं संस्थाओं से प्राप्त ऋण तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की सरकारों को प्रदान किये गये ऋणों की वापसी। पूँजीगत भुगतान में परिसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये पूँजी व्यय जैसे भूमि, भवन, मशीनरी, शेयरों इत्यादि में किया गया निवेश तथा केन्द्र द्वारा राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की सरकारों , सरकारी कम्पनियों, निगमों एवं अन्य दिये गये ऋण सम्मिलित हैं। पूँजीगत बजट में सार्वजनिक खाते में से किये गये भुगतान भी सम्मिलित हैं।

अनुदान के लिये माँग : बजट में सम्मिलित संचित निधि में से व्यय के अनुमान जिन पर कि लोकसभा द्वारा वोट डाले जाते हैं अनुदानों के लिये माँगों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सामान्यतः प्रत्येक मंत्रालय अथवा विभाग के संबंध में अनुदान के लिये एक माँग प्रस्तुत की जाती है तथापि बडे मंत्रालयों अथवा विभागों के लिये दो माँगे भी प्रस्तुत की जाती है। सामान्यतः प्रत्येक माँग में एक सेवा के लिये आवश्यक कुल प्रावधान सम्मिलित होते हैं, जैसे कि राजस्व व्यय, पूँजी व्यय, राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों की सरकार को प्रदान किया गया अनुदान एवं सेवाओं से संबधित ऋण एवं अग्रिम राशि। जहाँ पर किसी सेवा के लिये किया गया प्रावधान पूर्णतया संचित निधि में से होता है, (जैसे ब्याज भुगतान के लिये एक पृथक विनियोग जो कि माँग से होता है), वहाँ संसद को उस पर वोट देने की आवश्यकता नहीं होती । तथापि जहाँ पर सेवाओं पर व्यय में दोनों ही (वोट एवं प्रभारित व्यय की मदें) सम्मिलित होती है वहाँ प्रस्तुत की गई माँगों में प्रभारित व्यय भी सम्मिलित किये जाते हैं परन्तु वोट एवं प्रभारित व्यय अलग–अलग दर्शाये जाते हैं।

केन्द्रीय सरकार के कुल व्यय में योजना व्यय का भी महत्वपूर्ण अंग होता है। विभिन्न मंत्रालयों की अनुदान मांग योजना एवं योजना भिन्न व्यय पृथक मदों के अन्तर्गत अलग–अलग दर्शाती है। इस प्रपत्र में प्रत्येक मंत्रालय के लिये कुल योजना व्यय दर्शाया जाता है जो कि विकास की विभिन्न मदों के अन्तर्गत क्रमानुसार रखा जाता है तथा अधिक महत्वपूर्ण योजना कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के प्रावधानों को प्रकाश में लाया जाता है। रेलवे एवं दूरसंचार सेवायें आदि सरकार के व्यावसायिक उपक्रम है। रेल बजट तथा रेल व्यय से संबंधित माँगे संसद में अलग से प्रस्तुत की जाती हैं। तथापि रलवे की कुल आय एवं व्यय केन्द्रीय बजट में शामिल किये जाते हैं। दूरसंचार विभाग की अनुदान के लिये मांगे केन्द्रीय सरकार की अन्य मांगो के साथ प्रस्तुत की जाती है। अब रेल बजट का आम बजट में विलय कर दिया गया है।

भारत में बजट निर्माण :

'बजट निर्माण' का अर्थ है बजट अनुमानों का अर्थात प्रत्येक वित्त वर्ष के संबंध में भारत सरकार के व्यय (खर्च) और

प्राप्तियों (आय) के अनुमानों का विवरण तैयार करना। भारत में वित्त वर्ष 1 अप्रेल से 31 मार्च तक होता है।

वर्ष 2016–17 तक भारत सरकार के दो बजट पेश होते रहे है– रेलवे बजट और आम बजट। 1921 में एकवर्थ कमेटी की सिफारिश पर रेल बजट को आम बजट से अलग कर दिया गया था। रेल बजट में केवल रेल मत्रांलयों के खर्चों और आमदनी के अनुमान होते हैं जबकि आम बजट में भारत सरकार के सभी मत्रांलयों (सिवाय रेल के) के व्यय और प्राप्तियों के अनुमान शामिल होते हैं।

बजट निर्माता अभिकरण (Agencies) :

बजट निर्माण में अग्रलिखित अभिकरण शामिल होते हैं।

1. वित्त मंत्रालय : बजट बनाने की पूरी जिम्मेंदारी इसी मंत्रालय की है। और यह अपेक्षित नेतृत्व एवं दिशा प्रदान करता है। भारत सरकार का वित्त मंत्रालय अत्यावश्यक मंत्रालयों में अग्रणी है। इसकी शुरुआत आजादी से पहले 1810 में हुई । वित मंत्रालय में अनेक विभाग है। इनमें आर्थिक विभाग का दायित्व देश के आम बजट तथा जिस राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा हुआ है वहाँ का बजट तैयार करने का दायित्व रहता है। भारत में वित्त मंत्रालय के दायित्व अत्यंत व्यापक है तथापि बजट का निर्माण एवं संसद में इसका प्रस्तुतीकरण सबसे महत्वपूर्ण है। बजट निर्माण का दायित्व वित्त मंत्रालय के आर्थिक कार्य विभाग का बजट संभाग संभालता है। यह विभाग देश की आर्थिक प्रवृत्तियों पर भी निगरानी रखता है। यह विभाग बजट के पूर्व संसद में प्रस्तुत किये जाने वाले वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण भी तैयार करता है। यह सर्वेक्षण भारतीय अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सारपूर्ण विकास एवं परिवर्तनों का विभागवार अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें समकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी किया जाता है। वित्त मंत्रालय बजट के माध्यम से देश की अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति की सही व्याख्या प्रस्तुत करता है।

2. प्रशासनिक मंत्रालय – इनको प्रशासनिक आवश्यकताओं का विस्तृत ज्ञान होता है। ये बतलाते हैं कि सम्बंधित मंत्रालय को आने वाले वर्ष में अपने दायित्यों के संचालन हेतु कितने धन की आवश्यकता है।

3. नीति आयोग – यह बजट में योजना की प्राथमिकताओं को शामिल करने का काम करता है। दूसरे शब्दों में बजट में योजना की प्राथमिकताओं को सम्मिलित कराने के लिये वित्त मंत्रालय नीति आयोग से निकट सम्पर्क बनाये रखता हैं। पहले यह कार्य योजना आयोग करता था।

4. नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक : यह बजट अनुमानों के निर्माण के लिए आवश्यक लेखा विधि कौशल उपलब्ध कराता है। जो बजट निमार्ण हेतु आवश्यक है।

अवस्थाएँ / प्रकियाएँ :

भारत में बजट का निर्माण कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। बजट निर्माण का प्रत्येक चरण महत्वपूर्ण होता है। ये अवस्थाऐं अग्रलिखित है :

1. आहरण एवं वितरण अधिकारियों (Drawing and Disbursing Officers) द्वारा अनुमानों की तैयारी : वित्त वर्ष प्रांरभ होने से 5–6 महीने पहले अर्थात सितम्बर–अक्टुम्बर में वित्त मंत्रालय प्रशासनिक मंत्रालय को परिपत्र और प्रपत्र भेजकर उससे आगामी वित्त वर्ष के खर्चों के अनुमान मँगता है । प्रशासनिक मंत्रालय इन प्रपत्रों को अपनी ओर से स्थानीय / क्षेत्रीय अधिकारियों अर्थात संवितरण अधिकारियों को भेज देते हैं। इन प्रपत्रों में अनुमान तथा अन्य अपेक्षित सूचनाएँ भरनी होती है और इनमें से प्रत्येक में निम्नलिखित खाने होते हैं :

1. विनियोगों के शीर्ष तथा उपशीर्ष
2. पिछले वर्ष के वास्तविक आँकडे
3. चालू वर्ष के लिए स्वीकृत बजट अनुमान
4. चालू वर्ष के संशोधित अनुमान
5. अगले वर्ष के प्रस्तावित अनुमान (किसी बढोतरी या कमी के कारण सहित)
6. चालू वर्ष के लिए उपलब्ध वास्तविक आँकडे (अनुमान तैयार करते समय)
7. आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन

2. विभागों तथा मंत्रियों द्वारा संवीक्षा एवं समेकन (Scrutiny and Consolidation) :

संवितरण अधिकारियों से अनुमान प्राप्त करने के बाद विभागीय प्रमुख सम्पूर्ण विभाग के लिये इनकी संवीक्षा और समेकन करते हैं तथा प्रशासनिक मंत्रालय को प्रस्तुत कर देते हैं। प्रशासनिक मंत्रालय अपनी विभागीय नीति के प्रकाश में इन अनुमानों की संवीक्षा और पूरे मंत्रालय के लिए इनका समेकन करता है। तथा वित मंत्रालय (आर्थिक मामले के विभाग के बजट प्रभाग) को प्रस्तुत कर देता है।

3. वित मंत्रालय द्वारा संवीक्षा (Scrutiny): प्रशासनिक मंत्रालय से प्राप्त अनुमानों की संवीक्षा व्यय की मितव्ययता और राजस्व की उपलब्धता के दृष्टिकोण से वित मंत्रालय द्वारा की जाती है। "स्थायी परिव्ययों" के मामले में संवीक्षा नाममात्र की, पर व्यय की नई मदों के मामले में अधिक कड़ी होती है।

4. विवादों का निपटारा : बजट अनुमानों में किसी प्रकार की योजना को शामिल करने के प्रश्न पर यदि प्रशासनिक मंत्रालय और वित्त मंत्रालय के बीच मतभेद होता है तो प्रशासनिक मंत्रालय ऐसी योजना को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के सामने रख सकता है, जिसका निर्णय इस मामले में अंतिम होता है।

5. वित्त मंत्रालय द्वारा समेकन : इसके पश्चात् वित्त मंत्रालय व्यय पक्ष के बजट अनुमानों को समेकित करता है । फिर अनुमानित व्ययों के आधार पर वो केन्दीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड और केन्द्रीय अप्रत्यक्ष कर बोर्ड के परामर्ष से राजस्व अनुमान तैयार करता है। इस संबंध में वित्त मंत्रालय की सहायता आयकर विभाग तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क एवं सीमा शुल्क विभाग करते हैं।

6. मंत्रिमंडल द्वारा अनुमोदन : वित्त मंत्रालय समेकित बजट को मंत्रिमण्डल के सामने रखता है। मंत्रिमंडल के अनुमोदन के बाद ऐसे बजट को संसद में रखा जा सकता है। यहाँ यह बताना जरुरी है कि बजट गोपनीय दस्तावेज है और संसद में प्रस्तुत होने से पहले इसे बाहर नही आना चाहिए।

बजट अधिनियमन (Enactment of Budget)

'बजट अधिनियमन'' का अर्थ है संसद द्वारा पारित और राष्ट्रपति द्वारा अभिपुष्ट बजट की स्वीकृति अर्थात प्रत्येक वित्त वर्ष के संबंध में भारत सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और खर्चों के वार्षिक वित्तीय विवरण को स्वीकृति प्रदान करना। इससे सरकारी प्राप्तियों, आय और खर्चों को वैधानिकता मिल जाती है। इसका अर्थ है कि बजट को पारित किए बिना सरकार न तो धन एकत्र कर सकती है और न ही खर्च कर सकती है। आम बजट और रेल बजट दोनों पर यह कार्यविधि लागू होती है।

संवैधानिक व्यवस्थाऐं (Constitutional Provisions)

बजट अधिनियम (पारित) के संबंध में भारत के संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाऐ की गई हैं :

1. प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में राष्ट्रपति उस वर्ष के लिए भारत सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और खर्चो के विवरण को संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत कराएगा। इसे ' वार्षिक वित्तीय विवरण ' कहा जाता है। (अनुच्छेद,112)

2. अनुदान के लिए कोई माँग राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना नही की जाएगी। (अनुच्छेद 113)

3. भारत के समेकित कोष से कोई भी धन नहीं निकाला जा सकेगा सिवाय उसके जो विनियोजन कानून के अन्तर्गत आता है। (अनुच्छेद, 114)।

4. कर लगाने वाला कोई भी वित्त विधेयक संसद में राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना नहीं रखा जाएगा, और ऐसे विधेयक को राज्यसभा में प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। (अनुच्छेद 117)।

5. कानून के प्राधिकार के बिना न तो कोई कर लगाया जाएगा और न ही एकत्र किया जाएगा (अनुच्छेद 265)।

6. संसद किसी कर को कम या खत्म तो कर सकती है, पर बढ़ा नही सकती।

7. बजट अधिनियम (अर्थात वार्षिक वित्तीय विवरण) के संबंध में संविधान ने संसद के दोनों सदनों की सापेक्ष भूमिका या स्थिति को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है :

(1) कराधान संबंधी किसी धन विधेयक या वित्त विधेयक को राज्यसभा में नहीं रखा जा सकता। इसको केवल लोकसभा में रखा जाएगा।

(2) अनुदान की माँगों पर राज्यसभा को मतदान का अधिकार नहीं हैं। यह विशेषाधिकार केवल लोकसभा का है।

(3) राज्यसभा धन विधेयक (वित्त विधेयक) को लोकसभा को चौदह दिन के भीतर वापस कर देगी। राज्यसभा की इससे संबंधित सिफारिशों को लोकसभा स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है।

8. बजट में सम्मिलित व्यय अनुमान भारत के समेकित कोष से प्रभारित व्ययों को और इस कोष से किए जाने वाले व्ययों को अलग–अलग प्रदर्शित करेगें (अनुच्छेद 112)।

9. बजट राजस्व खाते पर आने वाले खर्चों तथा अन्य खर्चों में भेद करेगा। (अनुच्छेद 112)

10. भारत के समेकित कोष से प्रभारित खर्चों को संसद में मतदान के लिए नही रखा जाएगा, परन्तु संसद इस पर चर्चा कर सकती है (अनुच्छेद, 113)।

अधिनियमन की अवस्थाएँ :

संसद में बजट अग्रलिखित पाँच अवस्थाओं से गुजरता है

1. बजट प्रस्तुतीकरण
2. बजट पर आम बहस
3. अनुदान माँगों पर मतदान
4. विनियोजन विधेयक को पारित करना
5.वित्त विधेयक पारित करना।

1. बजट प्रस्तुतीकरण :

बजट निर्माण के पश्चात् उसे लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। लोकसभा के नियम 213 में व्यवस्था की गई है कि लोकसभा में बजट दो या अधिक भागों में प्रस्तुत किया जाएगा। प्रस्तुतीकरण के समय प्रत्येक भाग को बजट माना जाएगा। तदनुसार बजट दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है – रेल बजट और आम बजट। रेल बजट, आम बजट से पहले रखा जाता है। लोकसभा में रेल बजट रेल मंत्री द्वारा फरवरी के तीसरे सप्ताह में और आम बजट वित्त मंत्री द्वारा फरवरी के अंतिम कार्यदिवस में प्रस्तुत किया जाता रहा है।

रेल एवं आम बजट का एकीकरण :

भारत में एकवर्थ समीति (1921) के प्रतिवेदन पर 1924 से रेल बजट को आम बजट से पृथक प्रस्तुत करना आरम्भ किया गया था। 2016 के आरम्भ में नीति आयोग के सदस्य बिवेक देबराय की अध्यक्षता में गठित एक समिति ने पुनः इन दोनों बजट को मिलाने की संस्तुति की। अर्थात् आम बजट के साथ ही रेल बजट मिलाकर प्रस्तुत किया जाए। वर्ष 2017–18 के वित्त वर्ष से अब एक ही बजट प्रस्तुत किया जाना आरम्भ हो गया है।

औचित्य एवं लाभ : भारतीय रेल के लिए अलग बजट की 92 वर्ष पुरानी परम्परा को विराम देकर अब केन्द्रीय बजट के साथ विलय के अग्रलिखित औचित्य एवं लाभ है :

औचित्य :

1. 1924 में रेल बजट को अलग करने का निर्णय उस समय की विभिन्न जरूरतों के आधार पर हुआ था। तब देश में रेलवे के नेटवर्क में विस्तार हेतु इस पर पृथक से ध्यान देना आवश्यक था। उस समय की कई जरूरते अब नहीं रही।

2. आज रक्षा तथा परिवहन विभाग का आकार रेलवे से भी ज्यादा बड़ा है। जब इनके लिए अलग से बजट नहीं है तो फिर रेलवे के लिए अलग बजट प्रासंगिक नहीं लगता।

लाभ – रेल बजट को आम बजट में मिलाने से रेलवे को अग्रलिखित लाभ है :

1. सभी रेलवे प्रस्ताव अब आम बजट का हिस्सा रहेंगे।

2. रेलवे का राजस्व घाटा तथा पूंजीगत व्यय वित्त मंत्रालय के खातों में स्थानांतरित होंगे।

3. रेलवे में पूंजीगत व्यय बढ़ाने में मदद मिलेगी।

4. केन्द्र सरकार को एक सहज भविष्योन्मुखी परिवहन रणनीति बनाने में मदद मिलेगी।

5. रेल्वे को हर वर्ष सकल बजट समर्थन में सरकार को बड़ी राशि का लाभांश (Divident) देना होता है। अब रेल्वे को यह लाभांश नहीं देना होगा।

व्यवहार में दोनों बजट के विलय से किसी तरह का

कोई मुद्दा खड़ा होने की आशंका नहीं है। बजट का विलय मूलतः प्रक्रियात्मक ही होगा। इससे सरकार की बजट गणना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

आम बजट को वित मंत्री एक भाषण के साथ प्रस्तुत करते हैं। जिसे बजट भाषण कहा जाता है। लोकसभा में बजट भाषण समाप्त होने पर बजट को राज्यसभा में रखा जाता है जो इस पर केवल चर्चा कर सकती है लेकिन अनुदान मांगों पर मतदान करने का अधिकार नहीं रखती।

लोकसभा में बजट के साथ निम्नलिखित दस्तावेज भी प्रस्तुत किये जाते हैं –

1. बजट के संबंध में व्याख्यात्मक प्रलेख
2. विनियोजन विधेयक (Appropriation Bill)
3. वित्त विधेयक – कराधान प्रस्तावों सहित (Finance Bill)
4. मंत्रालयों की वार्षिक रिपोर्ट
5. बजट का आर्थिक वर्गीकरण

2. आम बहस :

बजट पर आम बहस इसके प्रस्तुतीकरण के कुछ दिनों के बाद शुरु होती है। आमतौर पर तीन–चार दिन की यह बहस संसद के दोनों सदनों में चलती है। यह ब्रिटिश विरासत है। इस अवस्था पर लोकसभा पूरे बजट पर चर्चा कर सकती है अथवा इसके किसी सैद्वांतिक प्रश्न पर लेकिन इस दौरान ना तो कोई प्रस्ताव पेश हो सकता है और न ही बजट को सदन में मतदान के लिए रखा जा सकता है। बहस के अंत में वित्त मंत्री को इसका जवाब देने का अधिकार प्राप्त है।

3. अनुदान मांगों पर मतदान :

बजट पर सामान्य बहस की समाप्ति के बाद लोकसभा अनुदान मांगों पर मतदान की प्रक्रिया आंरभ करती है। मांगों को मंत्रालयों के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है। विधिवत मतदान होने के बाद मांग अनुदान बन जाती है। इस संदर्भ में दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। **प्रथम** : अनुदान मांगों पर मतदान का अधिकार केवल लोकसभा को है। **द्वितीय** मतदान बजट के केवल मतदान योग्य भाग तक सीमित है। मतदान के लिए उन खर्चों को प्रस्तुत नही किया जाता (जिन पर केवल चर्चा हो सकती है) जो भारत के समेकित कोष पर प्रभारित होते है। आम बजट में कुल मिलाकर 109 मांगें (103 नागरिक और 6 प्रतिरक्षा संबंधी खर्चों के लिए) होती हैं, प्रत्येक मांग पर अलग–अलग मतदान होता है। इस अवस्था पर सांसद बजट के विवरणों पर चर्चा कर सकते हैं। वे किसी अनुदान मांग को घटाने के प्रस्ताव भी रख सकते हैं। ऐसे प्रस्तावों को कटौती प्रस्ताव भी कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं।

नीति अस्वीकृति कटौती प्रस्ताव (Policy Cut Motion):

यह मांग की नीति की अस्वीकृति का प्रतिनिधित्व करता है। यह कहता है कि मांग की राशि को एक निश्चित राशि तक घटाया जा सकता है (जो कि मांग में एकमुस्त कटौती या फिर मांग में किसी एक वस्तु को शामिल न करना या उसकी कटौती हो सकता है)।

मितव्ययता कटौती प्रस्ताव (Economic Cut Motion) : यह प्रस्ताव मांग में से मितव्ग्यता के दृष्टिकोण से निश्चित धनराशि कम करने हेतु प्रस्तुत किया जाता है। यह जब लाया जाता है जब किसी संसद सदस्य को लगे कि किसी मांग में अनावश्यक खर्च किया जा रहा है।

सांकेतिक कटौती प्रस्ताव (Token Cut Motion) : यह किसी उस शिकायत को सामने लाती है जो भारत सरकार के उत्तरदायित्व के क्षेत्र के भीतर है। इसमें मांग की कुल धनराशि में से 100 रुपये घटाए जा सकते है।

मांगों पर मतदान के लिए कुल मिलाकर 26 दिन दिए जाते है। अंतिम, अर्थात 26 वें दिन अध्यक्ष शेष तमाम मांगों को मतदान के लिए प्रस्तुत करता है और उनको निपटा देता है, चाहे सदस्यों ने उस पर बहस की हो अथवा नहीं। इसको समापन (Guillotine) कहते हैं।

4. विनियोजन विधेयक पारित करना : संविधान के अनुसार– ''भारत के समेकित कोष से कोई भी धन कानून द्वारा विनियोजन के सिवाय नहीं निकाला जाएगा।'' अर्थात भारत सरकार की जनता के कल्याण के सन्दर्भ में जितने भी खर्चे एवं निवश किए जाते हैं, उनका उल्लेख विनियोजन

विधेयक में किया जाता है। अत विनियोजन विधेयक को प्रस्तुत किया जाता है जिससे भारत के समेकित कोष से वह सभी धन निकाला जा सके जो निम्नलिखित को पूरा करने के लिए आवश्यक है।

1. लोकसभा के द्वारा स्वीकृत अनुदान।
2. भारत के समेकित कोष से प्रभारित व्यय।

संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में विनियोजन विधेयक पर ऐसा कोई संशोधन पेश नही किया जा सकता जो स्वीकृत अनुदान की राशि में परिवर्तन करता हो या उसके गंतव्य स्थान को बदलता हो, अथवा भारत के समेकित कोष ;Consolidated Fund) से प्रभारित किसी व्यय की धनराशि को घटाता–बढ़ाता हो। राष्ट्रपति की सहमति मिल जाने के बाद विनियोजन विधेयक, विनियोजन अधिनियम बन जाता है। यह अधिनियम भारत के समेकित कोष से भुगतानों को वैधानिक बना देता है। इसका अर्थ है कि विनियोजन विधेयक जब तक अधिनियम नही हो जाता, सरकार कोई भी धन भारत के समेकित कोष से नही निकाल सकती। इसमें समय लगता है और आमतौर पर यह अप्रैल के अंत तक चलता है लेकिन 31 मार्च के बाद (अर्थात वित्तीय वर्ष के बाद) सरकार को अपने सामान्य कामकाज के लिये धन की जरुरत होती है। इस कार्यात्मक कठिनाई को पार करने के लिए संविधान द्वारा लोकसभा को यह अधिकार दिया है कि अनुदान मांगों पर मतदान प्रक्रिया पूरे होने और विनियोजन विधेयक के पारित होने तक वह वित्तीय वर्ष के एक भाग के लिए अनुमानित खर्च के संदर्भ में कोई अग्रिम अनुदान दे सकती है। इस व्यवस्था को लेखानुदान (Vote on Account) कहते हैं। यह बजट पर आम बहस पूरी होने के बाद पारित किया/दिया जाता है। आमतौर यह दो महीने के लिए होता है। और यह धन राशि कुल अनुमान के 1/6 हिस्से के बराबर होती है।

5. वित्त विधेयक पारित करना :

भारत सरकार द्वारा लगाए जाने वाले विभिन्न कर, शुल्क आदि का विवरण वित्त विधेयक में दिया जाता है। लोकसभा के नियम 219 के अधीन ' वित्तीय विधेयक ' का अर्थ

वह विधेयक है जो अगले वित्तीय वर्ष के लिए भारत सरकार के वित्तीय प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जाता है। और इसमें किसी भी काल के पूरक वित्तीय प्रस्तावों को कार्यान्वित करने का विधेयक शामिल होता है। विनियोजन विधेयक के विपरीत वित्तीय विधेयक के मामले में किसी कर को अस्वीकार या कम करने के लिए संशोधन रखे जा सकते हैं। कर संग्रह अधिनियम, 1931 के अनुसार वित्तीय विधेयक को 75 दिन के भीतर अधिनियमित, अर्थात संसद में पारित और राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत हो जाना चाहिए।

निष्कर्ष :

भारत में बजट का निर्माण एवं अधिनियमन की लम्बी प्रक्रिया है। व्यवहार में वित्तीय विधेयक बजट के आय पक्ष को वैधानिकता प्रदान करता है। और बजट अधिनियम की प्रक्रिया को पूरा करता है। विनियोग विधेयक जिससे सरकार धन खर्च करती है तथा वित्त विधेयक (जिससे सरकार कर लगाकर आय करती है) के पारित होकर राष्ट्रपति से स्वीकृति मिलने के साथ ही बजट निर्माण व पारित करने संबंधी प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात निर्मित बजट को लागू या क्रियान्वित करने का कार्य शेष रहता है। बजट का कार्यान्वन वित्त मंत्रालय के नियंत्रण तथा निर्देश पर विभिन्न प्रशासनिक मंत्रालयों तथा विभागों द्वारा किया जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, भारत में वर्तमान में (वित्त वर्ष 2016–17) रेल एवं आम बजट के रूप में दो बजट प्रस्तुत किए जाते हैं। वर्ष 2017–18 से भारत सरकार केवल एक आम बजट ही पेश कर रही है तथा रेल बजट को आम बजट में समायोजित किया गया है।

विद्यार्थियों को यह भी जानना चाहिए कि भारत में संसद के बजट सत्र में फरवरी के आखिरी कार्य दिवस के दिन आम बजट प्रस्तुत करने की परम्परा रही है, जबकि इसके एक दिन पहले देश की आर्थिक समीक्षा संसद में प्रस्तुत की जाती है और इसके भी एक दिन पहले अभी तक रेल बजट प्रस्तुत किया जाता है (2016–17 वित्त वर्ष तक)। इनकी प्रस्तुति को लेकर इन तारीखों का कोई नियम या कानून नहीं है। ये सब परम्पराओं से चले आ रहे है। इस सन्दर्भ में वर्तमान केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने तय किया है कि आगे से (2017–18) बजट सत्र तय समय से पहले बुलाया जाए, अभी संसद का बजट सत्र सामान्यतः 20 या 21 फरवरी से शुरू होता है तथा एक महिने के अवकाश के साथ मई या जून में समाप्त होता है। अब भारत सरकार का लक्ष्य है कि 31 मार्च तक बजटीय प्रक्रिया पूरी हो जाए। इससे टैक्स के कानून तथा खर्चे 1 अप्रेल से आसानी से लागू किए जा सके। भारत में बजट कल्याणकारी स्वरूप लिए हुए होता है। लोक कल्याण ही बजट का एकमात्र उद्देश्य होता है। अतः भारतीय जनता के विकास हेतु उनकी अपेक्षाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप सरकार द्वारा प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत किया जाता है।

महत्वपूर्ण बिन्दू

1. बजट किसी भी राष्ट्र के लक्ष्यों का दर्पण होता है। यह एक वित्तीय योजना है। स्वतत्रंता प्राप्ति के पश्चात्, वित्तीय प्रशासन के उददेश्यों, नीतिगत ढांचों एवं पर्यावरण में उग्र परिवर्तन हुये।
2. भारत बजट प्रक्रिया संविधान के अनुच्छेद 112 से 117 तक में दिये गये प्रावधानों को पालन करती है। इसके अनुसार संघ का वार्षिक बजट जो आय–व्यय अनुमानों का वित्तीय विवरण कहलाता है।
3. भारत में आधुनिक बजट प्रणाली की शुरुआत ब्रिटिश काल में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के वित्त सदस्य जेम्स विल्सन ने 18 फरवरी, 1860 को बजट प्रस्तुत करके की। 1860 से ही भारत में अप्रेल से मार्च का बजट वर्ष या वित्तीय वर्ष की प्रणाली शुरु हुई। स्वतंत्र भारत का प्रथम केन्द्रीय बजट 26 नवम्बर 1947 को आर.के. शनमुखम चेट्टी द्वारा प्रस्तुत किया गया।
4. भारत में बजट सरकार की प्राप्तियों एवं भुगतान को तीन भागों में दर्शाता है।
5. संविधान के अन्तर्गत व्यय की कुछ मदें जैसे राष्ट्रपति के पारिश्रमिक, राज्य सभा के सभापति एवं उपसभापति तथा लोक सभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन एवं भत्ते, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा महालेखा परीक्षक का वेतन, पेंशन, सरकार द्वारा प्राप्त ऋणों एवं उनके ब्याज की अदायगी तथा न्यायालयों के आदेशों का पालन करने के लिये भुगतान इत्यादि संचित निधि से दिये जाते हैं।
6. भारत सरकार के दो बजट होते है– रेलवे बजट और आम बजट। 1921 में एकवर्थ कमेटी की सिफारिश पर रेल बजट को आम बजट से अलग कर दिया गया था।
7. प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में राष्ट्रपति उस वर्ष के लिए भारत सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और खर्चो के विवरण को संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत कराएगा। इसे ' वार्षिक वित्तीय विवरण ' (अनुच्छेद 112) कहा जाता है।
8. 2016 के आरम्भ में नीति आयोग के सदस्य बिवेक देबराय की अध्यक्षता में गठित एक समिति ने पुनः इन दोनों बजट को मिलाने की संस्तुति की। अर्थात् आम बजट के साथ ही रेल बजट मिलाकर प्रस्तुत किया जाए। वर्ष 2017–18 के वित्त वर्ष से अब एक ही बजट प्रस्तुत किया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. भारत में बजट प्रक्रिया संविधान के किस अनुच्छेद में दी गई है ?
(अ) अनुच्छेद 02 से 07 (ब) अनुच्छेद 112 से 117
(स) अनुच्छेद 212 से 217 (द) अनुच्छेद 312 से 317
2. भारत में सर्वप्रथम बजट कब प्रस्तुत किया ?
(अ) 1860 (ब) 1870 (स) 1890 (द) 1900
3. भारत सरकार की प्राप्तियों तथा भुगतान को किस में दर्शाया जाता है ?
(अ) संचित निधि (ब) आकस्मिक निधि
(स) सार्वजनिक खाता (द) उपर्युक्त सभी
4. भारतीय बजट के घटक है –
(अ) राजस्व बजट (ब) पूंजी बजट
(स) अनुदान हेतु माँग (द) उपर्युक्त सभी
5. भारत में बजट का निर्माण कौन करता है ?
(अ) गृह मंत्रालय (ब) रक्षा मंत्रालय
(स) वित्त मंत्रालय (द) कृषि मंत्रालय
6. बजट अधिनियमन का अर्थ है :
(अ) बजट को पारित करना
(ब) बजट का निर्माण करना
(स) बजट का क्रियान्वयन करना
(द) उपर्युक्त में कोई नहीं
7. भारत में वित्तीय वर्ष कब से कब तक माना जाता है?
(अ) 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक
(ब) 1 मार्च से 30 अप्रेल तक
(स) 1 अप्रेल से 31 मार्च तक
(द) 15 अगस्त से 14 अगस्त तक

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. भारत में बजट किस अनुच्छेद के तहत प्रस्तुत किया जाता है ?
2. भारत में कितने मंत्रालय बजट प्रस्तुत करते है ?
3. अनुदान की माँग क्या है ?
4. वित्त मंत्री बजट कहां प्रस्तुत करते है ?
5. जेम्स विल्सन का बजट से क्या सम्बन्ध है ?
6. सार्वजनिक खाता किसे कहते है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. भारत में बजट का इतिहास बताइये।
2. प्रभारित व्यय की सूची लिखिए।
3. भारत में बजट निर्माणकारी अभिकरणों का उल्लेख कीजिए।
4. बजट के सम्बन्ध में संविधान में दी गई व्यवस्थाएँ समझाइये।
5. कटौती प्रस्ताव क्या होते है ? इनके प्रकार लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भारत में बजट का इतिहास बतलाते हुए सरकार के विभिन्न खातों का वर्णन कीजिए।
2. भारत में बजट निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
3. भारत में बजट के अधिनियमन (पारित) पर एक लेख लिखिए।

उत्तरमाला :

1. (ब) 2. (अ) 3. (द) 4. (द)
5. (अ) 6. (अ) 7. (स)

अध्याय–21
वित्तीय नियंत्रण
(Financial Control)

वित्तीय नियंत्रण से अभिप्रायः है वित्त पर नियंत्रण की व्यवस्था। यह नियंत्रण प्रत्येक तरह की शासन व्यवस्था को सुचारू ढंग से संचालित करने हेतु अपरिहार्य है। वित्तीय नियंत्रण के अभाव में सुशासन (Good Governance) की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में वित्त पर संसदीय नियंत्रण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि समस्त धन जनता का है जिस पर नियंत्रण करना जनता का अधिकार है, चूंकि जनता प्रत्यक्षतः स्वयं नियंत्रण नहीं कर सकती अतः वह अपने द्वारा निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से वित्त पर नियंत्रण बनाए रखती है। भारत में ग्रेट ब्रिटेन की तरह ही राष्ट्रीय व्यय पर नियंत्रण का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया के तहत सम्पन्न हुआ। भारत में 1921 ई. में केन्द्रीय कार्यकारिणी में निर्वाचित बहुमत का प्रावधान किया गया। इससे लोक लेखा समिति का गठन करना स्वतः आवश्यक हो गया। इस समिति के गठन के साथ ही भारत में व्यवस्थित रूप से वित्त पर लोकप्रिय नियंत्रण की संकल्पना आरम्भ हुई। विद्यार्थियों को यह जानना चाहिए कि वित्तीय नियंत्रण 'वित्त के माध्यम से नियंत्रण' तथा 'वित्त पर नियंत्रण' दोनों पहलुओं को शामिल करता है। वित्त के माध्यम से नियंत्रण का अर्थ है कि सरकार बजट तथा अन्य योजनाओं में खर्च की जाने वाली अधिकतम राशि की सीमा तय कर देती है। ऐसे में खर्च करने वाली कार्यकारिणी को इस सीमा में रहकर ही खर्च करना जरूरी हो जाता है। इस अध्याय में आगे वित्त के माध्यम से नियंत्रण पर विस्तृत विवेचन किया गया है। वित्त पर नियंत्रण रखकर भी सरकार वित्तीय नियंत्रण बनाए रखती है। इस हेतु देश के केन्द्रीय बैंक जैसे भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (RBI) के माध्यम से मुद्रा पर नियंत्रण रखा जाता है। इस हेतु रिजर्व बैंक समय समय पर मौद्रिक तथा अन्य नीतियाँ घोषित करता है। भारत में 9 नवम्बर 2016 से उस समय चल रहे 500 तथा 1000 रू की मुद्रा बन्द करना भी वित्त पर नियंत्रण के माध्यम से वित्तीय नियंत्रण का प्रकार है। यदि इसे प्रभावी ढंग से लागू किया जाए तो इससे देश के भीतर निहित जाली नोट एवं काला धन (Black Money) पर अंकुश लग सकता है। वर्तमान में भारत में वित्तीय नियंत्रण की व्यवस्था का अध्ययन अग्रलिखित घटकों से समझा जा सकता है–

1. वित्त मंत्रालय द्वारा वित्तीय नियंत्रण
2. वित्त पर विधायी नियंत्रण
3. संसदीय समितियों द्वारा नियंत्रण
4. लेखांकन (Accounting)
5. नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा नियंत्रण

1. वित्त मंत्रालय द्वारा वित्तीय नियंत्रण :

व्यय करने वाले विभिन्न मंत्रालयों व विभागों पर वित्त मंत्रालय का नियंत्रण संसद में बजट प्रस्तुत करने के साथ समाप्त नहीं होकर निरन्तर चलता रहता है। वित्त मंत्रालय धन को व्यय करने से पूर्व बजट निर्माण हेतु विभागों द्वारा भेजे गए अनुमानों की जाँच करता है। वित्त–मंत्रालय सरकार की वित्त–व्यवस्था हेतु उत्तरदायी होता है अतः प्रशासकीय मंत्रालयों को व्यय की अनुमति तभी देता है जब उसे विश्वास हो कि प्रस्तावित व्यय उचित है। वित्त मंत्रालय विभागों द्वारा किए जाने वाले खर्चे की जाँच करता रहता है। यह कार्य वित्त मंत्रालय के वित्तीय सलाहकारों द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार के सभी मंत्रालयों में 1976 में एकीकृत वित्तीय परामर्शदाताओं (Integrated Financial Advisers) की नियुक्ति की गई है। वित्त मंत्रालय द्वारा इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि बजट में आवंटित जो धन राशि किसी मंत्रालय/विभाग द्वारा खर्च नहीं की गई है उसे वित्तीय वर्ष समाप्त होने से पूर्व वित्त मंत्रालय को वापस करना होता है।

2. वित्त पर विधायी नियंत्रण :

विधायी नियंत्रण से अभिप्रायः है संसद या विधानमण्डलों द्वारा वित्त पर नियंत्रण। वित्त पर नियंत्रण का यह प्रभावशाली साधन है। सामान्य शब्दों में यह नियंत्रण जनता द्वारा निर्वाचित जनप्रतिनिधियों, सांसद, विधायक द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। संसद राजस्व, व्यय, ऋणदान तथा लेखे–जोखे पर नियंत्रण कर सकती है। ऋणों को बढाने, लोक व्यय के लिए संचित निधि में से धन निकालने, मौजूदा कर(Tax) की दरों में वद्धि तथा नए करों को लगाने के लिए विधायी स्वीकृति की आवश्यकता होती हैं। सार्वजनिक खातों की लोक लेखा समिति द्वारा जाँच की जाती है और एक सांविधिक प्राधिकरण द्वारा लेखा परीक्षण किया जाता है, जो कि कार्यपालिका से स्वतंत्र होता है। भारतीय संदर्भ में वित्तीय नियंत्रण के लिए निम्नलिखित चार नियमों का अनुसरण किया जाता है ।

1. मंत्रियों के रूप में कार्य करती हुई कार्यपालिका संसद की अनुमति के बिना ऋणदान, कराधान के द्वारा या दूसरे किसी उपाय से धन की व्यवस्था नहीं कर सकती, व्ययों के प्रस्ताव, जिनके लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती हैं, केवल मंत्रिमंडल द्वारा ही पेश किए जाने चाहिए।

2. दूसरा नियम धन विधेयकों पर लोक सभा का एकमात्र नियंत्रण हैं। इसे पहले लोकसभा में पेश किया जाता है और लोकसभा के पास ही यह अधिकार है कि वह व्यय को प्राधिकृत

करने के लिए ऋणों अथवा करों के रूप में धन की स्वीकृति दे सकती हैं। राज्यसभा अनुदान को अस्वीकार तो कर सकती है परन्तु इसे लागू नही करवा सकती हैं।

3. अनुदान की माँग सरकार द्वारा की जानी चाहिए। सरकार द्वारा अनुदान की मांग के अतिरिक्त किसी अनुदान को न तो राज्यसभा और न ही लोकसभा स्वीकृत कर सकती हैं।

4. इसी तरह किसी भी नए कर अथवा मौजूदा कर में वद्धि के प्रस्तावों को भी कार्यपालिका द्वारा पेश किया जाना आवश्यक हैं।

भारत में प्रश्न, कार्य स्थगन प्रस्ताव, संकल्प ,वोट, बजट तथा विधायी समितियाँ जैसे : लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति, अधीनस्थ विधान समिति और आश्वासन समिति ,विधायी नियंत्रण के साधन है।

वित्त पर विधायी नियंत्रण के इन तरीकों का वर्णन यहाँ संक्षेप में किया गया हैं :

(1) **प्रश्न काल :**

प्रत्येक संसदीय दिवस का पहला घंटा प्रश्नों के लिए रखा गया है जिससे नियंत्रण प्रभावी हो जाता है। इस समय संसद सदस्य वित्त मंत्री या अन्य मंत्री से वित्तीय पहलुओं पर प्रश्न कर सकते है। पूछे गए प्रश्न समूचे प्रशासन को सावधान कर सकते हैं। प्रश्न प्रशासन की नीतियों तथा गतिविधियों के विभिन्न पहलुओं पर जनता के ध्यान को प्रभावशाली ढंग से संकेन्द्रित करने का सफल साधन हैं। किसी भी प्रशासनिक कार्यवाही पर प्रश्न किया जा सकता हैं। हालांकि सदस्य मंत्री को उत्तर देने के लिए बाध्य नही कर सकते। अध्यक्ष भी कुछ प्रश्नों को अनुमति नही देता। आमतौर पर प्रश्न कमजोर मद्दों पर सरकार पर प्रहार करने के लिए अथवा किसी विषय पर मंत्री की राय तथा सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से पूछे जाते हैं। बहुत से प्रश्न हल्के–फुल्के हो सकते है। मगर कुछ सरकार को जबरदस्त हानि पहुंचाते हैं जैसे 1956 का जीवन बीमा निगम का विवाद केवल एक प्रश्न के उत्तर से ही शुरू हुआ था, जिससे वित्तमंत्री को त्यागपत्र देना पड़ा था।

यह उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने वाली सर्वप्रिय, सर्वविदित सामान्यतः प्रयोग में लाई लाने वाली विधि है। समय–समय पर सदस्य अपने प्रश्नों के द्वारा महत्वपूर्ण विषयों को उठाते रहे हैं।

(2) कार्य स्थगन वादविवाद : यह एक दैनिक नियंत्रण का साधन है तथा सार्वजनिक हित के विशिष्ट तथा किसी भी अनिवार्य प्रश्न को सदन में बहस के लिए रखा जा सकता है। अगर पीठासीन अधिकारी की अनुमति हो तो उठाए गए विषय पर तत्काल बहस शुरू हो सकती हैं, इस प्रकार सदन के नियमित कार्य को स्थगित कर दिया जाता हैं।

(3) अधिनियम के संशोधन तथा अधिनियमन पर वाद–विवाद : किसी भी विधेयक के बार–बार पढ़ने से संसद के सदस्यों को विधेयक की सम्पूर्ण नीति की आलोचना करने में सहायता मिलती हैं। आलोचना से सरकार विधेयक के प्रावधानों में मांग के अनुरूप परिवर्तन भी कर सकती है। इसी तरह जब कभी भी अधिनियम में संशोधन के लिए संसद में प्रस्ताव पेश किया जाता है तो सदस्यों को एक बार फिर से उसे चर्चा करने का अवसर मिलता है।

(4) बजट परिचर्चा : लेखे (हिसाब) पर बजट के विषय प्रवेश (परिचय) से संसद को बजट–प्रस्तावों पर बहस करने के अनेक अवसर मिलते हैं। संसद सदस्यों को बजट पर चर्चा करने के लिए भिन्न स्थितियों में निम्नलिखित अवसर मिलते हैं।

(क) बजट के प्रस्तुतीकरण के बाद आम चर्चा होती है। इस अवसर पर चर्चा समूचे बजट अथवा उसके सिद्धांतों के किसी भी प्रश्न से संबंधित होती है।

(ख) अनुदानों पर मतदान के समय दूसरा अवसर मिलता हैं । माँग की प्रत्येक मद पर चर्चा होती है। अगर उसमें उठाए गए विशिष्ट मद पर कटौती प्रस्ताव रखा जाता हैं तो चर्चा अत्यधिक तर्कसंगत है, और इसे विशिष्ट विषय पर संकेन्द्रित किया जा सकता हैं।

(ग) वित्त विधेयक पर परिचर्चा से समूचे प्रशासन की चर्चा करने के अनेक अवसर मिलते हैं। जी.बी. मावलंकर के शब्दों में ''यह एक स्वीकृत सिद्वांत है कि वित विधेयक में किसी भी विषय पर बहस की जा सकती है, और किसी भी शिकायत पर खुले आम विचार–विमर्श किया जा सकता है। नियम यह है कि किसी भी नागरिक को अपनी शिकायत तथा विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए नहीं बुलाया जाना चाहिए, जब तक संसद उसे इस बात की पूर्ण छूट न दे दे।

(5) राष्ट्रपति का अभिभाषण : बजट सत्र के शुरू होने पर राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों को एक साथ संबोधित करते है। अभिभाषण सरकार द्वारा तैयार किया जाता है । राष्ट्रपति अपने अभिभाषण में उन प्रमुख वित्तीय नीतियों तथा गतिविधियों की भी विस्तृत जानकारी देते है जिन्हें कार्यपालिका निकट भविष्य में कार्यान्वित करने के लिए पूर्वाधिकृत कर चुकी होगी। संसद सदस्यों को प्रशासन के समूचे क्षेत्र की उसकी भूल–चूक के तथा कथित कार्यों की समीक्षा करने का अवसर मिलता हैं।

3. संसदीय समितियों द्वारा वित्तीय नियंत्रण :

प्रशासन पर प्रभावशाली वित्तीय नियंत्रण हेतु आवश्यक है कि संसद या विधानसभाएँ खर्च करने वाले संस्थानों एवं उनके अधिकारियों पर निरन्तर एवं सतत नियंत्रण रखे। भारत में संसद की रचना ऐसी है कि उसके पास इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए न तो पर्याप्त समय है तथा न ही आवश्यक तकनीकी ज्ञान। इस कारण प्रशासन पर वित्तीय नियंत्रण बनाए रखने हेतु संसद द्वारा अपने सदस्यों में से कुछ सदस्यों को लेकर समितियों की रचना की जाती है। वित्तीय नियंत्रण से संबंद्धित ऐसी तीन समितियाँ है। ये अग्रलिखित है :

(1) लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)

(2) अनुमान समिति (Estimate Committee)

(3) सार्वजनिक उपक्रम समिति (Public Enterprises Committee)

लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) :

सार्वजनिक लेखा समिति अथवा जन लेखा समिति महत्वपूर्ण संसदीय समिति है जिसकी स्थापना ब्रिटिश भारत में 1920 में निरूपित विधायी नियम

(Legislative Rules) संख्या 67(1) के प्रावधानों के परिप्रेक्ष्य में सन् 1924 में सर्वप्रथम की गई थी। अपने आरंभ से ही लोक लेखा समिति सार्वजनिक व्यय के विधायी नियंत्रण की एक बड़ी शक्ति के रूप में कार्य करती है, तथा अपना प्रतिवेदन संसद के सम्मुख प्रस्तुत करती है।

1950 में संविधान लागू होने के साथ ही इस समिति में से सरकारी तत्व हट गए हैं और यह समिति वास्तविक संसदीय समिति बन गई है। आरम्भ में इसमें 15 सदस्य थे जो सभी लोकसभा के सदस्य थे। वर्तमान में इस समिति का गठन भारतीय संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इसके 22 सदस्यों में से 15 सदस्य लोकसभा से तथा 7 सदस्य राज्यसभा से लिए जाते है। स्पीकर द्वारा एक सदस्य को समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है जो प्रायः सत्ताधारी दल का होता है। विभिन्न दलों को इस समिति की सदस्यता सदन में इनकी संख्या के अनुपात में दी जाती है। समिति में सचिव का कार्य संसदीय सचिवालय द्वारा किया जाता है।

लोक लेखा समिति का मुख्य कार्य लेखा की परीक्षा करना है। यह नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन की जाँच पड़ताल करती है। समिति प्रायः उन प्रश्नों के संबंध में पूछताछ करती है जो महालेखा परीक्षक द्वारा उठाए जाते है। समिति आवश्यकता पड़ने पर व्यक्तियों, कागजों तथा अभिलेखों को मंगवा कर देख सकती है। साक्ष्य तथा प्रमाणों की जाँच के पश्चात् समिति अपना प्रतिवेदन तैयार कर संसद के समक्ष प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त समिति के कई कर्तव्य हैं जैसे– खर्च किया गया धन संसद द्वारा स्वीकृत धन से अधिक न हो, धन केवल उन्हीं विषयों पर खर्च किया जाए जिन्हें संसद द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो, व्यय केवल अधिकृत सत्ता द्वारा ही किया जाए। समिति व्यय के लिए लेखा विवरणों की परीक्षा भी करती है।

लोक लेखा समिति अग्रलिखित ढंग से नियंत्रण रखती है:

(1) लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट तथा भारत सरकार के विनियोजन लेखों की जॉच के बाद लोक लेखा समिति का कर्तव्य होगा कि अपने संदेहों को खत्म करें :

(क) कि वितरित किया गया धन जो खाते में दिखाया गया था , सेवा अथवा कार्य जिसके लिए ही प्रयोग में लाया जाना था अथवा जिसके खर्चे में लिखा गया था, कानूनन उपलब्ध तथा उपयुक्त था।

(ख) कि व्यय उस संस्था द्वारा ही किया गया है जो इस हेतु अधिकृत था।

(ग) कि प्रत्येक पुनर्विनियोजन निर्धारित अधिनिमय के प्रावधानों के अनुसार किया गया है।

पुनर्विनियोजन (Reappropriation) एक कार्यपालिका का कार्य है। लेकिन इस हेतु वित्त मंत्रालय अथवा सम्बन्धित प्रशासनिक मंत्रालय की औपचारिक स्वीकृति लेनी होती है। यह केवल सम्बन्धित अनुदान जिसे लोकसभा द्वारा स्वीकृत किया गया है के तहत ही खर्च करने तक सीमित होता है।

(2) लोक लेखा पर समिति का कर्तव्य होगा कि :

(क) ऐसे लेन–देन, निर्माण और लाभ तथा हानि के खातों और बैलेंस शीट (तुलन पत्र) का परीक्षण करे । क्योंकि लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक की रिपोर्टों के पश्चात् राष्ट्रपति को इसकी आवश्यकता हो।

(ख) लेखा नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक कि रिपोर्ट के उन मामलों पर विचार करे जिनमें राष्ट्रपति को आय (प्राप्ति) का लेखा–जोखा रखने अथवा माल तथा भंडार के लेखे–जोखे का परीक्षण करने के लिए उसकी जरूरत पड़े।

लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक की लेखा परीक्षण रिपोर्ट पर लोक लेखा समिति के निष्कर्ष सरकार द्वारा आवश्यकतानुसार सिफारिशों सहित कार्रवाई के लिए संसद के समक्ष रखे जाते हैं। इस प्रकार लोक लेखा समिति संसद द्वारा स्वीकृत व्यय के विषय में प्रशासन के उत्तरदायित्व को सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया है।

अनुमान समिति (Estimate Committee) :

धन की निकासी पर नियंत्रण स्थापित करने हेतु संसद द्वारा अनुमान समिति की स्थापना की गई। इस प्रकार की समिति की स्थापना सर्वप्रथम 1912 में ब्रिटेन में हुई। इसका गठन सरकारी कार्य में मितव्ययता लाने के लिए किया गया। भारत में इस समिति की स्थापना स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 10 अप्रेल, 1950 में हुई। प्रारम्भ में लोकसभा के 25 सदस्यों की एक समिति चुनी गई, किन्तु 1956 में इसकी सदस्य संख्या 30 कर दी गई। यह एक स्थाई समिति है। इसके सदस्यों का निर्वाचन लोकसभा के सदस्यों में से किया जाता है। इसमें तीस सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन आनुपातिक एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा किया जाता है। कोई भी मंत्री इस समिति की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता है, आवश्यकता पड़ने पर समिति उप–समितियों की नियुक्ति भी कर सकती है। समिति का निर्वाचन एक वर्ष के लिए किया जाता है, अपने कार्यकाल में यह कुछ मंत्रालयों को अध्ययन हेतु चुन लेती है एवं उनके संगठन एवं कार्य संबंधी सूचना एकत्रित करती है।

समिति का प्रमुख कार्य मितव्ययता लाने हेतु सुझाव देना है। अपने एक वर्ष के कार्यकाल के दौरान कुछ विभागों का चयन कर उनके अनुमानों पर विचार करती है, इसके अतिरिक्त प्रशासन में मितव्ययता, कुशलता तथा सुधार लाने के संबंध में लोकसभा को समय–समय पर सुझाव देती है एवं वैकल्पिक नीतियों का सुझाव देती है। यह प्रशासन क्रियाओं के सम्पादन में लगे धन के औचित्य की जाँच करती है तथा संसद के समक्ष अनुमान प्रस्तुति के संबंध में सुझाव देती है। इसे आकलन समिति भी कहते है।

लोक लेखा समिति की प्रक्रिया के द्वारा संसद अपने स्वीकृत व्यय के विषय में कार्यपालक के उत्तरदायित्व को सुदृढ बनाने के योग्य रही हैं। आकलन समिति की प्रक्रिया ही संसद के सामने विचारार्थ रखे जाने से पहले वित्त मंत्रालय के अनुमानों को ब्यौरे वार जाँच का विषय बनाती है।

समिति के कार्य हैं :

(1) यह विवरण देना कि संगठनात्मक कार्यक्षमता में वृद्वि अथवा अधीनस्थ नीति के अनुकूल सुधार, दोनों में से क्या ज्यादा लाभकारी है।

(2) प्रशासन में व्यवस्था तथा कार्यदक्षता के लिए वैकल्पिक नीतियों को सुझाना।

(3) अनुमानों में अन्तर्निहित नीति की सीमाओं के अंतर्गत ही धन के व्यय का परीक्षण करना।
(4) ऐसे ढंग सुझाना जिनके द्वारा संसद के सामने अनुमान पेश किए जा सकें।

सार्वजनिक उपक्रम समिति (Public Enterprises Committee)

इस समिति का गठन कृष्णामेनन समिति के सुझाव पर 1964 में किया गया। मूलतः इसमें 15 सदस्य थे (10 लोकसभा व 5 राज्यसभा से) 1974 में यह संख्या बढ़कर 22 हो गई (15 लोकसभा तथा 7 राज्यसभा से)। इसका प्रमुख कार्य भारत सरकार द्वारा स्थापित विभिन्न निगम एवं कंपनियों आदि की व्यय से संबंधित वित्तीय गतिविधियों पर नियंत्रण बनाए रखना है। समिति द्वारा सरकारी उपक्रमों की जाँच उनके कार्य–निष्पादन का मूल्यांकन ही है जिसमें नीतियों का कार्यान्वयन कार्यक्रम, व्यवस्था, वित्तीय सफलता जैसे महत्वपूर्ण पहलू आते है। समिति, नियंत्रक तथा लेखा महापरीक्षक की सरकारी उपक्रमों की रिपोर्ट के उस भाग पर विचार करती है जो उसे भेजा जाता है। रिपोर्ट की जाँच के बाद, सार्वजनिक उपक्रम समिति अपने सुझावों को संसद में ले जाती हैं। इस समिति के प्रतिवेदन के साथ–साथ नियंत्रक तथा लेखा महा परीक्षक की रिपोर्ट भी लोक व्यय पर संसद के नियंत्रण का साधन होती हैं।

4 लेखाकंन (Accounting) :

लेखाकंन से अभिप्राय है कि वित्तीय लेन देन का व्यवस्थित अभिलेख (Record) रखना। इसके तीन उद्देश्य है :
(1) धन खर्च करने वालों की विश्वसनीयता का निर्धारण करना।
(2) नीति बनाने तथा प्रशासन के वित्तीय उद्देश्यों के लिए सूचनाएँ प्राप्त करना।
(3) खर्च को बजट की तय सीमा के भीतर रखना।

चूंकि लेखांकन में विभाग द्वारा जो भी खर्च किया जाता है उसे लिखा जाता है तथा इस लिखे हुए खर्च की अंकेक्षण (Audit) के माध्यम से जाँच की जाती है अतः लेखांकन प्रशासन पर वित्तीय नियंत्रण का सशक्त माध्यम है।

5. भारत का नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षकः (The Comptroller and Auditor General of India)

भारतीय संविधान द्वारा एक स्वतंत्र नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की व्यवस्था की है । जिसका प्रमुख दायित्व भारत की संचित निधि में से व्यय किए जाने वाले सभी सार्वजनिक धनों का लेखा–परीक्षण करना है। लोक वित्त पर नियंत्रण हेतु लेखा परीक्षक विभाग की रचना 1753 में ही कर दी गई लेकिन 1919 के अधिनियम द्वारा इसे स्वतंत्र दर्जा प्रदान किया गया। भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा महालेखा परीक्षक के पद एवं स्तर में वृद्धि की गई थी। सन् 1950 में संविधान में महालेखा परीक्षक के पद का नाम बदल कर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General-CAG) कर दिया गया।

महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर तथा मुहरयुक्त अधिपत्र द्वारा करता है। वह भारत के मुख्य न्यायाधीश की भाँति अपने कार्य की शपथ लेता है। राष्ट्रपति उसे प्रधानमंत्री के परामर्श पर नियुक्त करता है। इसके पद का कार्यकाल 6 वर्ष का है। पद विमुक्ति के पश्चात् वह किसी सरकारी पद का पात्र नहीं होता। इसके कार्यालय का प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि में से दिया जाता है। इसका वेतन एवं सेवा शर्तें संविधान के अनुच्छेद 148 से 151 तक में वर्णित उपबन्धों के अनुसार संसद के कानूनों द्वारा निर्धारित की जाती है। वह सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान वेतन प्राप्त करता है। इसके कार्यकाल में इसके वेतन, भत्ते, पेंशन, सेवा निवृत्ति आदि बातों में कोई भी अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता एवं संसद को इनकी सुविधाओं में कटौती करने का अधिकार नहीं है।

संविधान के अनुच्छेद 149 के अनुसार वह ''संघ तथा राज्यों के लेखाओं के संबंध में उन्हीं कर्तव्यों का पालन तथा उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करेगा जो इस संविधान के लागू होने से ठीक पहले भारत के तथा पृथक–पृथक प्रान्तों के लेखाओं के संबंध में भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को सौंपे गए थे या उसके द्वारा किए जाने थे।'' सामान्यतः इसके कार्य एवं शक्तियाँ निम्नलिखित हैं :
1. केन्द्र अथवा राज्य सरकार के अनुरोध पर किसी भी सरकारी विभाग की आय की जाँच करता है।
2. यह केन्द्र तथा राज्य सरकार के लेखों की गणना करता है।
3. महालेखा परीक्षक केन्द्र सरकार के लेखों से संबंधित प्रतिवेदन राष्ट्रपति को तथा राज्य सरकार के लेखों से संबंधित राज्यपाल को सौंपता है।
4. महालेखा परीक्षक जनलेखा समिति की बैठकों मे भी उपस्थित होता है।
5. महालेखा परीक्षक के पास लेखा परीक्षा संबंधी अनेक शक्तियाँ रहती है।
6. महालेखा परीक्षक उन व्ययों पर नियंत्रण रखता है जो संविधान अथवा कानून के विरूद्ध हो। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (कर्तव्य एवं अन्य सेवा शर्तें) अधिनियम, 1984 (The Comptroller and Auditor General, Duties and other conditions of service, Act) के द्वारा नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक की शक्तियों में वृद्धि की गई है। व्यवहार में व्यय पर संसद का नियंत्रण तभी पूर्ण है जब वह स्वयं निश्चित कर सके की कार्यपालिका द्वारा किए गए खर्च उन्हीं कार्यों के लिए किए गए हैं जिनकी अनुमति दी गई थी । ऐसा एक स्वतंत्र प्राधिकरण भारत का लेखा नियंत्रण तथा लेखा महापरीक्षक द्वारा लेखों के परीक्षण के प्रावधान द्वारा निश्चित किया गया है। वह संघ तथा राज्यों के सभी व्ययों का परीक्षण करता है तथा पता लगाता है कि खातों में दिखाया गया व्यय हुआ धन उन कार्यों, जिनके लिए उसका प्रयोग किया गया है, कानूनन उपयुक्त तथा उपलब्ध था। वह राज्यों तथा केन्द्र के अन्य सभी लेखों (Accounts) का भी परीक्षण करता हैं। संसद को पूरी रिपोर्ट तथा सम्पूर्ण लेखा–परीक्षण की जानकारी देने के लिए संविधान द्वारा लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षक का स्वतंत्र पद दिया गया हैं। भारत में महालेखा परीक्षक द्वारा समय–समय पर अनेक वित्तीय गड़बड़ियों को आम जनता की जानकारी में लाया गया है। संसद या विधान मंडल का कार्य

लोक व्यय के लिए अनुदान पर मतदान से समाप्त नहीं होता। इसे यह भी देखना होता है कि दी गई निधि (धन) का उपयोग दिए निर्देशों के अनुसार निष्ठापूर्वक तथा किफायत से किया गया है। संसद को अपने संदेहों को भी दूर करना होता है। इस प्रकार भारत में वित्तीय नियंत्रण की सुदृढ़ व्यवस्था मौजूद है।

महत्वपूर्ण बिन्दु:

1. वित्तीय नियंत्रण से अभिप्रायः है वित्त पर नियंत्रण की व्यवस्था। यह नियंत्रण प्रत्येक तरह की शासन व्यवस्था को सुचारू ढंग से संचालित करने हेतु अपरिहार्य है।
2. भारत में 9 नवम्बर 2016 से उस समय चल रहे 500 तथा 1000 रू की मुद्रा बन्द करना भी वित्त पर नियंत्रण के माध्यम से वित्तीय नियंत्रण का प्रकार है।
3. वित्त–मंत्रालय सरकार की वित्त–व्यवस्था हेतु उत्तरदायी होता है अतः प्रशासकीय मंत्रालयों को व्यय की अनुमति तभी देता है जब उसे विश्वास हो कि प्रस्तावित व्यय उचित है। वित्त मंत्रालय विभागों द्वारा किए जाने वाले खर्चे की जाँच करता रहता है। यह कार्य वित्त मंत्रालय के वित्तीय सलाहकारों द्वारा किया जाता है।
4. विधायी नियंत्रण से अभिप्रायः है संसद या विधानमण्डलों द्वारा वित्त पर नियंत्रण।
5. मंत्रियों के रूप में कार्य करती हुई कार्यपालिका संसद की अनुमति के बिना ऋणदान, कराधान के द्वारा या दूसरे किसी उपाय से धन की व्यवस्था नहीं कर सकती, व्ययों के प्रस्ताव, जिनके लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता होती हैं, केवल मंत्रिमंडल द्वारा ही पेश किए जाने चाहिए।
6. प्रत्येक संसदीय दिवस का पहला घंटा प्रश्नों के लिए रखा गया है जिससे नियंत्रण प्रभावी हो जाता है। इस समय संसद सदस्य वित्त मंत्री या अन्य मंत्री से वित्तीय पहलुओं पर प्रश्न कर सकते है।
7. सार्वजनिक लेखा समिति अथवा जन लेखा समिति महत्वपूर्ण संसदीय समिति है । जिसकी स्थापना ब्रिटिश भारत में 1920 में निरूपित विधायी नियम संख्या 67(1) के प्रावधानों के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम सन् 1924 में की गई।
8. भारत में इस समिति की स्थापना स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् 10 अप्रेल, 1950 में हुई। प्रारम्भ में लोकसभा के 25 सदस्यों की एक समिति चुनी गई, किन्तु 1956 में इसकी सदस्य संख्या 30 कर दी गई।9. इस समिति का गठन कृष्ण मेनन समिति के सुझाव पर 1964 में किया गया। मूलतः इसमें 15 सदस्य थे (10 लोकसभा व 5 राज्यसभा से) 1974 में यह संख्या बढ़कर 22 हो गई (15 लोकसभा तथा 7 राज्यसभा से)। इसका प्रमुख कार्य भारत सरकार द्वारा स्थापित विभिन्न निगम एवं कंपनियों आदि की व्यय से संबंधित वित्तीय गतिविधियों पर नियंत्रण बनाए रखना है।
10. भारतीय संविधान द्वारा एक स्वतंत्र नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की व्यवस्था की है, जिसका प्रमुख दायित्व भारत की संचित निधि में से व्यय किए जाने वाले सभी सार्वजनिक धनों का लेखा परीक्षण करना है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. भारत में विमुद्रीकरण (नोटबन्दी) किस तिथि से लागू किया गया ?
(अ) 9 मार्च, 2016 (ब) 9 जुलाई, 2016
(स) 9 नवम्बर, 2016 (द) 9 जनवरी, 2017

2. भारत में वित्तीय नियंत्रण के साधन है ?
(अ) वित्त मंत्रालय (ब) संसदीय समितियां
(स) लेखांकन (द)उपर्युक्त सभी

3. भारत में वित्तीय वर्ष कब से कब तक माना जाता है ?
(अ) 1 जनवरी से 31 दिसम्बर तक
(ब) 1 मार्च से 30 अप्रेल तक
(स) 1 अप्रेल से 31 मार्च तक
(द) 15 अगस्त से 14 अगस्त तक

4.'बजट' शब्द 'बोजते' (Bougette) शब्द से बना है, यह बजट शब्द किस भाषा से संबंधित है ?
(अ) फ्रेंच (ब) इंग्लिश
(स) लैटिन (द) स्पैनिश

5. बजट का निर्माण प्रायः सभी देशों में किया जाता है :
(अ) 5 वर्ष के लिए (ब) 2 वर्ष के लिए
(स) 3 वर्ष के लिए (द) 1 वर्ष के लिए

6. लोक लेखा समिति में राज्यसभा के कितने सदस्य होते हैं?
(अ) 7 (ब) 10 (स) 15 (द) 5

7. प्राक्कलन (अनुमान) समिति की भारत में सर्वप्रथम स्थापना कब हुई थी ?
(अ) 1947 में (ब) 1950 में (स) 1935 में (द) 1919 में

8.भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है
(अ) 5 वर्ष के लिए (ब) 3 वर्ष के लिए
(स) 4 वर्ष (द) 6 वर्ष

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वित्तीय नियंत्रण का अर्थ समझाइये।
2. वित्तीय नियंत्रण के कोई दो घटक बताईये।
3. लोक उपक्रम समिति का गठन किसके सुझाव पर किया गया ?
4. वित्तीय वर्ष का उल्लेख संविधान के कौनसे अनुच्छेद में मिलता है ?
5. भारत में प्रथम लोक लेखा समिति की स्थापना कब हुई?
6. भारत में प्राक्कलन (अनुमान) समिति का गठन किस लिए किया गया है ?
7. भारत में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति कौन करता है ?
8. प्रश्न काल क्या है ?
9. कार्य स्थगन वाद–विवाद क्या है?
10. प्रमुख संसदीय समितियों के नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. वित्तीय नियंत्रण से आप क्या समझते है ?
2. लोक लेखा समिति के संगठन पर प्रकाश डालिए।
3. प्राक्कलन (अनुमान) समिति का क्या कार्य है ?
4. नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की शक्तियों का वर्णन कीजिए।
5. वित्तीय नियंत्रण के विभिन्न घटक समझाइये।
6. लेखांकन किसे कहते है ?
7. वित्त मंत्रालय द्वारा किये जाने वाले वित्तीय नियंत्रण को समझाइये।
8. राष्ट्रपति का अभिभाषण क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. वित्तीय नियंत्रण को समझाते हुए इसके विभिन्न घटकों का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संसद की लोक लेखा समिति एवं प्राक्कलन समिति के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए ?
3. भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की स्थिति और शक्तियों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला :

1. (स)	2. (द)	3. (स)	4. (अ)
5. (द)	6. (अ)	7. (ब)	8. (द)

इकाई–8 : कार्मिक प्रशासन

अध्याय – 22
लोक सेवाओं में भर्ती
(Recrutement in Civil Service's)

लोक सेवाओं में भर्ती कार्मिक प्रशासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम है। भर्ती की एक सुनियोजित एवं प्रभावी व्यवस्था के बिना सम्पूर्ण कार्मिक प्रशासन निष्प्रभावी है। लोक सेवकों की भर्ती के उपरान्त ही कार्मिक प्रशासन के अन्य आयाम यथा प्रशिक्षण, नियुक्ति, स्थानान्तरण, पदोन्नति, अनुशासनात्मक कार्यवाही, सेवा शर्ते इत्यादि शुरू होते हैं।

यदि एक अयोग्य अथवा अपात्र उम्मीदवार लोक सेवाओं में चयनित हो जाता है, तब उसे निकालना इतना आसान नही होता है तथा वह सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था को नुकसान पहुचाता रहता है। ऐसा व्यक्ति का समय के साथ महत्वपूर्ण पदों पर पहुचना न केवल व्यवस्था एवं अन्य कार्मिकों के लिए एक संकट है अपितु वह भावी भर्तियों एवं नियुक्तियों कों भी नकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकता है। ग्लैन स्टॉल ने इसीलिए भर्ती को **''समस्त कार्मिक प्रशासन की आधारशिला''** कहा है। जिस प्रकार कोई भी भवन उसकी नींव अथवा आधारशिला पर टिका होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण कार्मिक प्रशासन योग्य लोक सेवकों को भर्ती करने की उसकी क्षमता एवं योग्यता पर टिका हुआ है। स्पष्टतः भर्ती प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जिसमें निम्न गुण हो :

(1) सभी योग्य उम्मीदवारों को उसमे भाग लेने का अवसर प्राप्त हो सके अर्थात उनके अवसर की समानता बनी रहे ।

(2) वह राजनीतिक प्रभाव, भाई–भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से मुक्त हो ।

(3) भर्ती में उन्ही व्यक्तियों का चयन हो सके जो योग्यता (Merit) की दृष्टि से अन्य उम्मीदवारों सें ऊपर हो।

(4) भर्ती प्रणाली योग्यतम व्यक्तियों कों आकर्षित कर सके तथा अपात्र व्यक्तियों को शासकीय सेवाओं सें दूर रख सके ।

भर्ती की पद्धतियाँ (Methods of Recruitment) :

किसी भी पद पर उम्मीदवार के चयन के लिए निर्धारित भर्ती की पद्वति अलग–अलग हो सकती है । इन पद्वतियों को दो समूहो में बाँटा जा सकता है।

(1) भर्ती की बाह्य पद्धतियाँ (External Methods)

(2) भर्ती की आन्तरिक पद्धतियाँ (Internal Methods)

1. भर्ती की बाह्य पद्धतियाँ: (External Methods of Recruitment) :

इन्हें बाह्य पद्धतियां इसलिए कहते है क्योंकि इनमें किसी पद पर चयन के लिए किसी संस्था/कैडर के अन्दर के उम्मीदवारों के साथ–साथ उस संस्था/कैडर से बाहर के व्यक्ति भी पद के उम्मीदवार के रूप मे पात्र होते है। इसके तहत निम्न पद्धतिया सम्मिलित है :

(1) सीधी भर्ती (Direct Recruitment)

(2) प्रतिनियुक्ति (Deputation)

(3) अल्पावधि संविदा सहित प्रतिनियुक्त (Deputation Including Short Term Contract)

(4) आमेलन (Absorption)

(5) सशस्त्र बल कार्मिक का पुनर्नियोजन (Re-employment of Armed Forces Personnal)

1. सीधी भर्ती :

आयोग द्वारा सीधी भर्ती निम्नलिखित दो पद्धतियों द्वारा आयोजित की जाती है :

(अ) प्रतियोगी परीक्षा द्वारा भर्ती (Recruitment By Competitive Examination)

(ब) साक्षात्कार द्वारा चयन से सीधी भर्ती (Recruitment By Selection Through Interview)

(अ) प्रतियोगी परीक्षा द्वारा भर्ती :

(1) संघ लोक सेवा आयोग विभिन्न सिविल सेवाओं. रक्षा सेवाओं/ पदों पर नियुक्ति के लिए नियमित आधार पर प्रतियोगी परीक्षाऐं आयोजित कराता है। आयोग द्वारा निम्नलिखित परीक्षाऐं आयोजित की जाती है।

(1) सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा

(2) सिविल सेवा(प्रधान)परीक्षा

(3) इंजिनियरिंग सेवा परीक्षा

(4) सम्मिलित चिकित्सा सेवा परीक्षा

(5) भारतीय वन सेवा

(6) भू विज्ञानी परीक्षा

(7) भारतीय आर्थिक सेवा/भारतीय साख्यिकी सेवा परीक्षा

(8) सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा (वर्ष मे दो बार आयोजित)

(9) राष्ट्रीय रक्षा अकादमी तथा नौसेना अकादमी परीक्षा (वर्ष मे दो बार आयोजित)

(10) केन्द्रीय पुलिस बल (सहायक कमाण्डेन्ट परीक्षा)

(11) अनुभाग अधिकारी/आशुलिपिक परीक्षा (ग्रेड–ख/ग्रेड–I)सीमित विभागीय प्रतियोगी परीक्षा

सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा तथा सिविल सेवा (प्रधान) परीक्षा की पद्वति को आगे विस्तार से समझाया गया है ।

(ब) साक्षात्कार द्वारा चयन से सीधी भर्ती :

संघ लोक सेवा आयोग द्वारा प्रमुख समाचार पत्रों,

रोजगाार समाचार एवं अपनी वेबसाइट के माध्यम से आवेदन प्राप्त किये जाते है। प्राप्त आवेदनों की निर्धारित मानदण्डो के अनुसार छँटनी की जाती है तथा छँटनी किये गये उम्मीदवारों को साक्षात्कार के लिए बुलाया जाता है। यहाँ यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि यदि किसी पद अथवा पदों के लिए बडी संख्या में उम्मीदवार आवेदन करते हैं या पद(पदों) के लिए निर्धारित की गई योग्यताएँ इस प्रकार कि है कि उसके आधार पर उम्मीदवारो कि छँटनी करना संभव नही है तो उम्मीदवारो की छँटनी के लिए आयोग भर्ती परीक्षण अर्थात लिखित परीक्षा या स्क्रीनिंग परीक्षा भी आयोजित कर सकता है । इस प्रकार छँटनी किए गए उम्मीदवारो का साक्षात्कार बोर्डो द्वारा साक्षात्कार लिया जाता है। साक्षात्कार बोर्डो की अध्यक्षता आयोग के अध्यक्ष/सदस्यों द्वारा की जाती है तथा उन्हें सहयोग देने के लिए उस सम्बन्धित विषय क्षेत्र के प्रतिष्ठित विशेषज्ञों को बुलाया जाता है। आयोग साक्षात्कार बोर्ड की रिपोर्ट को अनुमोदित करता है तथा आयोग की सिफारिशें सम्बन्धित मंत्रालय या विभाग को भेजी जाती हैं।

(2) प्रतिनियुक्ति (Deputation) :

प्रतिनियुक्ति प्रणाली के अन्तर्गत लोक सेवक अपने पैतृक विभाग से दूसरे विभाग में अथवा अन्य किसी पद पर अल्पावधि के लिए प्रतिनियुक्ति पर चले जाते हैं तथा प्रतिनियुक्ति अवधि पूर्ण होने पर पुनः पैतृक विभाग में लौट आते हैं। सामान्यतः यह प्रतिनियुक्ति अवधि 1 से 5 वर्ष तक होती है।

अधिकाशं ऐसे पद जो परियोजनाओं में (जैसे सर्व शिक्षा अभियान इत्यादि) होते हैं। उन्हें प्रतिनियुक्ति द्वारा ही भरा जाता है, ताकि परियोजना समाप्ति पर उन अधिकारियों को मूल विभागों में भेजा जा सके । इसके अतिरिक्त ऐसे पदों के विषय में, जहाँ पदोन्नति की संभावनाए नहीं होती हैं , उन्हें भी प्रायः बाहरी विभागों से प्रतिनियुक्ति पर अधिकारियों को लेकर भरा जाता है।

(3) अल्पावधि संविदा सहित प्रतिनियुक्त (Depution Including Short Term Contract) :

''अल्पावधि संविदा'' भी प्रतिनियुक्ति का ही एक प्रकार है तथा गैर सरकारी निकायों जैसे विश्वविद्यालयों, मान्यता प्राप्त शोध संस्थानों, लोक उपक्रमों के अधिकारियों पर लागू होता है तथा इन संस्थानों की मानव संसाधन क्षमता के उपयोग में काम आती है। भारत सरकार के सन्दर्भ में यदि समझा जाए तो हम कह सकते है कि किसी विभाग द्वारा निकाली गई प्रतिनियुक्ति में केवल भारत सरकार के ही कर्मचारी दिए गए पद के लिए आवेदन कर सकते है जबकि अल्पावधी संविदा सहित प्रतिनियुक्ति (Deputation ISTC) भर्ती की पद्धति के अन्तर्गत राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों/सरकार के अन्तर्गत सार्वजनिक उपक्रमों/राज्यों के स्वामित्व वाले बैंकों/प्राधिकृत संगठनों तथा मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालयों के कर्मचारी भी प्रतिनियुक्ति हेतु दिए गए पद के लिए आवेदन कर सकते हैं। प्रतिनियुक्ति (आई.एस.टी.सी.) भर्ती की पद्धति का यह लाभ होता है कि इसमें आवेदित पद के लिए बड़ी संख्या में आवेदन प्राप्त हो जाते है तथा भर्ती प्रक्रिया के निष्फल जाने का खतरा नहीं रहता है।

सामान्यतः ऐसे पद जो अलग–थलग (Isolated Posts) होते है उन्हें सीधी भर्ती के स्थान पर प्रतिनियुक्ति द्वारा भरा जाता है। क्योंकि यदि ऐसे पदों को सीधी भर्ती द्वारा भरा जाएगा, तो उस पद पर जो भी चयन होकर आएगा उसके पास आगे पदोन्नति के अवसर नहीं होंगे। यहाँ यह भी महत्वपूर्ण है कि प्रतिनियुक्ति भर्ती में जहाँ भर्ती की समस्त प्रक्रिया सम्बन्धित मंत्रालय अथवा विभाग द्वारा संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श के बिना की जाती है वहीं और प्रतिनियुक्ति (आई.एस.टी.सी.) में भर्ती प्रक्रिया को अन्तिम रूप देने में संघ लोक सेवा आयोग के साथ परामर्श अनिवार्य है तथा उसका व्यावसायिक मार्ग दर्शन प्राप्त होता है।

(4) आमेलन (Absorption) :

आमेलन (Absorption) एवं प्रतिनियुक्ति (Deputation) एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं तथा दोनों में आधारभूत अन्तर होता है। आमेलन में, आने वाले अधिकारियों को स्थाई रूप से उस पद/ग्रेड में आमेलित किया जा सकता हैं , किन्तु यह केन्द्र एवं राज्य सरकार के अधिकारियों पर ही लागू होता है।

''अल्प अवधि संविदा'' सहित प्रतिनियुक्ति में कोई बाहरी अधिकारी केवल एक सीमित अवधि के लिए ही आता है तथा उस अवधि के उपरान्त वह अपने पैतृक कॉडर में वापस लौट जाता है। आमेलन को भर्ती की एक प्रणाली के रूप में तब उपयोग में लिया जा सकता है जब केन्द्र सरकार के विभागों तथा राज्य सरकारों में से पात्रता के लिए निर्धारित अर्हताओं एवं अनुभव वाले योग्य अधिकारियों की सेवाएँ प्राप्त करना संभव हो।

(5) सशस्त्र बल कार्मिक का पुनर्नियोजन (Re-employment of Armed Forces Personnal)

कुछ सिविल पदों के लिए सशस्त्र बल के कर्मिकों के पास उपलब्ध प्रचालनात्मक और प्रबन्धकीय कौशल (Opratinal and Managerial Skills) का भी उपयोग किया जाता है । सशस्त्र बलों के वे कार्मिक जो सेवानिवृत्ति होने वाले हैं या एक वर्ष की अवधि में रिजर्व में स्थानान्तरित होने वाले हैं और जिनके पास ऐसे पदों के लिए आवश्यक निर्धारित योग्यता एवं अनुभव है उन्हें इन पदों पर नियुक्ति के लिए शामिल किया जाता है इसे ही सशस्त्र बल कार्मिकों के पुनर्नियोजन की पद्धति कहते हैं।

2. भर्ती की आन्तरिक पद्धतियाँ :

इन्हें आन्तरिक पद्धतियाँ इसलिए कहते है क्योकि इनमें किसी पद पर चयन के लिए किसी संस्था/कैडर के अन्दर से ही उम्मीदवारों पर विचार किया जाता है। संस्था से बाहर के उम्मीदवार इस हेतु पात्र नही होते हैं। इसके तहत दो पद्वतियाँ सम्मिलित हैः

(1) पदोन्नति (Promotion)

(2) संयुक्त पद्वति (प्रतिनियुक्ति और पदोन्नति) या कम्पोजिट मैथड (Composite Method)

(1) पदोन्नति (Promotion) :

पदोन्नति अर्थात आगे बढना (To move forward) , भर्ती की एक आन्तरिक पद्वति है जिसमे व्यक्ति :

(1) एक ग्रुप से दुसरे ग्रुप में (जैसे ग्रुप–बी से ग्रुप–ए में)

(2) अथवा एक ही ग्रुप के अधीन एक ग्रेड से दूसरी ग्रेड में

भर्ती की पद्धतियाँ
(Methods of Recruitment)

- (1) भर्ती की बाह्य पद्धतियाँ (External Methods)
  - (1) सीधी भर्ती (Direct Recruitment)
    - (अ) प्रतियोगी परीक्षा द्वारा भर्ती
    - (ब) साक्षात्कार द्वारा चयन से सीधी भर्ती
  - (2) प्रतिनियुक्ति(Deputation)
  - (3) अल्पावधी संविदा सहित प्रतिनियुक्त (Deputation Including Short Term Contract)
  - (4) आमेलन (Absorption)
  - (5) सशस्त्र बल कार्मिक का पुनर्नियोजन (Re-employment of Armed forces Personnal)
- (2) भर्ती की आन्तरिक पद्धतियाँ (Internal Methods)
  - (अ) पदोन्नति (Promotion)
  - (ब) संयुक्त पद्वति (प्रतिनियुक्ति और पदोन्नति) या कम्पोजिट मैथ्ड (Composite method)

(जैसे ग्रुप–बी में ही निम्न ग्रेड से उच्च ग्रेड में)
(3) अथवा एक निम्न सेवा (Lower Service) से उच्च सेवा (Higher Service) में जैसे : राज्य सेवाओं से अखिल भारतीय सेवाओं मे जाता है।

इसमें व्यक्ति के दायित्व, कर्तव्य, पदनाम, वेतन, प्रस्थिति इत्यादि निम्न से उच्च की तरफ जाते हैं। पदोन्नति के माध्यम से लोक सेवक सिविल सेवाओं में अपना कैरियर बनाते है तथा निरन्तर उपर की ओर बढते हैं। पदोन्नति अभिप्रेरक के रूप में उन्हें आगे बढनें हेतु प्रेरित करती है।

मंत्रालयों/विभागों में पदोन्नति विभागीय पदोन्नति समिति (Departmental Promotion Committe) के माध्यम से होती है इन विभागीय पदोन्नति समिति की बैठको की अध्यक्षता लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा आयोग के ही किसी सदस्य द्वारा की जाती है। संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष अथवा कोई सदस्य समूह ''ख'' से समूह ''क'' में और समूह ''क'' में ही एक ग्रेड से दूसरी ग्रेड में जहाँ की पदोन्नति चयन द्वारा की जानी होती है, उन पदोन्नतियों पर विचार करने के लिए बनी विभागीय पदोन्नति समिति की बैठकों की अध्यक्षता करता है। इसी प्रकार राज्य सेवाओं (राज्य की सिविल/पुलिस/वन सेवा) से अखिल भारतीय सेवाओं में पदोन्नत करने का कार्य संघ लोक सेवा आयोग की चयन समिति जिसका प्रमुख आयोग अध्यक्ष अथवा सदस्य होता है, वह करती है।

राज्यों मे विभिन्न विभागों मे पदोन्नति हेतु गठित विभागीय पदोन्नति समितियों की अध्यक्षता उस राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष/सदस्य द्वारा की जाती है।

(2) संयुक्त पद्धति (प्रतिनियुक्ति और पदोन्नति) या कम्पोज़िट मैथ्ड (Composite method) :

सामान्यतः पदोन्नति के समय निचले फीडर ग्रेड में (अर्थात जिस ग्रेड से व्यक्तियो को लिया जाना हो)पदो की पर्याप्त संख्या उपलब्ध न होने की स्थिति में भर्ती की आन्तरिक एंव बाहयं पद्धतियों का विवेकपूर्ण सम्मिश्रण निर्धारित किया जाता है। जिसमें पदोन्नति के साथ–साथ प्रतिनियुक्ति/प्रतिनियुक्ति(आई.एस.टी.सी.)/सीधी भर्ती/सशस्त्र बल कार्मिकों का पुन र्नियोजन में से किसी एक को सम्मिलित किया जाता है। जिससे की अपेक्षित अनिवार्य योग्यताओं वाले कार्मिको की अनुपलब्धता के कारण कोई पद खाली नही रहे।

भर्ती की संयुक्त पद्वति वह प्रणाली है जिसमे इसी प्रकार पदोन्नति के द्वारा भर्ती को एक अन्य भर्ती पद्वति प्रतिनियुक्ति/प्रतिनियुक्ति (आई.एस.टी.सी) से जोड़ा जाता है। भर्ती की ''संयुक्त पद्वति '' वहाँ पर लागू होती है जहाँ की पदोन्नति का आधार ''चयन'' हो तथा निचले फीडर ग्रेड में पदों की संख्या की तुलना में पदोन्नति ग्रेड / उच्च ग्रेड मे पदों की संख्या एक हो अर्थात उसके बराबर हो। जिससे पदोन्नति का अनुपात 1:1 हो जाता है। ऐसी स्थिति मे पदोन्नति हेतु विभागीय अधिकारी के साथ–साथ बाहरी व्यक्तियों को भी विचार में लिया जाता है। जिससे की उनमे से योग्यतम व्यक्ति का चयन हो सके। यदि विभागीय अधिकारी का उस पद के लिये चयन हो जाता है। तब उसे पदोन्नति माना जाता है अन्यथा उस पद को प्रतिनियुक्ति/अल्प अवधि संविदा से एक निश्चित प्रतिनियुक्ति अवधी अथवा अल्प संविदा अवधि से भरा माना जाता है। बाद मे पुनः पद रिक्त होने पर पुनः विभागीय अधिकारी को उस पद पर नियुक्ति के लिए अवसर मिलते हैं।

भारत में लोक सेवाओं में भर्ती

भारत में अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं ग्रुप–क ग्रुप –ख की कुछ सेवाओं में भर्ती के लिए एक ही परीक्षा ली जाती है जो सिविल सेवा परीक्षा के नाम से जानी जाती है। उक्त परीक्षा से सम्बन्धित विवरण निम्नानुसार है :

1. पात्रता :

राष्ट्रीयता : भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा के उम्मीदवार को भारत का नागरिक अवश्य होना चाहिए। विदेश सेवाओं हेतु उम्मीदवार भारत का नागरिक हो या नेपाल की प्रजा हो या भूटान की प्रजा हो या तिब्बती शरणार्थी

जो भारत में स्थायी रूप से रहने के इरादे से 1 जनवरी 1962 से पहले भारत आ गया हो या कोई भारतीय मूल का व्यक्ति जो भारत में स्थायी रूप से रहने से पाकिस्तान, म्यांमार, श्रीलंका, पूर्वी अफ्रीकी देश (कीनिया, युगाण्डा, तंजानिया, जाम्बिया, मालावी, जायरे, इथोपिया) तथा वियतनाम से प्रवजन करके आया हो। भारतीयों को छोड़कर इन सभी के पास भारत सरकार द्वारा जारी किया गया पात्रता प्रमाण पत्र होना चाहिए। भारतीय विदेश सेवा के लिए नेपाली, भूटानी तथा तिब्बती शरणार्थी पात्र नहीं है।

2. आयु सीमा :

इस परीक्षा में शामिल होने वाले उम्मीदवार को 21 वर्ष से कम और 30 वर्ष से अधिक आयु का नहीं होना चाहिए जो परीक्षा आयोजित होने वाले वर्ष के 1 अगस्त को आधार मानकर गिनी जाती है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के उम्मीदवारों को अधिकतम आयु सीमा में पाँच वर्ष तथा अन्य पिछड़े वर्गों को तीन वर्ष की छूट है । नेत्रहीन, मूक बधिर तथा शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों को दस वर्ष की छूट दी गई है।

3. न्यूनतम शैक्षाणिक योग्यता : भारत में केन्द्र या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्गमित किसी विश्वविद्यालय की या संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 1956 के खण्ड 3 के अधीन विश्वविद्यालय के रूप में मानी गई किसी अन्य शिक्षा संस्था की स्नातक डिग्री या समकक्ष योग्यता होनी चाहिए।

4. अवसरों की संख्या :

सामान्य वर्ग के उम्मीदवारों हेतु छः बार अवसर निर्धारित हैं, अन्य पिछड़ा वर्ग के उम्मीदवारों को नौ अवसर दिए गए है तथा अनुसूचित जाति व जनजाति के उम्मीदवारों के लिए अवसरों की कोई सीमा नहीं है।

1. प्रारम्भिक परीक्षा में बैठने को परीक्षा में बैठने का एक अवसर माना जाता है।

2. यदि उम्मीदवार प्रारम्भिक परीक्षा के किसी एक प्रश्न पत्र में वस्तुतः परीक्षा देता हैं तो उसे एक अवसर माना जाता है।

3. यदि उम्मीदवार परीक्षा में उपस्थित होता है और बाद में अयोग्य घोषित हो जाता है या उसकी उम्मीदवादी रद्द हो जाती हैं तब उसे एक अवसर माना जाता है।

5. शुल्क : वर्तमान में उक्त परीक्षा हेतु उम्मीदवारों के लिए 100/– प्रति (सौ रूपये) शुल्क निर्धारित है। सभी महिला उम्मीदवारों तथा अनुसूचित जाति/जनजाति/शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता हैं अन्य पिछड़ी वर्ग के उम्मीदवारों को शुल्क देना पड़ता है।

6. परीक्षा की रूपरेखा :

लोक सेवा परीक्षा दो चरणों में ली जाती है : प्रथम चरण में प्रारम्भिक परीक्षा तथा द्वितीय चरण में मुख्य परीक्षा। प्रारम्भिक परीक्षा के माध्यम से मुख्य परीक्षा के लिए अभ्यर्थियों का चयन किया जाता है। जबकि मुख्य परीक्षा विभिन्न सेवाओं और पदों पर अभ्यर्थियों के चयन के लिए ली जाती है। आवेदन पत्र ऑनलाइन संघ लोक सेवा आयोग की वेबसाइट पर भरें जाते हैं पहले प्रारम्भिक परीक्षा के लिए आवेदन पत्र भरे जाते हैं। जो उम्मीदवार मुख्य परीक्षा में प्रवेश के लिए आयोग द्वारा पात्र घोषित होते हैं। वे पुनः ऑनलाइन आवेदन करते हैं।

प्रारम्भिक परीक्षा :

प्रारम्भिक परीक्षा में दो प्रश्न पत्र होते हैं तथा प्रत्येक के लिए समय दो घण्टे निर्धारित है।

प्रश्न पत्र I. सामान्य अध्ययन 200 अंक

प्रश्न पत्र II :सामान्य अध्ययन 200 अंक

दोनों प्रश्न पत्र वस्तुनिष्ठ (बहुविकल्पीय) प्रकार के होते हैं। प्रश्न पत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में होते हैं। वस्तुनिष्ठ प्रकार के इन प्रश्न पत्रों में ऋणात्मक अंकन की अवस्था है जो एक तिहाई अंक प्रति प्रश्न निर्धारित है। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा प्रारम्भिक परीक्षा का यह नया प्रतिमान वर्ष 2011 से लागू किया गया। सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा का सामान्य अध्ययन प्रश्न पत्र II अर्हक प्रश्न पत्र होता है। जिसमें न्यूनतम 33 प्रतिशत अंक लाना अनिवार्य होता है।

सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा तथा भारतीय वन सेवा की प्रारम्भिक परीक्षा एक ही परीक्षा के रूप के आयोजित की जाती है। वर्ष 2013 से भारतीय वन सेवा (IFS) के लिए प्रारम्भिक परीक्षा की शुरूआत की गई है। पूर्व में इस सेवा हेतु केवल एक ही परीक्षा (अर्थात मुख्य परीक्षा) होती थी लेकिन वर्ष 2013 से इस सेवा के लिए भी प्रारम्भिक परीक्षा शुरू की गई है किन्तु यह अलग से आयोजित न करके संयुक्त रूप से सिविल सेवा (प्रारम्भिक) परीक्षा के साथ ही आयोजित की जा रही है। मुख्य परीक्षा हेतु दोनों के लिए अलग–अलग अर्हता सूची (Qualifying list) बनती है। तथा दोनों सेवाओं की मुख्य परीक्षा अलग से आयोजित की जाती है।

प्रारम्भिक परीक्षा केवल एक स्क्रीनिंग (Screening) परीक्षा है प्रारम्भिक परीक्षा में प्राप्त अंको के आधार पर ही मुख्य परीक्षा की अर्हता सूची (Qualifying list) बनती है। प्रारम्भिक परीक्षा के अंक अन्तिम वरीयता सूची के निर्धारण में नहीं जोड़े जाते है।

मुख्य परीक्षा :

प्रारम्भिक परीक्षा अर्हत (Qualify) करने वाले तथा मुख्य परीक्षा में प्रवेश दिए जाने वाले उम्मीदवारों की संख्या उस वर्ष में विभिन्न सेवाओं तथा पदों से भरी जाने वाली रिक्तियों की कुल संख्या का लगभग बारह से तेरह गुना होती है। वर्ष 2013 में संघ लोक सेवा आयोग ने परीक्षा में बदलाव किया है। परीक्षा की वर्तमान योजना इस प्रकार है :

प्र□न पत्र क संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं में से उम्मीदवार द्वारा चुनी गई कोई एक भारतीय भाषा 300 अंक

प्रश्न पत्र ख अंग्रेजी 300 अंक

वरीयता क्रम के लिए जिन प्रश्न पत्रों को आधार बनाया जाना है वे निम्नानुसार है :

प्रश्न पत्र I. निबन्ध 250 अंक

प्रश्न पत्र II सामान्य अध्ययन – I 250 अंक

(भारतीय विरासत और संस्कृति, विश्व का इतिहास एवं भूगोल)

प्रश्न पत्र III सामान्य अध्ययन II 250 अंक

(शासन व्यवस्था, संविधान, शासन प्रणाली, सामाजिक न्याय

तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध)

प्रश्न पत्र IV सामान्य अध्ययन III 250 अंक
(प्रौद्योगिकी , आर्थिक विकास, जैव विविधता, पर्यावरण, सुरक्षा एवं आपदा प्रबंधन)

प्रश्न पत्र V सामान्य अध्ययन IV 250 अंक
(नीति शास्त्र, सत्यनिष्ठा और अभिरूचि)

प्रश्न पत्र VI वैकल्पिक विषय : प्रश्न पत्र – I 250 अंक

प्रश्न पत्र VII वैकल्पिक विषय : प्रश्न पत्र – II 250 अंक

(उप योग (लिखित परीक्षा) 1750 अंक

व्यक्तित्व परीक्षण (साक्षात्कार) 275 अंक

कुल अंक 2025 अंक

अंतिम वरीयता सूची में गणना किए जाने वाले अंकः 2025 अंक

साक्षात्कार के लिए बुलाए जाने वाले उम्मीदवारों की संख्या भरी जाने वाली रिक्तियों की संख्या से लगभग दुगुनी होती है। भारतीय भाषा एवं अंग्रेजी के प्रश्न पत्रों के अंक अन्तिम योग्यता सूची (Merit List) में नहीं जोड़े जाते है किन्तु इन प्रश्नपत्रों में उत्तीर्ण होना अनिवार्य है। अन्तिम वरीयता सूची भारतीय भाषा एवं अंग्रेजी के प्रश्न पत्रों को हटाकर शेष प्रश्नपत्रों के कुल योग 1750 अंक तथा व्यक्तित्व परीक्षण के 275 अंक जोड़कर 2025 अंकों में से बनाई जाती है।

भर्ती सम्बन्धी समितियाँ एवं उनकी अनुशंसाएँ :

स्वतंत्रता के उपरान्त अनेकों समितियों एवं आयोगों में भर्ती से सम्बन्धित विभिन्न आयामों पर अपनी अनुशंसाएँ दी है। इनमें से प्रमुख समीतियाँ निम्नलिखित है –

1. ए.डी. गोरवाला : लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन, 1951 (Report on Public Administration, 1951, by A.D. Gorwala)
2. लोक सेवा (भर्ती के लिए योग्यता) समिति, 1956 जिसे ए. राधास्वामी मुदालियर समिति के नाम से भी जाना जाता है। (The Public Service (Qualification For Recrutement) Committee, 1956)
3. भारतीय एवं राज्य प्रशासनिक सेवाओं तथा जिला प्रशासन की समस्याओं पर वी.टी. कृष्णामचारी प्रतिवेदन, 1962 (Report on Indian and State Administrative Services and Problems of Distriet Administration by V.T. Krishnamachari, 1962)
4. प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग का कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी प्रतिवेदन, 1969. (Frist A.R.C : Report on Personnal Administration, 1969)
5. भर्ती नीति एवं चयन पद्धति समिति,1976 (दौलत सिंह कोठारी समिति (Comittee on Recruitert Policy and Selection Methods)
6. लोक सेवा परीक्षा की योजना की समीक्षा सम्बन्धी समिति का प्रतिवेदन,1989 (सतीश चन्द्रा समिति) (Report of the Civil Services Examination Review Committee - 1989)
7. लोक सेवा परीक्षा समीक्षा समिति सम्बन्धी प्रतिवेदन, 2001 (प्रो. वाई. के. अलघ समिति) (Report of Civil Serviees Examiniation Review Committee 2001)
8. लोक सेवाओं में सुधार समिति का प्रतिवेदन , 2004 (होता समिति रिपोर्ट) (Report of the Committee on Civil Services Reforms, 2004)

इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा सिविल सेवा परीक्षा के विभिन्न आयामों को लेकर आनन्द कृष्णम समिति, भट्टाचार्य समिति, एस.के. सिन्हा समिति, निगवेकर समिति, पुरूषोत्तम अग्रवाल समिति, एवं बासवान समिति का भी गठन किया गया है।

उक्त वर्णित समितियों की कुछ प्रमुख अनुशंसाऐं निम्नानुसार है :

दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में बनी ''भर्ती नीति एवं चयन पद्धति पर समिति, 1976'' ने सिविल सेवा परीक्षा प्रणाली में प्रमुख परिवर्तनों की अनुशंसा की । समिति की प्रमुख अनुशंसा दो चरणों की परीक्षा प्रणाली लागू करने की थी। एक प्रारम्भिक परीक्षा (Preliminary Examination) तथा उसके बाद एवं मुख्य परीक्षा (Main Examination) । समिति ने लोक सेवकों की प्रशिक्षण प्रणाली में परिवर्तन हेतु भी सुझाव दिए।

पाँचवे वेतन आयोग (1996) ने यह सुझाव दिया कि संविदा आधारित (Contract Basis) रोजगार को बढ़ावा दिया जाए तथा सरकारी कर्मचारियों के निजी क्षैत्र में जाने के इच्छुक होने पर उनका लिएन (Lien) बनाए रखने का अधिकार (अर्थात पदाधिकार) दो वर्ष तक बनाए रखा जाए।

वाई. के अलध समिति (2001) ने सुझाव दिया की परीक्षा वैकल्पिक विषयों (Optional Subjects) के स्थान पर सामान्य विषयों (Common Subjects) के आधार पर ली जानी चाहिए।

होता समिति –(2004) ने उच्च लोक सेवाओं में भर्ती की उम्र 21 से 24 वर्ष का सुझाव दिया तथा अनुसूचित जाति /जनजाति के उम्मीदवारों को 5 वर्ष तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के उम्मीदवारों को 3 वर्ष छूट देने का सुझाव दिया। समिति ने चयन प्रक्रिया के अभिवृत्ति एवं नेतृत्व परीक्षणों (Attitude and Leadrership Tests) भी शुरू करने का सुझाव दिया।

सतीश चन्दा समिति (1989) ने मुख्य परीक्षा में 200 अंकों का ''निबन्ध'' का प्रश्न पत्र शामिल किए जाने की अनुशंसा की । इसके अतिरिक्त समिति ने प्रारम्भिक स्तर की वस्तुनिष्ठ परीक्षा में नकारात्मक अंक (Negative Marking) प्रदान करने की भी अनुशंसा की। साथ ही व्यक्तित्व जाँच परीक्षा (Interview) को 250 की बजाए 300 अंक का करने का सुझाव दिया।

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (2005) ने भर्ती के सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये है :

1. सिविल सेवा परीक्षा में भाग लेने के लिए सामान्य श्रेणी के उम्मीदवारों के लिए उम्र 21 से 25 वर्ष अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए 21 से 28 वर्ष तथा अनुसूचित नीति, अनुसूचित जनजाति एवं दिव्यांग उम्मीदवारों के लिए 21 से 29 वर्ष होनी चाहिए।

2. सिविल सेवा परीक्षा में भाग लेने के लिए अवसरों की संख्या सामान्य वर्ग के उम्मीदार के लिए 3 अन्य पिछड़ावर्ग के लिए 5, अनुसूचित जाति/जनजाति तथा दिव्यांगों के लिए 6, 6 होनी चाहिए।

लोक सेवाओं में भर्ती प्रक्रिया में कमियाँ :

1. भर्ती सम्बन्धी मामलों में चयनकर्त्ताओं का चयन (Selection of the Selectors) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु भारत में संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों के सम्बन्ध में केवल यहीं प्रावधान किया गया है कि इन आयोगों के यथा सम्भव आधे सदस्य ऐसे होंगें जिन्हें सरकारी सेवा का 10 वर्ष का अनुभव प्राप्त हो। स्पष्टतः न तो शेष आधे सदस्यों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है और न ही उन आधे सरकारी सदस्यों की चारित्रिक उत्कृष्ठता, योग्यता अथवा तटस्थता, संवैधानिक निष्ठा के विषय में अन्य कोई स्पष्टीकरण दिया गया है। जिसके परिणाम स्वरूप लोक सेवा आयोगों में चयनकर्त्ताओं की नियुक्ति पूर्णतः सत्तारूढ़ दल की मनमर्जी पर निर्भर है। जिसका सर्वाधिक दुरूपयोग होता रहा है।
2. राज्यों के लोक सेवा आयोगों की तटस्थता एवं निष्पक्षता समय–समय पर प्रश्नगत होती रही है। आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों पर भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद के आरोप लगते रहे हैं।
3. प्रश्न पत्रों में त्रुटियों आती रही है प्रश्न पत्रों का गलत निर्माण, वस्तुनिष्ठ प्रश्नपत्रों में एक से अधिक उत्तरों का सही होना इत्यादि सामान्यतः देखा जाता है।
4. भर्ती प्रक्रिया में आरक्षण, प्रश्न पत्रों की त्रुटियाँ आदि को लेकर प्रकरण न्यायालयों में चले जाते हैं और परिणाम देरी से आते हैं। जिससे योग्य व्यक्ति भर्ती की और आकर्षित नहीं होते हैं।
5. लोक सेवाओं में भर्ती हेतु निर्धारित एक निश्चित परीक्षा प्रणाली का निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका है। परीक्षा प्रणाली में मनौवैज्ञानिक परीक्षण, निबन्ध का प्रश्न पत्र, वैकल्पिक विषयों का जोड़ना–हटाना निरन्तर चलता रहता है।
6. भर्ती परीक्षा में उम्मीदवारों किन भाषाओं में अपना उत्तर दे सकते है ? क्या उन्हें भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में वर्णित किसी भी भाषा में अपना उत्तर देने का अधिकार है ? यह अभी भी प्रश्नगत है।
7. लोक सेवाओं में भर्ती केवल सूचनात्मक प्रकृति की होती है। अर्थात् लोक सेवा आयोग केवल भर्ती की सूचना की एक विज्ञप्ति जारी करता है। सरकारी नौकरियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ही केवल एक मात्र प्रचार है। आयोग द्वारा योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए प्रचार नहीं किया जाता है।
8. भर्ती सम्बन्धी संस्थान अपने परीक्षा केलैण्डर (अर्थात् वर्ष भर में ली जानी वाली भर्ती परीक्षाओं का काल क्रम) का समयानुसार क्रियान्वयन नहीं कर पाते हैं।
9. इसके अतिरिक्त निर्धारित पात्रता के आधार पर वास्तविक रूप से योग्य उम्मीदवार कई बार परीक्षा परिणाम के उपरान्त निर्धारित किए जाते है तथा उन्हें अंत में अयोग्य अथवा खारिज किया जाता है। जिससे न केवल उनका मनोबल गिरता है अपितु संसाधनों का अपव्यय भी होता हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. भर्ती समस्त कार्मिक प्रशासन की आधारशिला है।
2. भर्ती में योग्य उम्मीदवारों हेतु अवसर की समानता बनी रहनी चाहिए एक अच्छी भर्ती प्रणाली वह है जो योग्यता प्रणाली (Marit System) पर आधारित हो तथा राजनीतिक प्रभावों, भाई–भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से मुक्त हो।
3. भर्ती की दो प्रमुख पद्धतियाँ है

   1. बाह्य पद्धतियां एवं 2.. आन्तरिक पद्धतियां।
4. बाह्य्य पद्धति में संस्था/कैडर से बाहर के उम्मीदवार भी चयन के पात्र होते हैं। जबकि आन्तरिक भर्ती में संस्था/कैडर के अन्दर से ही उम्मीदवारों के चयन पर विचार किया जाता है।5. बाह्य्य पद्धतियों में प्रतियोगी परीक्षा द्वारा भर्ती, साक्षात्कार द्वारा चयन, प्रतिनियुक्ति, अल्पावधि संविदा सहित प्रतिनियुक्ति (आई.एस.टी.सी), आमेलन तथा सशस्त्र कार्मिकों का पुनर्नियोजन सम्मिलित है।
6. आन्तरिक भर्ती ने पदोन्नति तथा संयुक्त पद्धति अथवा कम्पोजिट प्रणाली आती है।
7. भारत में सिविल सेवाओं में भर्ती (अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाएं ग्रुप–क तथा ग्रुप–ख की सेवाएं एवं पद) एक ही सिविल सेवा परीक्षा द्वारा की जाती हैं।
8. अतः परीक्षा दो चरणों में होती है प्रारम्भिक परीक्षा एवं मुख्य परीक्षा ।
9. केवल मुख्य परीक्षा (साक्षात्कार सहित) के अंकों के आधार पर ही अन्तिम मैरिट का निर्धारण किया जाता है।
10. भारत में भर्ती की अनेक समस्याएं रही है इनमें चयनकत्ताओं का चयन, आयोगों की निष्पक्षता पर विवाद, परीक्षा का बदलता पैटर्न, भाषागत विवाद, परीक्षाओं से सम्बन्धित बढ़ते न्यायिक प्रकरण, परीक्षा कैलैण्डर का लागू न हो पाना इत्यादि प्रमुख हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. भर्ती को कार्मिक प्रशासन की आधारशिला किसने कहा है ?
(अ) स्टॉल (ब) रेम्जेम्योर
(स) मैक्स वेबर (द) पर्किंसन
2. भारत में अखिल भारतीय सेवाओं हेतु आयोजित प्रतियोगी परीक्षा में निबन्ध का प्रश्न पत्र किस समिति की अनुशंसा पर सम्मिलित किया गया है ?
(अ) दौलत सिंह कोठारी समिति
(ब) वाई.के. अलघ समिति
(स) सतीश चन्द्रा समिति
(द) होता समिति।
3. किस समिति की अनुशंसा पर भारत में लोक सेवाओं की भर्ती परीक्षा में प्रारम्भिक परीक्षा को आरम्भ किया गया ?
(अ) बासवान समिति
(ब) होता समिति
(स) दौलत सिंह कोठारी समिति
(द) मैकाले समिति
4. भारत में लोक सेवाओं में खुली प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से भर्ती किस समिति की अनुशंसा से प्रारम्भ की गई।
(अ) मैकाले समिति
(ब) ली आयोग
(स) पॉल एच. एपल्बी समिति
(द) प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग।
5. भारत में अखिल भारतीय सेवाओं हेतु आयोजित प्रतियोगी परीक्षा में न्यूनतम शैक्षणिक अर्हता क्या है ?
(अ) सैकेण्ड्री (ब) स्नातक
(स) स्नातकोत्तर (द) विधि स्नातक

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. लोक सेवाओं में भर्ती हेतु स्वतन्त्र भर्ती निकाय क्यों आवश्यक है ?
2. प्रत्यक्ष भर्ती से आप क्या समझते है ?
3. अप्रत्यक्ष भर्ती के विभिन्न प्रकारों के नाम बताइये।
4. संयुक्त भर्ती किन भर्ती पद्धतियों का मेल है ?
5. प्रत्यक्ष भर्ती के दो प्रकार कौनसे है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. एक श्रेष्ठ भर्ती प्रणाली में क्या गुण होने चाहिए ?
2. भारत में लोक सेवकों की भर्ती प्रणाली की स्वतंत्रता को कैसे सुनिश्चित किया गया है ?
3. दौलत सिंह कोठारी समिति की प्रमुख अनुशंसाऐं बताइये।
4. पदौन्नति से आप क्या समझते हैं ?
5. भारत में लोक सेवकों की भर्ती की प्रक्रिया में प्रमुख कमियाँ क्या हैं ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भर्ती के विभिन्न प्रकारों पर एक लेख लिखिए।
2. भारत में अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती की प्रक्रिया को समझाइये।
3. लोक सेवकों की भर्ती प्रक्रिया के सम्बन्ध में किये गये विभिन्न सुधार प्रयासों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला :

1. (अ) 2. (स) 3. (स) 4. (अ) 5. (ब)

अध्याय – 23
लोक सेवाओं में प्रशिक्षण
(Training in Civil Services)

प्रशिक्षण प्रत्येक कार्मिक की आवश्यकता है चाहे वह शासकीय सेवाओं से जुड़ा हो अथवा निजी क्षेत्र से। प्रशिक्षण वस्तुतः उन्हें अपने पद के दायित्वों के सर्वोत्तम अनुकूल बनाने में सहायक होता है। प्रशिक्षण का सम्बन्ध न केवल व्यक्ति की कार्यगत कुशलता से है अपितु उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास तथा उसके चरित्र एवं मनोबल निर्माण से है। प्रशिक्षण ही परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप संस्था के मानव संसाधन को ढालने तथा उसके अनुकूलन करने का कार्य करता है तथा यह संस्था के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्रभावी रूप से प्राप्ति का माध्यम है।

प्रशिक्षण (Training) को शिक्षण (Education) से पृथक करते हुए वारेन बैनिस ने अपनी पुस्तक ''How to Become a Leader'' में स्पष्ट किया है कि प्रशिक्षण, शिक्षण से भिन्न एक सीमित, सुनिश्चित, लक्ष्योंन्मुखी, समाधानोन्मुखी, कार्योन्मुखी, निगमनात्मक, अल्पावधि, व्यवहारिक ज्ञान आधारित, निर्देश आधारित प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध पद से होता है। बैनिस ने दोनों की प्रकृति, उद्देश्य, प्रक्रिया, पद्धति इत्यादि को लेकर इनमें अन्तर किया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में जहाँ कि लोक सेवाऐं सामान्यज्ञ (Generalist) प्रधान होती है तथा लोक सेवक अपनी सामान्य अर्हताओं के आधार पर सेवाओं में प्रवेश पाते हैं। वहाँ प्रशिक्षण की आवश्यकता और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, जिससे की वे अपनें पदों/कार्यो के अनुकूल बन सके।

लोक सेवाओं के सम्बन्ध में प्रशिक्षण के उद्देश्य :

लोक सेवाओं के सम्बन्ध में प्रशिक्षण के उद्देश्य निम्न हैं:–

1. लोक सेवकों में प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए आवश्यक ज्ञान एंव कौशल प्रदान करना।
2. लोक सेवकों को सिविल सेवा में आने वाली चुनौतियों तथा अवसरों से अवगत कराना ।
3. लोक सेवकों को देश के प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक एंव राजनीतिक परिदृश्य से अवगत कराना।
4. ''शीलम परम भूषणम्'' की भावना को दृढ़ करना।
5. लोक सेवकों में उचित मूल्यों एंव मनोभावों का संवधर्न करना (जैसे कि लोक सेवक जनता का एक सेवक है न की स्वामी।)
6. लाक सेवकों के व्यक्तिव की सभी विशेषताओं का जैसे बुद्धिमत्ता, नैतिकता इत्यादि का तथा उनका शारीरिक विकास करना।
7. विभिन्न सिविल सेवाओं के सदस्यों के मध्य संघ भाव को विकसित कर बेहतर समन्वय स्थापित करना।
8. लोक सेवकों को आचार नीति एंव विकासत्मक प्रशासन से सम्बंधित अनुभवात्मक ज्ञान (Learning Experience) से अवगत कराना।
9. लोक सेवकों के मनोबल को उच्च करना।
10. लोक सेवकों में प्रशासनिक एंव सांस्कृतिक लोकाचार की बेहतर समझ के लिए आवंटित राज्य की क्षेत्रीय भाषा मे कुशलता सिद्ध करना।
11. लोक सेवकों के प्रशासनिक, प्रबंधकीय एंव संचार एवं सूचना प्रौधोगिक सम्बन्धी कौशल मे निखार लाना।

प्रशिक्षण की तकनीकें :

लोक सेवकों के प्रशिक्षण के लिए सामान्यतः एक से अधिक प्रशिक्षण तकनी कों का प्रयोग किया जाता है। प्राशिक्षण की कुछ तकनीकें निम्नानुसार हे :

1. विद्वानों के व्याख्यान (Lectures)
2. विविध विचारों को जानने के लिए पैनल चर्चा (Panel Discussion)
3. प्रकरण अध्ययन (Case Study)
4. फिल्में समूह परिचर्चा (Group Discussion)
5. अनुकरण अभ्यास (Simulation Exercise)
6. संगोष्ठियाँ (Seminars)
7. मूट कोर्ट और मॉक ट्रायल (Moot Court and Mock Trial)
8. आदेश एंव निर्देश लेखन अभ्यास (Order and Judgement Writing Practice)
9. प्रयोगात्मक निदेर्शन(Practical Demostration)
10. समस्या समाधान अभ्यास (Problem Solving Exercises)
11. रिपोर्ट लेखन (सत्र आलेख) (Report Writing (Term Paper))
12. समूह कार्य (Group Work)
13. मैनेजमैन्ट गेम्स (Management Games)
14. रोल प्ले समूह अभ्यास (Role Play)
15. क्षेत्रीय तथा आउटडोर भ्रमण (Field and Outdoor Travelling)

प्रशिक्षण की किन तकनीक का प्रयोग किया जाएगा अथवा जाना चाहिए, यह प्रशिक्षण आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। भिन्न– भिन्न आवश्यकताओं के लिए भिन्न–भिन्न तकनीकों के मिश्रण प्रभावी सिद्ध होते हैं।

प्रशिक्षण के प्रकार :

प्रवेश कालीन प्रशिक्षण (Entry Level Training) :

यह वह प्रशिक्षण है जो सभी नये भर्ती लोक सेवकों को उनकी लोक सेवाओं में भर्ती के तत्काल बाद में तथा उनके किसी पद के कर्तव्यों एंव दायित्वों को ग्रहण करने से पहले उन्हें दिया जाता है। इस प्रशिक्षण का उद्धेश्य उनमें सरकार के कार्यों की गहन समझ विकसित करना तथा नव लोक सेवकों को अपने पद के दायित्वों को पूर्ण करने के लिए तैयार करना है। यह प्रशिक्षण आवासीय, कठोर, अनिवार्य तथा सामान्यतः लम्बी अवधि का होता है। इसके तहत आधारभूत प्रशिक्षण, व्यवसायिक प्रशिक्षण अभिमुखी प्रशिक्षण इत्यादि सम्मिलित है। उदाहरणार्थः अखिल भारतीय सेवाओं, तथा केंद्रीय सेवाओं गुप ''ए'' के नवचयनित अधिकारियों को दिया जाने वाला आधारभूत प्रशिक्षण, तथा तत्पश्चात् दिया जाने वाला व्यवसायिक प्रशिक्षण इत्यादि।

1. आधारभूत प्रशिक्षण (Foundation Training) :

उक्त प्रशिक्षण के माध्यम से प्रशिक्षणार्थियों को कार्य की मूलभूत चुनौतियों, उसके पर्यावरण तथा कार्य संस्कृति से परिचित कराया जाता है। अखिल भारतीय सेवाओं के नव चयनित अधिकारियों के सम्बन्ध में इसका विस्तृत विवरण आगे दर्शाया गया है।

2. व्यवसायिक प्रशिक्षण अथवा संस्थागत प्रशिक्षण (Professional Training) :

इस प्रशिक्षण का उद्देश्य लोक सेवको को अपने द्वारा भविष्य मे किए जाने वाले विशिष्ट कार्यों के लिए तैयार करना है। यह प्रशिक्षण उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले दायित्वों के परिपेक्ष्य में होता है तथा विषय के ज्ञान तथा तकनीक से जुड़ा होता है। इसका भी विस्तृत विवरण भारतीय प्रशासनिक सेवा के परिपेक्ष्य मे आगे देर्शाया गया है।

3. अभिमुखीकरण प्रशिक्षण (Orientation Training) :

अभिमुखीकरण प्रशिक्षण भी नव प्रवेशी अधिकारियों के लिए होता है। इसका उद्देश्य उन्हें कार्य की आधारभूत अवधारणा, नये कार्य के पर्यावरण के संबंध मे सामान्य सूचनाऐं, सेवा नियमों, कार्य सम्बन्धी नैतिक आचरण, वृहद संगठनात्मक मुद्दों (Broad Organisational Issues) से परिचित कराना है। जैसे : विश्वविद्यालयों एंव महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को चयन उपरान्त अभिमुखीकरण प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

4. आरम्भिक प्रशिक्षण : (Induction Training)

आरम्भिक प्रशिक्षण भी अभिमुखीकरण प्रशिक्षण के ही समान है किन्तु अभिमुखीकरण प्रशिक्षण से यह इस रूप में भिन्न है कि यह एक विशिष्ट कार्य उन्मुखता (JOb Centered Focus) लिए होता है। राज्य सिविल सेवा से पदोन्नत/ भारतीय प्रशासनिक सेवा की चयन सूची में आने वाले अधिकारियों को यह प्रशिक्षण दिया जाता है। यह कार्य से सम्बंधित नियमों, कानूनों, प्रक्रियाओं इत्यादि के शीघ्रतिशीध्र समझने के उद्देश्य से दिया जाता है तथा उन्हे प्रशासन के रूप में प्रभावी रूप से कार्य करने के लिए बहुक्षेत्रीय ज्ञान तथा कौशल प्रदान करता है। जबकि दूसरी और अभिमुखीकरण प्रशिक्षण का उद्देश्य अपने रोजगार क्षेत्र सम्बन्धी सामान्य जानकारी उपलब्ध कराना है।

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण/ सेवाकालीन प्रशिक्षण (Post Entry Training or In Service Training) :

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण अथवा सेवाकालीन प्रशिक्षण वह है जो लोक सेवकों को उनके सेवा काल के दौरान मध्य में समय–समय पर दिया जाता है। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम का उद्देश्य उनके ज्ञान को अद्यतन (Update) करना है तथा उन्हें समय के साथ परिवर्तित हुए ज्ञान, तकनीक, कार्यसंस्कृति, सेवा

प्रशिक्षण के प्रकार

प्रवेश कालीन प्रशिक्षण (Entry Level Training)

(सेवा मे आने के तुंरत बाद दिया जाता है)
1. आधारभूत प्रशिक्षण (Foundation Training)
2. व्यावसायिक प्रशिक्षण (Professional Training)
3. अभिमुखीकरण प्रशिक्षण (Orientation Training)
4. आरम्भिक प्रशिक्षण (Induction Training)

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण/ सेवाकालीन प्रशिक्षण (Post Entry Training or In Service Training)

(सेवाकाल के दौरान दिया जाता है)
1. मिड–कैरियर प्रशिक्षण कार्यक्रम (Mid Carrier Training)
2. पुनश्चर्या प्रशिक्षण (RefresherTraining)

नियमों एवं अन्य सम्बन्धित जानकारी से परिचित कराना है। अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों को प्रायः 7 से 9 साल के सेवा काल के मध्य, 15 से 16 साल के सेवा काल के मध्य, तथा 26–28 साल के सेवा काल के मध्य सेवाकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है। जो मिड–कैरियर प्रशिक्षण भी कहलाता है। पुनश्चर्या पाठ्यक्रम भी इसी का एक प्रकार है।

मिड–कैरियर प्रशिक्षण एवं पुनश्चर्या पाठ्यक्रम : (Mid Carrier Training and Refresher Courses) :

यह सभी कर्मचारियों के लिए उनके कैरियर से जुड़े अनिवार्य कार्यक्रम होते है तथा उन्हें उच्च पदों पर पदोन्नत होने से पूर्व इन्हें करना आवश्यक होता है। इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों की डिजाइन, पाठ्यक्रम (Curriculum) अध्ययन पद्धति, संस्थागत सहभागिता (Institutional Partners) तथा फैकल्टी इत्यादि का निर्धारण उस कैडर नियंत्रण प्राधिकारी द्वारा किया जाता है। जो कि प्रशिक्षण प्राप्त करने अधिकारियों की अगली उच्च स्तरीय योग्यता (Next higher level Competences) के तथा पदोन्नति के उपरान्त के दायित्वों का ध्यान के रखकर यह तय करता है। इन प्रशिक्षण कार्यक्रमों की अवधि 4 से 8 सप्ताह होती है तथा इसमें देशीय एवं विदेशी प्रशिक्षण सम्मिलित हो सकता है ।

अधिकारियों के वेतन/ग्रेड, स्केल अथवा वार्षिक वेतन वृद्धि से सम्बन्धित नियमों में इस प्रकार का प्रावधान किया जा सकता है जिससे की इस प्रकार के प्रशिक्षण को अनिवार्य किया जाता है। उदाहरणार्थ : भारतीय प्रशासनिक सेवा/भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों का दिया जाने वाला मिड कैरियर प्रशिक्षण । कुछ जगह इसी प्रकार के प्रशिक्षण पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों के नाम से भी जाने जाते हैं। जिसमें अधिकारियों की उनके सम्बन्धित विषय के ज्ञान को अद्यतन किया जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण :

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण दो भागों के दिया जाता है। प्रथम : आधारभूत पाठ्यक्रम (Foundation Course) तथा द्वितीय व्यावसायिक पाठ्यक्रम (Professional Training)। व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दो चरणों में दिया जाता है तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के प्रथम चरण एवं द्वितीय चरण के मध्य उन्हें जिला प्रशिक्षण (District Training) दिया जाता है।

आधारभूत पाठ्यक्रम : (Foundation Training)

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का आधारभूत प्रशिक्षण कार्यक्रम लाल बहादुर शास्त्री, राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी में आयोजित किया जाता है। आधारभूत पाठ्यक्रम की अवधि लगभग 16 सप्ताह होती है।

यह प्रशिक्षण अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवा ग्रुप–ए के अधिकारियों के लिए कॉमन होता है अर्थात् दोनों को यह प्रशिक्षण एक साथ दिया जाता है। इसके माध्यम से प्रशिक्षणाथियों में अधिकारी सदृश्य गुणों और प्रवृत्तियों का विकास करने तथा उनमें परस्पर संघभाव को पैदा करने का प्रयास किया जाता है। यह प्रशिक्षण शैक्षणिक विषयों तथा सहपाठ्यक्रम गतिविधियों का मिश्रण होता है इस पाठ्यक्रम के निम्न उद्देश्य होते हैं

1. प्रशिक्षणाथियों को देश के प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिदृश्य की जानकारी देना ।
2. प्रशिक्षणार्थियों को सिविल सेवा में आने वाली चुनौतियों तथा अवसरों से अवगत कराना ।
3. प्रशिक्षणार्थियों के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास जैसे : उनमें बुद्धिमत्ता, नैतिकता का तथा उनका शारीरिक विकास करना।
4. विभिन्न सिविल सेवाओं के सदस्यों के मध्य संघभाव को विकसित कर बेहतर समन्वय स्थापित करना ।

वस्तुतः यह पाठ्यक्रम प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को उन आधारभूत मूल्यों, कुशलताओं और ज्ञान से परिचित कराता है, जो उसे सरकारी अधिकारी के रूप में प्रभावी कार्य करने हेतु आवश्यक है। यह पाठ्यक्रम शैक्षणिक, बाह्रय क्रियाकलाप, पाठ्योत्तर तथा सह–पाठ्यक्रम गतिविधियों का मिश्रण होता है। प्रशिक्षणार्थियों को सरकार में प्रभावी कार्य निष्पादन के लिए जरूरी शासन की बुनियादी अवधारणाओं, नियमों इत्यादि को समझने के लिए प्रशिक्षण सामग्री भी उपलब्ध कराई जाती है।

जहाँ उन्हें एक और कक्षाओं में विधि, लोक प्रशासन तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन कराया जाता है, वहीं दूसरी और आचार नीति, शिष्टाचार तथा नेतृत्व की बुनियादी जानकारी भी प्रदान की जाती है। उन्हें सूचना प्रौधोगिक का ज्ञान भी दिया गया है, तो उन्हें भारत के गाँवों का भ्रमण कराकर, तथा क्षेत्रीय एवं आउटडोर, भ्रमण, पहाड़ी ट्रेकिंग आदि के माध्यम से वास्तविक कठिनाईयों का भी बोध कराया जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रवेश कालीन प्रशिक्षण

1. **आधार भूत पाठ्यक्रम (Foundation Course) (16 सप्ताह)**

1. **व्यावसायिक पाठ्यक्रम चरण : I (Professional Course : Phase - I) (26 सप्ताह)**
2. **जिला प्रशिक्षण (District Training) (54 सप्ताह)**
3. **व्यावसायिक पाठ्यक्रम – चरण – II (Professional Training : Phase - II) (8 सप्ताह)**

व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा संस्थागत प्रशिक्षण (Professional Training or Institutional Training) : आधारभूत प्रशिक्षण के उपरान्त विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण (Professional Training) दिया जाता है। व्यावसायिक प्रशिक्षण सभी के लिए समान नहीं होता है। तथा सभी सेवाओं के लिए अलग–अलग उनके सेवा क्षैत्रों से सम्बन्धित होता है। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण मसूरी में ही होता है किन्तु भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी सरदार वल्लभ भाई पटेल पुलिस अकादमी, हैदराबाद जाते है। इसी प्रकार भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी, विदेश सेवा संस्थान, नई दिल्ली जाते है, तथा अन्य सेवाओं के अधिकारी अपने सम्बन्धित प्रशिक्षण संस्थानों में जाते है। जहाँ उन्हें अपने सम्बन्धित विषयों (जैसे : पुलिस, टैक्स, विदेश नीति, लेखा इत्यादि के विषय में प्रशिक्षण दिया जाता है।)

भारतीय प्रशासनिक सेवा का व्यावसायिक पाठ्यक्रम (प्रशिक्षण) दो चरणों में दिया जाता है। प्रथम चरण 26 सप्ताह का होता है। जिसमें लगभग 16 सप्ताह कक्षा आधारित प्रशिक्षण, 8 सप्ताह का शीतकालीन अध्ययन भ्रमण तथा एक सप्ताह का संसदीय प्रक्रियाओं तथा कार्यवाहियों का प्रशिक्षण सम्मिलित है। कक्षा आधारित प्रशिक्षण में वे विधि एवं विधिक प्रक्रिया, प्रशासनिक नियम, प्रक्रिया, कार्यक्रमों के दिशा निर्देश, आधुनिक प्रबन्ध के साधनों, आर्थिक विश्लेशषण, प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक लोकाचार, संगठनात्मक लिखित एवं मौखिक सम्प्रेक्षण, तकनीक इत्यादि के बारे में सीखते हैं, तथा शीतकालीन अध्ययन भ्रमण में इन्हें देश की विविधता और विशालता को समझने के लिए दो माह की लम्बी यात्रा पर ले जाते हैं।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को व्यावसायिक पाठ्यक्रम द्वितीय चरण से पूर्व उन्हें 54 सप्ताह का जिला प्रशिक्षण दिया जाता है। अर्थात् उन्हें जिलों में वरिष्ठ अधिकारियों के तहत कार्य का व्यवहारिक प्रशिक्षण लेने भेजा जाता है। जिला प्रशिक्षण के उपरान्त वे पुनः अकादमी में आते है तथा उन्हें व्यावसायिक पाठ्यक्रम – द्वितीय चरण का लगभग आठ सप्ताह का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य जिला प्रशिक्षण से प्राप्त अनुभव का विश्लेषण तथा उसकी मीमांसा के लिए संरचित दृष्टिकोण अपनाना है। यह प्रशिक्षण उनके प्रशासनिक, प्रबन्धकीय तथा आईसीटी सम्बन्धी कौशल को निखारने के लिए दिया जाता है तथा इसमें प्रशासनिक सिद्धान्त, प्रारम्भिक कौशलता तथा विकास योजनाओं की समीक्षा पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार हम भारतीय प्रशासनिक सेवा के सम्पूर्ण प्रशिक्षण को निम्न प्रकार सार संक्षिप्त कर सकते हैं।

1. आधारभूत प्रशिक्षण(Foundation Training) 16 सप्ताह
2. व्यावसायिक पाठ्यक्रम – प्रथम चरण (Professional Training Phase - I) 26 सप्ताह
3. जिला प्रशिक्षण (District Training) 54 सप्ताह
4. व्यावसायिक पाठ्यक्रम – द्वितीय चरण (Professional Training Plase-II) 8 सप्ताह

उक्त प्रशिक्षण जिसमें दो व्यावसायिक प्रशिक्षणों के मध्य एक जिला प्रशिक्षण दिया जाता है। उसे सैंडविच प्रशिक्षण (Sandwich Training) कहा जाता हैं।

भारत में प्रशिक्षण संस्थान :

भारत में लोक सेवकों के लिए अनेक प्रशिक्षण संस्थान कार्यरत है, इनमें से प्रमुख प्रशिक्षण संस्थानों की संक्षिप्त सूची निम्नानुसार है। –

प्रशिक्षण संस्थान	लाभग्राही समूह
1. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी	1. अखिल भारतीय सेवाओं तथा ग्रुप–ए केन्द्रीय सेवाओं के अधिकारी (संस्थापन पाठ्यक्रम)
2. सरदार वल्लभ भाई पटेल पुलिस अकादमी, हैदराबाद	2. भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी
3. विदेश सेवा संस्थान, नई दिल्ली	3. भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी
4. भारतीय लेखा परीक्षण एवं लेखा सेवा कर्मचारी प्रशिक्षण	4. भारतीय लेखा परीक्षण एवं लेखा सेवा के अधिकारी कॉलेज, शिमला
5. रेल्वे स्टाफ, कॉलेज, बडौदा	5. भारतीय रेल सेवा के अधिकारी
6. सचिवालय प्रशिक्षण एवं प्रबन्ध संस्थान, दिल्ली	6. केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारी
7. भारतीय राजस्व सेवा (प्रत्यक्ष कर) प्रशिक्षण संस्थान,	7. भारतीय राजस्व सेवा तथा इन्कम टैक्स विभाग के अधिकारी नागपुर
8. भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली	8. केन्द्र सरकार, राज्य सरकार एवं सार्वजनिक उपक्रमों के अधिकारी (रिफ्रेशर कोर्स)
9. राष्ट्रीय ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज संस्थान,	9. ग्रामीण विकास कार्यक्रमों से जुड़े विभिन्न विभाग के अधिकारी हैदराबाद
10. प्रशासनिक स्टाफ कॉलेज, हैदराबाद	10. सार्वजनिक एवं निजी क्षैत्र के उच्चाधिकारी (प्रबन्ध का प्रशिक्षण)

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. प्रशिक्षण एक लक्ष्योन्मुखी, समाधान उन्मुखी, सुनिश्चित, सीमित, निर्देश एवं व्यवहारिक ज्ञान आधारित अल्पावधि प्रक्रिया है।
2. प्रशिक्षण के माध्यम से लोक सेवकों को उनके पद के दायित्वों के अनुकूल बनाया जाता है तथा उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप ढ़ाला जाता है।
3. प्रशिक्षण की तकनीकों में व्याख्यान, समूह परिचर्चा, संगोष्ठियाँ, फिल्म, रिपोर्ट लेखन, मैनेजमैन्ट गेम्स, आउटडोर भ्रमण इत्यादि प्रमुख है।
4. लोक सेवकों को प्रशिक्षण सामान्यतः सेवा के आने के तुरन्त बाद, उनके पद का कार्यभार ग्रहण करने से पूर्व किया जाता है। जिसे प्रवेश कालीन प्रशिक्षण (Entry Level Training) भी कहते हैं तत्पश्चात् उन्हें सेवा में रहते हुए सेवा कालीन प्रशिक्षण दिया जाता है। जिसे प्रवेशोत्तर (Post Entry Training) कहते हैं।
5. आधार भूत प्रशिक्षण, व्यावसायिक अथवा संस्थागत प्रशिक्षण, अभिमुखीकरण, प्रशिक्षण आरम्भिक प्रशिक्षण सभी प्रवेश कालीन प्रशिक्षण के प्रकार है।
6. भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों का प्रवेश कालीन प्रशिक्षण दो भागों में होता है।
   1. आधार भूत प्रशिक्षण 2. व्यावसायिक प्रशिक्षण
7. भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों का व्यावसायिक प्रशिक्षण ''सैडविच प्रशिक्षण'' के रूप में होता है।
8. भारत के प्रमुख प्रशिक्षण संस्थानों में लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी, सरदार वल्लभ भाई पटेल पुलिस अकादमी, हैदराबाद, प्रशासनिक स्टाफ कॉलेज, हैदराबाद आदि प्रमुख है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. प्रशिक्षण के विषय में क्या सही नहीं है ?

(अ) यह निगमनात्मक है (ब) यह लक्ष्योन्मुखी है।
(स) यह समाधानोन्मुखी है (द) यह आगमनात्मक है।

2. निम्न में से कौनसा प्रशिक्षण प्रवेश कालीन प्रशिक्षण (Pre Entry Training) का उदाहरण है।

(अ) अभिमुखी करण प्रशिक्षण
(ब) मिड कैरियर प्रशिक्षण कार्यक्रम
(स) पुनश्चर्या प्रशिक्षण कार्यक्रम
(द) सेवा कालीन प्रशिक्षण

3. निम्न में से कौनसा प्रशिक्षण प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण (Post Entry Training) का उदाहरण है।

(अ) आधार भूत प्रशिक्षण (ब) व्यावसायिक प्रशिक्षण
(स) सेवाकालीन प्रशिक्षण (द) आरम्भिक प्रशिक्षण

4. भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के आधारभूत पाठ्यक्रम की अवधि लगभग कितनी होती है ?

(अ) आठ सप्ताह (ब) सोलह सप्ताह
(स) 10 सप्ताह (द) बारह सप्ताह

5. प्रशासनिक स्टाफ कॉलेज कहाँ पर स्थित है ?

(अ) हैदराबाद (ब) नई दिल्ली
(स) मसूरी (द) शिमला

6. भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कौनसा तथ्य गलत है ?

(अ) उन्हें 16 सप्ताह का आधारभूत प्रशिक्षण दिया जाता है।
(ब) उनका व्यावसायिक प्रशिक्षण ''सैडविच प्रशिक्षण'' कहलाता है।
(स) उनका व्यावसायिक प्रशिक्षण दो चरणों में होता है।
(द) उनका प्रशिक्षण हैदराबाद में संचालित किया जाता है।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशिक्षण क्यों अनिवार्य है ?
2. आधारभूत प्रशिक्षण कब प्रदान किया जाता है ?
3. मिड कैरियर प्रशिक्षण का क्या उद्देश्य होता है ?
4. भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण के विभिन्न चरणों के नाम लिखिए एवं उनके स्थान बताइए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशिक्षण का उद्देश्य बतलाइए।
2. प्रशिक्षण की तकनीकों के नाम लिखिए।
3. आधारभूत प्रशिक्षण पर एक टिप्पणी लिखिए।
4. व्यावसायिक प्रशिक्षण से आप क्या समझते है ?
5. प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण को समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण पर एक लेख लिखिए।
2. प्रशिक्षण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला :

1. (द) 2. (अ) 3. (स)
4. (ब) 5. (अ) 6. (द)

अध्याय – 24
संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग
(Union and State Public Serevice Commission)

किसी भी राष्ट्र की उन्नति एव उसका भविष्य उसके लोक सेवकों की क्षमता,कार्यकुशलता एंव प्रतिबद्वता पर निर्भर करता है और इसलिए वह अनिवार्य है कि योग्यतम व्यक्तियों का ही लोक सेवाओं में चयन किया जाए तथा उनकी भर्ती की समस्त प्रकिया को राजनीतिक दबाव , भाई–भतीजावाद एव भ्रष्टाचार इत्यादि से मुक्त रखने की व्यवस्था की जाए।

योग्य व्यक्तियो का चयन कार्मिक प्रशासन तंत्र की नीव है। इसे सुनिश्चित करने के लिए सामान्यतः सभी आधुनिक राष्ट्र–राज्यों में एक स्वतंत्र भर्ती प्रणाली व्यवस्था या निकाय उपलब्ध होता है। जो सभी प्रकार के दबावों से मुक्त रहकर तटस्थ एवं निष्पक्ष रुप से कार्य करता है तथ योग्यतम व्यक्तियों को लोक सेवाओं में लाने का कार्य करता है।

भारत में भी इसी को दृष्टिगत रखते हुए केन्द्रीय स्तर पर एक संघ लोक सेव आयोग एव राज्यों के स्तर पर उनके अपने राज्य लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई है तथा उन्हे सवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।

लोक सेवा आयोग का इतिहास :

ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय सिविल सेवकों का नामांकन कम्पनी के निर्देशकों द्वारा किया जाता था, किन्तु 1854 में ब्रिटिश संसद की प्रवर समिति की लॉर्ड मैकाले की रिपोर्ट के उपरान्त योग्यता आधारित भर्ती प्रणाली को अपनाया गया तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी की संरक्षण आधारित प्रणाली के स्थान पर प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा प्रवेश पर आधारित प्रणाली शुरु की गई।

इस उद्देश्य से सन 1854 में लंदन में सिविल सेवा आयोग की स्थापना की गई तथा वर्ष 1855 से प्रतियोगी परीक्षाओ की शुरुआत हुई। पहले यह परीक्षाएं लंदन में ही आयोजित की जाती रहीं, किन्तु 1922 से भारतीय सिविल सेवा परीक्षा का आयोजन भारत में होने लगा।

भारत शासन अधिनियम 1919 की धारा 96 में भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया था, किन्तु इसकी स्थापना को लेकर कोई निर्णय नही हो सका तत्पश्चात भारत में उच्च सिविल सेवाओं पर बनें रॉयल कमीशन अथवा ली आयोग ने भी वर्ष 1924 में सौपी अपनी रिपोर्ट में लोक सेवा आयोग के गठन की सिफारिश की । जिसके फलस्वरुप 1 अक्टूबर 1926 को सर रास बार्कर की अध्यक्षता में प्रथम लोक सेवा आयोग की स्थापना हुई। इस लोक सेवा आयोग को सीमित परामर्शी कार्य सौंपे गए थे। तत्पश्चात स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं द्वारा निरन्तर इस पहलू पर जोर दिए जाने के परिणामस्वरुप भारत शासन अधिनियम, 1935 में फैडरेशन के लिए एक फैडरल लोक सेवा आयोग तथा प्रत्येक प्रान्त अथवा प्रान्तों के समूह के लिए प्रान्तीय लोक सेवा आयोग की स्थापना की बात कही गई। अंततः भारत शासन अधिनियम, 1935 के प्रावधानों के अनुसार 1 अप्रेल 1937 से लोक सेवा आयोग फैडरल लोक सेवा आयोग बन गया।

26 जनवरी 1950 को भारतीय संविधान लागू होने के उपरान्त संविधान के अनुच्छेद 378 के खण्ड (1) के आधार पर फैडरल लोक सेवा आयोग, संघ लोक सेवा आयोग में परिवर्तित हो गया तथा उसके अध्यक्ष एव सदस्य संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्य बन गए तथा प्रान्तीय लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्य राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्य बन गये।

लोक सेवा आयोग : वर्तमान स्वरुप

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 315 से 323 में संघ एव राज्यों के लोक सेवा आयोगों से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान दिए गए हैं। संविधान के अनुच्छेद, 315 में प्रावधान किया गया है कि संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा, किन्तु यदि दो या अधिक राज्य परस्पर सहमति के आधार पर यह चाहें कि उनके लिए एक ही लोक सेवा आयोग हो और यदि उन दोनो राज्यों के विधानमंडल द्वारा इस आशय का संकल्प पारित कर दिया जाता है तब संसद उन राज्यों की आवश्यकता पूर्ति हेतु संयुक्त लोक सेवा आयोग का भी गठन कर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त यदि किसी राज्य का राज्यपाल संघ लोक सेवा आयोग से अपने राज्य की किन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अनुरोध करता है, तब संघ लोक सेवा आयोग राष्ट्रपति की अनुमति से उस राज्य की किन्हीं अथवा सभी आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सकता है।

आयोग के सदस्यों की नियुक्ति एवं पदावधि (अनु.316) :

संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एव सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यदि दो या अधिक राज्यो के लिए संयुक्त आयोग गठित किया जाता है, तब उसके अध्यक्ष एवं सदस्य भी राष्ट्रपति द्वारा ही नियुक्त किए जाते है। राज्य लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है।

संविधान में आयोग के सदस्यों की योग्यता के विषय में केवल यही प्रावधान किया गया है कि आयोग में यथाशक्य निकटतम आधे व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जिन्हे केन्द्र या राज्य सरकार में कम से कम 10 वर्ष तक कार्य करने का अनुभव प्राप्त हो।

आयोग के सदस्यों की पदावधि :

संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य अपने पद ग्रहण की तारीख से छः वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक, दोनो में से जो भी पहले पूर्ण हो, अपना पद धारण करते हैं तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्य छः वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक, दोनो में से जो भी पहले पूर्ण हो, अपना पद धारण करते है।

किन्तु (अ) कोई सदस्य राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षरित पत्र द्वारा इससे पूर्व भी त्यागपत्र दे सकता है अथवा (ब) आयोग के किसी सदस्य को संविधान के अनुच्छेद 317 के खण्ड (1) या खण्ड(3) में उल्लेखित रीति से उससे पूर्व भी हटाया जा सकता है। जिसका विवरण आगे दिया गया है।

कोई भी व्यक्ति जो लोक सेवा आयोग का सदस्य बन जाता है वह पदावधि की समाप्ति के पश्चात उस पद पर पुर्ननियुक्ति का पात्र नही होता है।

आयोग के किसी सदस्य का हटाया जाना एवं निलंबित किया जाना (अनुच्छेद 317) :

संविधान के अनुच्छेद, 317(3) के अनुसार लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा अन्य किसी सदस्य को निम्न आधारो पर पद से हटाया जा सकता है :

(अ) यदि वह किसी सक्षम न्यायालय द्वारा दिवालिया न्याय निर्णित किया जाए अथवा ;

(ब) यदि वह अपने सेवा काल में अपने पद के कर्तव्यों के बाहर अन्य कोई लाभ का पद स्वीकार कर लेता है अथवा ;

(स) राष्ट्रपति की राय में शारीरिक अथवा मानसिक अशक्ति के कारण पद पर रहने के अयोग्य हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 317(1) के अनुसार राष्ट्रपति ''कदाचार''के आधार पर भी अध्यक्ष अथवा सदस्य को हटा सकता है, किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्रपति पहले उच्चतम न्यायालय को इस सम्बन्ध में जॉच का आदेश दे तथा उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 145 में उल्लेखित प्रकिया के अनुसार जाँच करके उसे हटाया जाने के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को दे।

आयोग के सदस्यों एव कर्मचारियों की सेवा शर्तों के बारे में विनियम बनाने की शक्ति (अनुच्छेद 318):

राष्ट्रपति विनियमों द्वारा संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या तथा सेवाशर्तों का निर्धारण कर सकता है। इसी प्रकार वह आयोग के कर्मचारियों की संख्या एव उनकी सेवाशर्तो का भी निर्धारण कर सकता है। वर्तमान में संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष एवं सात सदस्य है। आयोग का अपना एक सचिवालय है जो आयोग के सचिव के नेतृत्व के कार्य करता है। सचिव से नीचे ऊपर सचिव एव संयुक्त सचिव के पद है जिन्हे विभिन्न कार्य आंवटित होते है। इसी प्रकार राज्य स्तर पर राज्यपाल राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों एवं कर्मचारियों की संख्या तथा सेवा शर्तों का निर्धारण कर सकते है। राजस्थान लोक सेवा आयोग में वर्तमान में एक अध्यक्ष एवं सात सदस्य है।

आयोग के सदस्यों की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले तत्वः

भारतीय संविधान में आयोग की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए कई प्रावधान किए गए है , जो निम्ननुसार हैः

1. लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा की शर्तो में उनकी नियुक्ति के उपरान्त कोई भी अलाभकारी परिवर्तन नही किया जा सकता है। (अनुच्छेद 318)

2 संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष, पद पर न रह जाने पर,भारत सरकार अथवा किसी भी राज्य सरकार के अधीन किसी नियोजन का पात्र नही होता है। (अनुच्छेद 319)

3 संघ लोक सेव आयोग के अन्य सदस्य पद पर न रह जाने पर केवल संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या किसी राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष पद के रुप नियुक्ति के पात्र होते है किन्तु वे भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी नियोजन के पात्र नही होते है । (अनु.319)

इसी प्रकार राज्य लोक सेवा का अध्यक्ष, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्य के रूप में अथवा किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हो सकता है किन्तु वह भारत सरकार अथवा किसी भी राज्य की सरकार के अधीन

नियोजन का पात्र नहीं होता है।

राज्यों के लोक सेवा आयोगों के सदस्य, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य के रूप में नियुक्त हो सकते हैं या उसी राज्य के अथवा किसी अन्य राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हो सकते है किन्तु वे भी भारत सरकार अथवा किसी भी राज्य की सरकार के अधीन नियोजन का पात्र नहीं होता है।

4. लोक सेवा आयोग से सम्बन्धित व्यय, जिसमें इनके सदस्यों के वेतन,भत्ते, पेशंन इत्यादि भी सम्मिलित है भारत की संचित निधी पर भारित होता है । (अनुच्छेद–322) संचित निधि पर भारित व्यय पर संसद सदस्यों को मतदान का अधिकार नही होता है।

5 लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को केवल संविधान में वर्णित रीति अर्थात अनुच्छेद 317 के खण्ड (1) और खण्ड (3) में वर्णित रीति से ही उसके पद से हटाया जा सकता है । (अनु.316(2))

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयेग के सदस्य बिना किसी दबाव, भय एव लालच के तटस्थ एव निष्पक्ष रुप से न्यायपूर्ण तरीके से अपना कार्य कर सकें इस हेतु संविधान में व्यापक प्रावधान किए गए हैं तथा उसकी कार्यपालिका से स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है।

लोक सेवा आयोग के कार्य (अनु.320) :

संविधान के अनु. 320 में लोक सेवा आयोग के कार्यो का वर्णन किया गया है। आयोग के निम्न कार्य है :

1 संघ लोक सेवा आयोग संघ की सेवाओं में नियुक्ति के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन करता है तथा राज्यों के लोक सेवा आयोग राज्यों की सेवाओं में भर्ती के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन करते हैं।

2 यदि दो या दो से अधिक राज्य अनुरोध करते है तब संघ लोक सेवा आयोग उन राज्यों की किन्ही सेवाओं में भर्ती के लिए संयुक्त भर्ती की योजना बनाने एव उसे क्रियान्वित करने में राज्यों की सहायता करता हैं।

3 लोक सेवा आयोगों से निम्न विषयों पर परामर्श लिया जाता है : (अनु. 320 (3))

(अ) सिविल सेवाओं में और सिविल पदों के लिए भर्ती की पद्धतियों से सम्बन्धित सभी विषयों पर परामर्श तथा साथ ही नियम बनाना एव उनमें संशोधन करना।

(ब) सिविल सेवाओं और पदों पर नियुक्ति पदोन्नति, स्थानान्तरण में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तों के विषय में तथा ऐसी नियुक्ति पदोन्नति,एव स्थानान्तरण के लिए अभ्यर्थियों की उपयुक्तता पर परामर्श देना।

(स) विभिन्न सिविल सेवाओं के सदस्यों के अनुशासनात्मक मामलों में परामर्श।

(द) लोक सेवक द्वारा अपने पद के दायित्वों का निर्वहन करने पर यदि उसके विरुद्ध कोई विधिक कार्यवाही किसी के द्वारा की जाती है, तब प्रतिरक्षा में किए गए कानूनी खर्च की प्रतिपूर्ति के मामले में परामर्श।

(य) भारत सरकार के अधीन सिविल हैसियत में कार्य करते हुए यदि किसी व्यक्ति को कोई क्षति हो जाती है तब उस क्षति के सम्बन्ध में असाधारण पेंशन अथवा अन्य दावे के मामले में परामर्श।

इसके अतिरिक्त संघ लोक सेवा आयोग का कर्तव्य है कि वह राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित सभी मामलों/विषयों में परामर्श दे।

अनु. 320(3) में उल्लेखित मामलों में आयोग से परामर्श अनिवार्य है, किन्तु राष्ट्रपति ने ऐसे मामलो को बतलाते हुए विनियम बनाये है, जिनमें आयोग से परामर्श अनिवार्य नही है। इसे संघ लोक सेवा आयोग (परामर्श से छूट) विनियमावली, 1958 कहा जाता है।

4 संसद कानून बनाकर किसी भी स्थानीय अभिकरण, निकाय अथवा लोक संस्था के कार्मिक प्रशासन को आयोग की अधिकर सीमा में ला सकती है। (अनु.321) इसके तहत उसका विस्तार निम्नलिखित निकायों/निगमों में नियुक्ति (सीधी भर्ती/पदोन्नति/प्रतिनियुक्ति द्वरा) के मामलो पर विचार करने हेतु किया गया है।

(1) कर्मचारी राज्य बीमा निगम (कर्मचारी राज्य बीमा निगम अधिनियम, 1948 द्वारा)

(2) कर्मचारी भविष्य निधि संगठन (कर्मचारी भविष्य निधि संगठन अधिनियम, 1952 द्वारा)

(3) दिल्ली नगर निगम (दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1994 द्वारा)

(4) नई दिल्ली नगर पालिका परिषद् (न. द. न. पा. अधिनियम, 1994 द्वारा)

वस्तुतः लोक सेवा आयोग न केवल लोक सेवकों की भर्ती का कार्य करता है बल्कि वह लोक सेवकों का संरक्षक (Custodian) भी है। वह उनकी पदोन्नति, उनके विरुद्व अनुशसनात्मक कार्यवाही इत्यादि की स्थिति में नियमों एव प्रकियाओं की अनुपालना सुनिश्चित करता है तथा कार्मिक प्रशासन के समस्त पहलुओं पर परामर्श एवं सिद्धान्त निर्माण का कार्य करता है।

लोक सेवा आयोग का प्रतिवेदन :

ऊपर वर्णित कार्यो के अतिरिक्त संघ लोक सेवा आयोग का यह भी कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष अपने द्वारा किए गए कार्यो का प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। राष्ट्रपति इस वार्षिक प्रतिवेदन के साथ एक ज्ञापन जोड देता है जिसमें उन सारे मामलों का, जिनमें की आयोग की सलाह नही माना गई है सरकार द्वारा कारण बताया जाता है कि किन कारणों से आयोग की सलाह को अस्वीकृत किया गया है। राष्ट्रपति उक्त प्रतिवेदन एव ज्ञापन को संसद के दोनों सदनो के समक्ष रखवाता है। इसी प्रकार राज्यों के लोक सेवा आयोग अपना प्रतिवेदन राज्यपाल को प्रस्तुत करते हैं। जो उन्हें राज्य विधायिका के समक्ष रखवाता है।

संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्यों के लोक सेवा आयोग अपनी प्रकृति में एक परामर्श दात्री निकाय (Advisory Body) हैं अर्थात सरकार इनकी अनुशंसाओं को मानने हेतु बाध्य नही है किन्तु विगत वर्षों में यह देखा गया है कि सरकार ने इन संवैधानिक संस्थाओं की गरिमा कों बनाए रखते हुए इनके परामर्श को अधिकाशंतः स्वीकार किया है तथा आयोग भी कतिपय अपवादों के साथ अपनी तटस्थता, निष्पक्षता, न्याय एंव ईमानदारी पूर्ण कार्यशैली तथा प्रभावशीलता के कारण कार्यानुरुप अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने में सफल रहे हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. लोक सेवा आयोग एक संवैधानिक एवं परामर्शदात्री निकाय है।
2. संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग होता है एवं राज्यों के लिए उनके अपने लोक सेवा आयोग होते हैं।
3. संविधान के अनुच्छेद 315 से 323 संघ एवं राज्य सेवा आयोगों से सम्बन्धित प्रावधान किये गये हैं।
4. आयोग के सदस्यों में से यथा सम्भव आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जिन्हें केन्द्र या राज्य सरकार के अधीन न्यूनतम 10 वर्ष कार्य करने का अनुभव हो।
5. संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा छः वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु दोनों में से जो पहले पूर्ण हो, तक के लिए की जाती है।
6. राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा छः वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु दोनों में से जो पहले पूर्ण हो, तक के लिए की जाती है।
7. आयोग के सदस्यों को उच्चतम न्यायालय से जाँच कराकर 'साबित कदाचार' के आधार राष्ट्रपति पद से हटा सकता है।
8. आयोगों से सम्बन्धित व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होता है। उसके सम्बन्ध में संसद सदस्यों को मतदान का अधिकार नहीं होता है।
9. आयोग संघ एवं राज्यों की लोक सेवाओं में भर्ती हेतु प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन करते है तथा कार्मिक प्रशासन से

सम्बन्धित अन्य मामलों यथा नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण अनुशासनात्मक कार्यवाही इत्यादि के मामले में परामर्श प्रदान करता है।

10. संघ लोक सेवा आयोग अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को तथा राज्यों के लोक सेवा आयोग अपना प्रतिवेदन राज्यपाल को प्रस्तुत करते है जो उन्हें विधायिका के समक्ष प्रस्तुत करते है।

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. संविधान के किस अनुच्छेद में संघ एवं राज्यों के लोक सेवा आयोगों हेतु प्रावधान किया गया है ?

(अ) अनुच्छेद 315 से 323 (ब) अनुच्छेद 280
(स) अनुच्छेद 324 (द) अनुच्छेद 148

2. राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति कौन करता है ?

(अ) राज्यपाल (ब) राष्ट्रपति
(स) प्रधानमंत्री (द) मुख्यमंत्री

3. संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों का कार्यकाल कितना होता है ?

(अ) 5 वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु
(ब) 6 वर्ष अथवा 62 वर्ष की आयु
(स) 5 वर्ष अथवा 60 वर्ष की आयु
(अ) 6 वर्ष अथवा 65 वर्ष की आयु

4. लोक सेवा आयोग के कार्यों का वर्णन संविधान के किस अनुच्छेद में किया गया है ?

(अ) अनुच्छेद 316 (ब) अनुच्छेद 318
(स) अनुच्छेद 320 (द) अनुच्छेद 323

5. संघ लोक सेवा आयोग अपना प्रतिवेदन किसको प्रस्तुत करता है ?

(अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री
(स) संसद (द) भारत का मुख्य न्यायाधीश

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. योग्यता आधारित भर्ती प्रणाली का सुझाव सर्वप्रथम किस समिति द्वारा दिया गया था ?
2. सर्वप्रथम किस अधिनियम में भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया था ?
3. लोक सेवा आयोगों से सम्बन्धित प्रावधान संविधान के किन अनुच्छेदों में दिये गये है ?
4. संघ एवं राज्यों के लोक सेवा आयोगों के सदस्यों के लिए क्या योग्याताऐं निर्धारित है ?
5. संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोगों के सदस्यों का कार्यकाल कितना होता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. लोक सेवा आयोग किन मामलों में परामर्श प्रदान करता है ?
2. लोक सेवा आयोग के सदस्यों की कार्यपालिका से स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के लिए क्या प्रावधान किये गये हैं ?
3. लोक सेवा आयोग के सदस्यों को किन आधारों पर उनके पद से हटाया जा सकता है ?
4. लोक सेवा आयोगों की स्थापना का इतिहास सक्षिप्त में बताइये।
5. भारतीय परिप्रेक्ष्य में लोक सेवा आयोगों के वर्तमान तक के कार्य के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. संघ लोक सेवा आयोग के संगठन एवं कार्यों के विवेचना कीजिए।
2. कार्मिक प्रशासन में लोक सेवा आयोगों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

उत्तरमाला :

1. (अ)	2. (अ)	3. (द)
4. (स)	5. (अ)	

इकाई – 9 भारतीय प्रशासनः महत्वपूर्ण मुद्दे

अध्याय 25
मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध
(Minister-Civil Servant Relationship)

आधुनिक प्रशासनिक प्रणाली सिद्धान्ततः अत्यन्त सुदृढ़ एवं आदर्श के नजदीक दिखाई देती है वही व्यवहारतः अनेक समस्याओ से घिरी हुई है वस्तुतः प्रशासन का केन्द बिन्दु मानव है मानवीय व्यवहार की अनिश्चतता अनेक प्रकार की समस्याओ को जन्म देती है जिसमे मंत्री लोक सेवक सम्बन्ध प्रमुख हैं।

संसदीय शासन प्रणाली वाले देशो मे यह समस्या अपेक्षाकृत अधिक गभीर एवं जटिल है ससंदीय प्रणाली वाले देश जैसे भारत, ब्रिटेन मे दो भिन्न तरह की कार्यपालिका कार्यरत होती है प्रधान मंत्री कैबीनेट मंत्री, राज्य मंत्री और उपमंत्री राजनीतिक कार्यपालिका की श्रेणी में आते है ये जनता द्धारा निर्वाचित होते हैं! ये चूंकि संसद मे विश्वास मत प्राप्त होने तक ही अपने पद तक बने रह सकते हैं इसलिए इन्हें अस्थाई कार्यपालिका की संज्ञा भी दी जाती हैं वही मंत्रियों को प्रशासनिक सहायता एवं परामर्श उपलब्ध कराने के लिए प्रशासनिक अधिकारी (लोक सेवक) होते हैं, ये दलगत राजनीति का हिस्सा नहीं होतें हैं, तथा इनका चयन योग्यता के आधार पर स्थायी रूप से होता हैं। इसलिए इन्हे अराजनीतिक या स्थायी कार्यपालिका के रूप में जाना जाता हैं। इन दोनों के मध्य मधुर संबंध ही प्रशासनिक कुशलता की नींव हैं।

मंत्री–लोक सेवक : सापेक्षिक भूमिका

संसदीय व्यवस्था में मंत्री एवं लोक सेवक दोनों एक दूसरें के पूरक हैं। इन्हें सरकारी गाडी रूपी तंत्र के दो पहिए कहा जा सकता है, क्योंकि इनकी भूमिका परस्पर सापेक्ष हैं। इस व्यवस्था में मंत्री मंत्रालय/विभाग प्रमुख होता है एवं निम्नलिखित कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है :

1. नीति निर्माण;
2. महत्वपूर्ण प्रशासनिक मामलों पर निर्णयन;
3. नीतियों के क्रियान्वयन पर निगरानी;
4. उच्च पदों पर नियुक्ति हेतु;
5. जन शिकायतों के समाधानकर्ता के रूप में;

लोक सेवक मंत्री के प्रमुख परामर्शदाता के रूप में निम्नलिखित कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है :

1. नीतियों और निर्णयों को लागू करने हेतु;
2. नीति निर्धारण के समय आवश्यक सूचनाऐं,तथ्य एवं परामर्श हेतु;
3. अधीनस्थ कार्यों की देखरेख और उन्हें निर्देश देने;
4. प्रशासन में निरंतरता बनाए रखनें हेतु;

पिफनर ने मंत्री और लोक सेवक के बीच भेद को बहुत ही अच्छे ढंग से विवेचित किया है :

मंत्री	लोक सेवक
1. अनुभवहीन	व्यवसायिक
2. गैर–तकनीकी	तकनीकी
3. पक्षपाती	गैर–पक्षपाती
4. अस्थायी	स्थायी
5. अधिक जन संपर्क	कम जन संपर्क
6. अधिक विधायी संपर्क	कम विधायी संपर्क
7. अधिक नीति निर्धारण	कम नीति निर्धारण
8. अधिक निर्णय	अधिक परामर्श
9. अधिक समन्वयन	अधिक निष्पादन
10. तकनीकी राय से प्रभावित	अध्ययन और अनुसंधान के द्वारा संग्रहित तकनीकी आंकड़ों से प्रभावित ।

मंत्री–लोक सेवक संबंधों के निर्धारक घटक

भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री विभाग का सर्वेसर्वा होता है परन्तु विभाग की बारीकियों का उन्हें प्राय ज्ञान नहीं होता इसलिए उनकी प्रशासनिक सहायता एवं सलाह हेतु प्रशासनिक सचिवों की नियुक्ति की जाती है। हर्बर्ट मॉरीसन के अनुसार, नौकरशाही संसदीय लोकतंत्र की कीमत है। इन दोनों वर्गों के मध्य संबंधो के निर्धारक घटकों की विवेचना हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर कर सकते है।

प्रशासनिक विशेषज्ञता :

योग्यता आधारित भर्ती प्रणाली से प्रशासन में प्रवेश पाए हुए तथा आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त लोक सेवक प्रशासनिक कार्यों के विशेषज्ञ होते है। वही मंत्रीयों की नियुक्ति का आधार राजनीतिक होता है। उनका प्रशासनिक ज्ञान न्यून होता है। सिडनी लॉ ने कहा है, – "वित मंत्रालय में द्वितीय श्रेणी के लिपिक का पद प्राप्त करने के लिए एक नवयुवक को अंकगणित की परीक्षा में अवश्य उतीर्ण होना पड़ेगा, पर वित मंत्री अधेड़ उम्र का एक ऐसा सांसारिक व्यक्ति भी हो सकता है जो अकों के विषय की अपनी उस थोड़ी–बहुत जानकारी को भूल चुका हो, जो उसने ईटन अथवा ऑक्सफोर्ड से प्राप्त की हो और दशमलव में लगाए गए खजाने को उसके सामने रखे जाने पर अनजान की तरह उन अकों का मतलब जानने के लिए उत्सुक हो।"

मंत्रीयो के पद अस्थाई होते हैं, उनके विभाग भी बदलते रहते है। उनके पास इतना समय भी नहीं होता है कि वह प्रशासनिक बारीकियों को समझ सकें। मंत्री कि अयोग्यताऐं एवं सीमाऐं भी उसे कई बार सचिव के सामने दयनीय बना देती है। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, – ''हमारी ब्रिटेन राजनीतिक व्यवस्था में कठपुतली नाम की कोई वस्तु है तो वह है सार्वजनिक विभाग का एक मंत्री।''

राजनीतिक स्थिति : संसदात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों में मंत्रियों की पहचान राजनीतिक होती है, मंत्री राजनीतिक दल के सदस्य होते है। जब तक संसद में दल को बहुमत प्राप्त हो, वे तब तक ही पद पर बने रह सकते है। बहुमत समाप्त होने की स्थिति में उन्हें अपने पद से हटना होता है। लोक सेवक अराजनीतिक एवं स्थायी होते हैं एवं दलीय तौर पर तटस्थ एवं निष्पक्ष होते हैं।

भिन्न दृष्टिकोण : मंत्रियों के चयन का आधार योग्यता न होकर राजनीतिक होता है। इसलिए उनका दृष्टिकोण व्यवसायिक या विशेषज्ञ न होकर लोकप्रिय मत से प्रभावित होता है। जबकि प्रशासक पूर्णतः व्यावसायिक दृष्टिकोण पर बल देते है। इसलिए मंत्री का दृष्टिकोण व्यापक होता हैं ,जबकि लोक सेवक का संकुचित।

कार्यशैली : मंत्री की कार्यशैली वस्तुतः इस बात पर निर्भर करती है कि उसका व्यक्तित्व कैसा है। यदि मंत्री का व्यक्तित्व प्रभावी है, तो वह लोक सेवकों पर हावी रहता है। वही दूसरी और साधारण व्यक्तित्व वाले मंत्री लोक सेवकों पर निर्भर करते है। इस संदर्भ में रेम्जेम्योर का मत है कि – '' जब तक मंत्री कोई स्वाभिमानी गधा न हो या असाधारण विवेक शक्ति और साहस से परिपूर्ण व्यक्ति न हो तो सौ में से निन्यानवें प्रकरणों में वह लोक सेवक के विचार को ही स्वीकार कर लेता है तथा अंकित पंक्ति पर हस्ताक्षर कर देता है।''

मंत्रीमंडलीय उत्तरदायित्व की भावना : मंत्रीमण्डल उत्तरदायित्व संसदीय शासन व्यवस्था का आधार है जिसके तहत् मंत्री अपने विभागीय कार्यो के लिए अंतिम रूप से संसद एवं जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। यद्यपि वास्तविक रूप में समस्त कार्यो का निर्वहन लोक सेवकों द्वारा किया जाता है परन्तु वे अनामता के सिद्वान्त पर कार्य करते है। अर्थात् विभागीय कार्यों के लिए आलोचना एवं प्रशंसा मंत्री की ही होती है। इसी कारण लोक सेवक न तो अच्छे कार्यो की प्रशंसा प्रत्यक्षतः ले पाते है, और न ही बुरे परिणामों पर संसद एवं जनता की आलोचना का शिकार बनते हैं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध अनेक घटकों से निर्धारित् होता है। मंत्री की दल में स्थिति, दृष्टिकोण, कार्यशैली व्यक्तित्व इत्यादि इसका निर्धारण करते है।

सामान्यतः मंत्री की अयोग्यताऐं एवं सीमाऐं उसे लोक सेवक पर निर्भर कर देती है। यद्यपि यह सत्य है कि मंत्री लोक सेवकों से प्रभावित होते है परन्तु कठपुतली कहना अतिशयोक्ति प्रतीत होता है। ऐसा तभी संभव है जब या तो मंत्री का व्यक्तित्व प्रभावशाली न हो या फिर उसके दल की फिर स्थिति कमजोर हो।

मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध : विभिन्न मत

मंत्रियों और लोक सेवकों के पारस्परिक संबन्ध विषय में विद्वानों में प्रायः मतभेद है कुछ विद्वानों का मानना है कि लोक सेवकों का मंत्रियों पर इतना प्रभाव है कि मंत्री, लोक सेवकों के इशारों पर काम करते है । जार्ज बर्नार्ड शॉ ने तो मंत्री को कठपुतली तक की संज्ञा दे डाली।

ब्रिटिश विद्वान लॉर्ड हीवर्ट ने भी लोक सेवकों की बढ़ती हुई शक्तियों की ओर संकेत करते हुए उसे **नवीन निरंकुशता** की संज्ञा दी। हीवर्ट का मत है कि ''नौकर शाही की बढ़ती हुई शक्ति ने इन विभागों को संसद से भी अधिक शक्तिशाली बना दिया है तथा यह न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर होते जा रहे है। इसी प्रकार का मत रैम्जेम्योर व्यक्त करते है उनके अनुसार – ''हमारी शासन प्रणाली में नौकरशाही की शक्ति बहुत ज्यादा है, चाहे प्रशासन हो, विधायन हो या वित्त हो, मंत्रीय उत्तरदायित्व के पर्दे में नौकरशाही फ्रेकन्सटिन के दैत्य की भाँति पनपी और विकसित हुई और अब वह अपने पैदा करने वाले को ही खा जाना चाहती है।

''वस्तुतः प्रशासन संचालन का दायित्व मंत्री का होता है। परन्तु कानून निर्माण की जटिलता, मंत्री की प्रशासनिक अनभिज्ञता, अस्थाईत्व ऐसे अनेक कारण है जिससे मंत्री की निर्भरता लोक सेवक पर बढ़ जाती है। परन्तु जार्ज बनार्ड शॉ, लार्ड हीवर्ट, रैम्जेम्योर सभी के व्यक्तव्य अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ते है। क्योंकि ना ही मंत्री का व्यक्तित्व इतना कमजोर होता है। और ना ही वो इतना अयोग्य कि लोक सेवक उस पर पूर्णतः हावी हो जाए कुछ नौसिखिए, दुर्बल व्यक्तित्व वाले मंत्रियों पर ही यह बात सही कही जा सकती है। सम्भवतः इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि पद प्राप्त करने वाला व्यक्ति अवश्य ही प्रतिभा का धनी होता है और प्रायः ऐसी अनेक परिस्थितियों से गुजर चुका होता है कि जिससे प्रशासनिक बातों का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। वे लोक सेवकों द्वारा दिए गए प्रत्येक परामर्श का औचित्य–अनौचित्य देखकर निर्णय कर सकते है।

हैरॉल्ड लास्की ने भी मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध को वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर आधारित माना है। लास्की ने मंत्रियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है :

(1) शक्तिशाली व्यक्तित्व (2) लोकप्रिय व्यक्तित्व
(3) प्रभावहीन ।

शक्तिशाली एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के धनी मंत्री विभिन्न प्रशासनिक समस्याओं का समाधान अपने विवेक से करने में समर्थ होते है। वे लोक सेवक पर निर्भर नहीं रहते है। लोकप्रिय व्यक्तित्व वाले मंत्री अपनी लोकप्रियता से लोक सेवकों पर हावी रहते है न कि व्यक्तित्व के कारण। प्रभावहीन मंत्री, लोक सेवकों पर निर्भर होते है।

निष्कर्षतः मंत्री लोकतंत्र के प्रहरी है जो लोक सेवकों द्वारा दिय गए परामर्श पर आधारित प्रशासन का लोकतंत्रीकरण करते है। लोक सेवक शक्तिशाली अवश्य है परन्तु इतना नहीं कि लोकतंत्र उनके हाथों बिक जाए। दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और दोनों ही अन्योन्याश्रित है । मुनरों ने लिखा है कि – ''प्रथम (मंत्रीगण) प्रशासन में लोकतंत्रीय तत्व की और द्वितीय (लोक सेवकों) कर्मचारियों तंत्र के तत्व की व्यवस्था करता है। दोनों ही आवश्यक है – एक सरकार को लोकप्रिय बनाने के

लिए और दूसरा उसे कार्यकुशल बनाने के लिए । एक सुन्दर प्रशासन की परख यही है कि लोकतन्त्र और कार्यक्षमता का सफल संयोजन हो जाए।''

परस्पर मतभेद के कारण : यद्यपि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में मंत्री–लोक सेवक के मध्य सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। मंत्री–नीति निर्माता है तो लोक सेवक नीति लागू कर्त्ता। परन्तु व्यवहारतः दोनों में अनेकानेक कारणों से मतभेद उजागर होते रहते है। मतभेद के कारणों को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है।

1. मंत्री आमतौर पद लोक सेवकों की स्वतंत्र, स्पष्ट और निष्पक्ष सलाह को प्रोत्साहित नहीं करते। इससे परस्पर समझ विकसित नहीं हो पाती। प्रशासनिक सुधार आयोग का कथन है ''बहुत से मंत्रियों में अपने सचिव या सहायक की स्वतंत्र और निष्पक्ष सलाह मानने के प्रति अनिच्छा का भाव होता है।''
2. मंत्रियों द्वारा अपनी अनुशासनात्मक शक्तियों का प्रयोग कर लोक सेवकों को स्थानान्तरित और निलंबित किए जाने के कारण लोक सेवकों में भय की व्याप्ति होती है। बहुत कम लोक सेवक ही ऐसे होते है, जो इस दबाव को झेल पाते है और लालच से उबर पाते है। एस.आर.माहेश्वरी ने इस निराशाजनक स्थिति की और संकेत करते हुए कहा है कि –''राजनीतिक और स्थायी अधिकारियों के बीच संबन्धों में कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही है। यही नहीं अब इन सम्बन्धों पर शंका और संदेह की छाया पड़ने लगी है और आज किसी नौकरशाह की सबसे बड़ी प्राथमिकता यही होती है कि वो सुरक्षित रहकर काम करें तथा मात्र रूटीन किस्म की पहल करें और किसी तरह काम निपटा दे। इससे अत्यधिक सलाह लेने–देने की प्रवृत्ति पनपती है और अधिकांश मामले निर्णय लेने हेतु आगे की तरह भेज दिये जाते है।''
3. मंत्रीयों और लोक सेवकों को अपनी–अपनी भूमिका के बारे में परस्पर समझबूझ का अभाव है। मंत्रियों द्वारा प्रशासक के दिन–प्रतिदिन के कार्यों में दखल देने की प्रवृत्ति रहती है और लोक–सेवकों द्वारा मंत्री की स्थिति न समझते हुए सार्थक प्रयासों के स्थान पर नियमों पर अधिक बल दिया जाता है। वस्तुतः लोक सेवक नीति निर्माण करना चाहते है तथा मंत्री नीति क्रियान्वयन में हस्तक्षेप चाहते है। भूमिका परिवर्तन (Role Reversion) की यह स्थिति निराशाजनक है।
4. मंत्रियों में असफलता का आरोप लोक सेवकों पर डालने की प्रवृत्ति रहती है। छागला आयोग ने इस संदर्भ में कहा था कि– ''मंत्रीय उत्तरदायित्व सिद्धान्त के दो आयाम है : अपने प्राधिकार क्षेत्र में मंत्री को पूर्ण स्वायत्ता प्राप्त है तथा मंत्री को अपने सेवकों द्वारा किए गए कार्य की पूरी जिम्मेदारी लेनी चाहिए।''
5. धर्म, जाति, सामाजिक–राजनीतिक संस्कृति में भिन्नता भी विवाद के कारण रहे है।

समाधान :

किसी को देश के लोक कल्याणकारी उद्देश्यों की प्राप्ति तथा विकास के पथ पर अग्रसर होने के लिए लगी। लोक सेवकों के मध्य समुचित समझ आवश्यक है। सिद्धान्ततः मंत्री विभाग के संचालन के लिए उत्तरदायी होता है तथा लोक सेवक उसका परामर्शदाता। दोनों का रिश्ता परस्पर विश्वास का है अतः इन दोनों के मध्य समन्वय एवं सामंजस्य जरूरी है। दोनों के मध्य संबंधों को बेहतर बनाने हेतु निम्नलिखित सुझाव विचारणीय है :

1. यद्यपि नीति –निर्धारण मंत्री का विशेषाधिकार है परन्तु व्यवहार में उसे सचिव के परामर्श पर पूरा ध्यान देना चाहिए। साथ ही, क्रियान्वयन के स्तर पर हस्तक्षेप से बचना चाहिए।
2. सचिव का यह कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण सूचनाओं के साथ मंत्री को परामर्श दे तथा नीति बन जाने पर उसे उसे पूरी योग्यता एवं निष्ठा से लागू करें।
3. मंत्रि यों द्वारा, लोक सेवकों के साथ राजनीतिक, विद्वेषपूर्ण व्यवहार न किया जाए।
4. मंत्री और लोक सेवक के मध्य हुए विचार–विमर्श का संक्षिप्त विवरण रखा जाना चाहिए। यदि किसी महत्वपूर्ण मामले में उनमें मतभेद हों तो दोनों के ही मत लिखे जाने चाहिए।
5. लोक सेवकों की जवाबदेही पूर्णतः मंत्री के प्रति एवं मंत्री की संसद तथा जनमत के प्रति होनी चाहिए।
6. मंत्री लोक सेवक विवाद के समाधान हेतु प्रधानमंत्री और मंत्रीमण्डल सचिव को तुरंत कदम उठाने चाहिए।
7. लोक सेवा के राजनीतिकरण को रोकने हेतु अनामता और तटस्थता के सिद्धान्तों पर बल देने की आवश्यकता है।

प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग ने इस क्रम में निम्नलिखित सुझाव दिये थे :

1. यदि मंत्री, सचिव के सुझाव से असहमत हो या किसी प्रकरण पर सरकार की सुस्पष्ट नीति न हो तो ऐसी स्थिति में समस्त निर्णयों को कारण सहित लिखना चाहिए।
2. दोनों के मध्य भयमुक्त, विश्वासपूर्वक तथा न्यायोचित व्यवहार होना चाहिए।
3. गंभीर प्रकृति की भूल या कुशासन के अतिरिक्त अन्य मामलों में मंत्री को चाहिए कि वे प्रशासन में हस्तक्षेप न करें।
4. लोक सेवकों को चाहिए कि वे मंत्रियों की राजनीतिक व्यस्तता को समझें तथा तद्नुसार सहयोग करें।
5. प्रधानमंत्री को चाहिए कि वह मंत्री –सचिव के मध्य सम्बन्ध सुधारने की ओर ध्यान दे।
6. मंत्री के प्रति सचिव का अधिकारिक सम्बन्ध निष्ठा का तथा सचिव के प्रति मंत्री का रिश्ता विश्वास का होना चाहिए।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. आधुनिक प्रशासन प्रणालियाँ व्यवहारतः अनेक समस्याओं से घिरी हुई है जिसमें मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध प्रमुख है। मंत्री विभाग प्रमुख होता है एवं निम्नलिखित कार्य करता है।
(1) नीति निर्माण (2) निर्णयन (3)नीतियों के क्रियान्वयन पर निगरानी।(4) उच्च पदों पर नियुक्ति (5) जन शिकायतों का समाधानकर्त्ता।
2. लोक सेवक मंत्री का प्रमुख परामर्शदाता होता है एवं निम्नलिखित कार्य करता है।
 1. नीतियों और निर्णयों का लागू करना।
 2. मंत्री को आवश्यक तथा सूचनाऐं भेजना।
 3. अधीनस्थों को निर्देश देना ।
 4. प्रशासन में निरन्तरता बनाए रखना।
3. पिफनर ने मंत्री एवं लोक सेवकों के मध्य विभिन्न आधारों पर भेद किया है ।
4. भारतीय शासन प्रणाली में दोनों के मध्य संबन्धों के निर्धारक धटक निम्नलिखित है :
(अ). मंत्रियों की प्रशासनिक अनभिज्ञता और लोक सेवकों की प्रशासनिक विशेषज्ञता।
(ब). मंत्रियों की राजनीतिक पद स्थिति और सेवकों की अराजनीतिक ।
(स) मंत्रियों का लोकप्रिय दृष्टिकोण और लोक सेवकों की व्यावसायिक दृष्टिकोण।
(द) मंत्री का व्यक्तित्व प्रभावी तो लोक सेवकों पर हावी, अन्यथा लोक सेवक पर निर्भर।
(य) मंत्रीमण्डलीय उत्तरदायित्व की भावना।
5. दोनों के मध्य संबन्धों में तनाव के निम्नलिखित कारण रहे है
1. मंत्री लोक सेवकों की स्वतंत्र,स्पष्ट और निष्पक्ष सलाह को प्रोत्साहित नहीं करते।
2. मंत्रियों द्वारा लोक सेवकों पर दबाव हेतु स्थानान्तरण एवं अनुशासनात्मक शक्तियों का प्रयोग।
3. मंत्रीयों और लोक सेवकों का अपनी–अपनी भूमिका के बारे में परस्पर समझबूझ का अभाव।
4. धर्म, जाति, सामाजिक–राजनीतिक संस्कृति में भिन्नता।
6. दोनों में मधुर संबंध प्रशासनिक कार्यकुशलता का आधार है दोनों में सम्बन्धों को बेहतर बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव विचारणीय है :
 1. मंत्री को नीति–निर्माण करते समय लोक सेवकों की परामर्श पर पूरा ध्यान देना चाहिए।
 2. सचिव को नीति पूरी योग्यता एवं निष्ठा से लागू करनी चाहिए।
 3. मंत्रियों द्वारा, लोक सेवकों से राजनीतिक विद्वेषपूर्ण व्यवहार न किया जाए।
 4. लोक सेवकों की निष्ठा पूर्णतः मंत्री के प्रति तथा मंत्री की जवाबदेहिता विधायिका के प्रति होनी चाहिए। 5. लोक सेवकों के दैनिक कार्यो में मंत्रियों द्वारा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।
7. प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार निम्नलिखित सुझाव विचारणीय है :
 1. दोनों के मध्य भयमुक्त, विश्वासपूर्वक् तथा न्यायोचित वातावरण होना चाहिए।
 2. गम्भीर प्रकृति के मामलों के अतिरिक्त, मंत्री को प्रशासन के मामलों में दखल नहीं देना चाहिए।
 3. यदि मंत्री सचिव से असहमत हो तो सभी निर्णयों को कारण सहित संक्षेप में लिखना चाहिए।
 4. मंत्री के प्रति सचिव का आधिकारिक संबन्ध निष्ठा का तथा सचिव के प्रति मंत्री का रिश्ता विश्वास को होना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न :

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. पिफनर ने निम्नलिखित में से किस आधार को मंत्री का नहीं बताया है।
(अ) अनुभवहीन (ब) गैर–तकनीकी
(स) पक्षपाती (द) स्थायी
2. कौनसा प्रमुख कार्य मंत्री का नहीं है ?
(अ) नीति निर्माण करना (ब) नियुक्ति एवं स्थानान्तरण
(स) निर्णयन् (द) परामर्श दाता
3. किस विचारक ने नौकरशाही को ''फ्रेकेन्सटीन के दैत्य की तरह'' कहा है ?
(अ) लॉर्ड हीवर्ट (ब) सिडनी लॉ
(स) पिफनर (द) जॉर्ज बर्नार्ड शॉ
4. किस विचारक की मान्यता है कि मंत्री लोक सेवकों के हाथ की कठपुतली है।
(अ) जॉर्ज बर्नार्ड शॉ (ब) लास्की
(स) रेम्जेक्योर (द) लॉर्ड हीवर्ट
5. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्धों से सम्बन्धित आयोग है?
(अ) छागला आयोग (ब) होता आयोग
(स) सतीश चन्द्र आयोग (द) कोई भी नहीं
6. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध पर प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा दिए गए सुझाव है।

(अ) मंत्रियों के लोक सेवकों के लिए भयमुक्त वातावरण बनाना चाहिए।
(ब) विवाद की स्थिति में निर्णय लिखित में होने चाहिए।
(स) प्रधानमंत्री को चाहिए कि वे मंत्री–सचिव सम्बन्ध सुधारने की ओर ध्यान दें।
(द) उपर्युक्त सभी
7. नौकरशाही संसदीय लोकतंत्र की कीमत है'' किसने कहा है ?
(अ) रैम्जे म्योर (ब) जॉर्ज बनार्ड शॉ
(स) हर्बर्ट मॉरीसन (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. राजनीतिक कार्यपालिका से आप क्या समझते है ?
2. स्थायी कार्यपालिका से क्या अभिप्राय है ?
3. मंत्रीमण्डल उत्तरदायित्व का सिद्धान्त क्या है ?
4. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध के निर्धारक घटक कौनसे है ?

5. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध में तनाव के दो कारण बताए।
6. प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा दिए गए कोई दो सुझाव लिखें ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. अस्थायी एवं स्थायी कार्यपालिका में अन्तर को स्पष्ट करें।
2. मंत्रीमण्डल उत्तरदायित्व सिद्धान्त का क्या अभिप्राय है?
3. क्या आप इस मत से सहमत है कि मंत्री लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली है ? कारण सहित बताऐं।
4. ''नौकरशाही संसदीय लोकतंत्र की कीमत है। '' कैसे ?
5. मंत्री लोक सेवक संबन्धों के निर्धारक घटक कौनसे है?
6. छागला कमीशन ने मंत्रीमण्डल उत्तरदायित्व सिद्धान्त की क्या व्यवस्था की है?
7. लोक सेवकों की बढ़ती हुई शक्ति को नवीन निरंकुशता किसने कहा है और क्यों ?
8. भारतीय प्रशासनिक प्रणाली में मंत्री –लोक सेवक विवाद के चर्चित प्रकरण कौन–कौनसे है ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्ध संसदीय शासन प्रणाली की सर्वाधिक जटिल समस्याओं में से एक है, व्याख्या कीजिए।
2. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्धों के निर्धारक घटक कौन–कौनसे है ?
3. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्धों में तनाव के प्रमुख कारण क्या–क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
4. मंत्री–लोक सेवक सम्बन्धों को मधुर एवं बेहतर बनाने हेतु प्रशसनिक सुधार आयोग की सिफारिशों के सन्दर्भ में उनके समाधान के उपाय बताईए।

उत्तर माला :

1. (ब) 2. (द) 3. (अ) 4. (अ)
5. (अ) 6. (द) 7. (स)

अध्याय – 26
सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ
(Generalist Vs Specialist)

लोक प्रशासन की एक महत्वपूर्ण समस्या सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ प्रशासकों के आपसी संबंधो की है। परम्परागत प्रशासन में सामान्यज्ञ प्रशासकों का जो वर्चस्व था,वह कमोबेश रुप से आज भी बना हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के सामाजिक–आर्थिक उद्देश्यों में आमूलचूल परिवर्तन हो गया है और प्रौद्योगिकीय विकास ने हमारे समक्ष अनेक नयी चुनौतियॉं और जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर दी है। इसी परिप्रेक्ष्य में हमारे देश का प्रशासनिक ढाँचा चर्चा एव विवाद का विषय बना हुआ है। प्रश्न यह है कि हमारी विकासोन्मुख व्यवस्था में सामान्यज्ञ प्रशासक'की भूमिका क्या है ?

सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ विवाद :

लोक प्रशासन में सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों दोनों को ही एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होता है। वस्तुत उनमे कोई अर्न्तविरोध नहीं है अपितु वे दोनो एक दूसरे के अनुपूरक है। पिछले एक दशक मे सामान्यज्ञों और विशेषज्ञो के बीच जो विवाद सुनाई दे रहा है वह हमें ब्रिटिश साम्राज्य से विरासत में मिला है इस विवाद को समझने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ का अभिप्राय क्या है ?

सामान्यज्ञ एव विशेषज्ञ से अभिप्राय :

सामान्यज्ञ लोक सेवक वह है जिसकी कोई विशेष शैक्षणिक पृष्ठभूमि नहीं होती है, किन्तु वह प्रशासनिक प्रक्रियाओं, नियमों तथा विनियमों का अच्छा ज्ञान रखना है। उसे प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में नियुक्त किया जा सकता है। वह प्रबधक वर्ग का सदस्य होता है तथा नियमों, उपनियमों एवं पद्वति व्यवस्था में पूर्ण पारंगत होता है। और सामान्यतः पोस्डकॉर्ब गतिविधियों (नियोजन, संगठन , स्टाफिंग, निर्देशन, समन्वय, प्रतिवेदन एवं बजट) संबधी कार्यो का सम्पादन करता है। दूसरी ओर विशेषज्ञ लोक सेवक वह है जिसे प्रशासन के विशेष क्षेत्र में विशेषज्ञता या कौशल प्राप्त हो। इनकी भर्ती व्यावसायिक, वैज्ञानिक अथवा तकनीकी योग्यता एवं ज्ञान के आधार पर की जाती है सामान्यज्ञों की तरह विशेषज्ञ हरफनमौला नही होता। इस दृष्टि से डॉक्टर,, इजीनियर, वैज्ञानिक, प्राध्यापक, अर्थशास्त्री आदि की सेवाओं को विशेषज्ञ श्रेणी में रखा जा सकता हैं।

सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों में अन्तर :

आधार	सामान्यज्ञ	विशेषज्ञ
शैक्षणिक योग्यताऐं	विश्वविद्यालय के किसी भी संकाय में स्नातक	विशिष्ट प्रकार की , विशिष्ट विषय में तकनीकी शिक्षा में उपाधिधारक
कार्य	मुख्यतःनियामकीय गतिविधियों–नियोजन, संगठन, कार्मिक प्रबन्ध, निर्देशन, समन्वयक, प्रतिवेदन तथा वित्तीय प्रशाासन से संबंधित	मुख्यता अपने विषय क्षेत्र से संबंधित तकनीकी गतिविधियों का सपादन।
दृष्टिकोण	व्यापक	संकुचित (अपने विषय क्षेत्र के दायरे में सीमित)
पद स्थिति	उच्च प्रबंधकीय पद	अपेक्षाकृत निम्नस्तरीय पद
वेतनमान एव अन्य सुविधाऐं।	उच्च पदों पर होने के कारण अधिक वेतन एव सुविधाऐं	सामान्यज्ञों की तुलना में वेतन एवं अन्य सुविधाऐ कम
गतिशीलता	काफी अधिक पूरे कार्यकाल में अनेक विभागो में कार्य करने का अवसर	सिर्फ अपने विषय क्षेत्र के विभाग तक सीमित
नीति निर्माण में भूमिका	राजनीतिक प्रमुख से नजदीकी के चलते प्रमुख भूमिका अदा करते है।	मुख्यतः नीति कियान्वयन से संबधित
प्रकृति	दृढ, नियमों पर अत्यधिक बल	व्यवहारिक वास्तविकता पर आधारित।
उदाहरण	जिलाधीश,तहसीलदार,संभागीय आयुक्त इत्यादि	डॉक्टर,वैज्ञानिक,इंजीनियर इत्यादि।

ब्रिटेन की फुल्टन समिति ने अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार शासन में विशिष्ट पदो पर कार्य करने वालो को 'विशेषज्ञ'माना था तथा प्रशासकीय एवं कार्यपालक श्रेणीयों से सम्बद्व कर्मचारियों को 'सामान्यज्ञ' 'कहा था। भारतीय लोक प्रशासन संस्थान नई दिल्ली में सेवीवर्ग प्रशासन पर आयोजित सम्मेलन में सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों को इस प्रकार परिभाषित किया गया था –''ऐसा मेधावी नवयुवक या युवतियाँ जिन्होंने महाविद्यालय में किसी विषय में पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करके प्रतियोगी परीक्षा द्वारा किसी सेवा में चयनित होकर प्रशासनिक प्रशिक्षण पाया हो तथा बाद में उन्हें उच्च स्तरीय निरीक्षणात्मक पदों पर नियुक्त किया गया हो जहा कोई अनिवार्य तकनीकी या व्यवसायिक अर्हता निर्धारित नही है। ये अधिकारी अनुभव तथा प्रशिक्षण का लाभ उठाकर उच्च प्रशासकीय पदो पर नियुक्त होते है तथा सामान्यज्ञ कहलाते है। इसी प्रकार विशेषज्ञ अधिकारी वे है–जो किसी पद पर निर्धारित् अनिवार्य तकनीकी या व्यावसायिक योग्यता के कारण भर्ती हुए है तथा ये पद मध्य स्तरीय निरीक्षणात्मक प्रकृति के है''।

सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ में विवाद :

ऐतिहासिक परिदृश्य : सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ में विवाद के बीज ब्रिटेन की ''नॉर्थकोट ट्रैवेलियन रिपोर्ट (1853) तथा 1854 की मैकाले रिपोर्ट में बोये गये थे। इन दोनो प्रतिवेदनों में यह कहा गया था कि 18 से 22 वर्ष आयु के सामान्य शिक्षा प्राप्त योग्य और होनहार उम्मीदवार ही लोक सेवाओं के समुचित आधार बन सकते है । इसी दर्शन से आई. सी.एस सेवाओं की शुरुआत हुई जो अब आई.ए.एस. कहलाती है इस प्रकार इन सेवाओं में चयनित सामान्यज्ञ प्रशासको को उच्च पदस्थिति प्रदान की गई और विशेषज्ञों एवं तकनीकी सेवाओं को निम्न। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पंडित नेहरु ने विशेषज्ञों की जरुरत को मानते हुए आह्वान किया था –''भारत को तीव्र गति से विकास करने के लिए डॉक्टर चाहिए, वैज्ञानिक चाहिए और अन्य विशेषज्ञ चाहिए जो देश की किस्मत पलट सकें। जिससे भारत की लोक सेवाओ में विशेषज्ञों का प्रवेश तो आरम्भ हुआ साथ ही प्रशासनिक सेवाओं में सामान्यज्ञों का वर्चस्व बना रहा। ब्रिटेन में फुल्टन समिति की रिपोर्ट से 1968 में समिति ने विशेषज्ञों को बेहतर दर्जा देने की पुरजोर सिफारिश की थी । साथ ही सिविल सेवा के व्यावसायीकरण का भी सुझाव दिया था । उसके बाद ब्रिटेन में विशेषज्ञों की स्थिति में सुधार हुआ है, यद्यपि सामान्यज्ञों की स्थिति आज भी सर्वोच्च है। भारत में भी द्वितीय वेतन आयोग तथा प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग (1966–70) ने विशेषज्ञ श्रेणी के सदस्यों के दर्जे और स्थिति में सुधार लाने की सिफारिश की थी पर थोड़े बहुत बदलाव के साथ पुरानी प्रणाली ही कायम है।

वर्तमान स्थिति :

वर्तमान में सामान्यज्ञ – विशेषज्ञ विवाद को निम्नलिखित बिंदुओं से समझा जा सकता है : भारत में संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। जिसमें जनता द्वारा निर्वाचित जन प्रतिनिधि विभिन्न विभागों के प्रमुख के तौर पर कार्य करते है यद्यपि वे प्रशासनिक विशेषज्ञ नही होते, इसलिए इन्हें प्रशासनिक सहायता एवं परामर्श उपलब्ध कराने के लिए सामान्यज्ञ विभाग में सचिव के रुप में कार्यरत होते है, जिससे सामान्यज्ञ को राजनीति प्रमुख से सान्निध्य का लाभ मिलता है, जो विशेषज्ञों को उनकी निम्न पद स्थिति के कारण संभव नही होता।

1. सामान्यज्ञों का वेतन और उनकी सेवाशर्ते विशेषज्ञों की तुलना में बेहतर है। विशेषज्ञों की यह सबसे बडी परिवेदना है।
2. केन्द और राज्य सरकार स्तर पर अधिकाश उच्च पद भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों अर्थात् सामान्यज्ञों के लिए सुरक्षित है इन उच्च पदों पर विशेषज्ञों की तैनाती नही की जाती।
3 बिना किसी तकनीकी ज्ञान के सामान्यज्ञ नीति एव कार्यक्रम बनाते हैं, जिन्हें विशेषज्ञों को क्रियान्वित करना पडता है।
4.विशेषज्ञों के विचारों और प्रस्तावों तथा उनकी सलाहो पर सामान्यज्ञ ध्यान नहीं देते क्योकि वे विशेषज्ञों को अपने अधीन मानते है।
5. जिला स्तर पर जिला प्रशासन प्रमुख का पद भी सामान्यज्ञ लोक सेवक द्वारा धारित किया जाता है । जिला प्रशासन के अधीन कई तकनीकी विभाग है, जिनके प्रमुख विशेषज्ञ लोक सेवक होते हैं।
6. विशेषज्ञों के कार्य निष्पादन का आंकलन सामान्यज्ञों द्वारा किया जाता है।
7. सामान्यज्ञों की सेगठनात्मक गतिशीलता, विशेषज्ञों की तुलना में अधिक है। सामान्यज्ञ एक विभाग से दूसरे विभाग में नियुक्त होते रहते है जबकि विशेषज्ञों की नियुक्ति संबंधित् विभाग तक ही सीमित है।
8. विशेषज्ञों के लिए निर्धारित पदों पर भी सामान्यज्ञों का वर्चस्व बना हुआ है।

उपर्युक्त कारणों से विशेषज्ञों में असंतोष को भावना व्याप्त है जिसके परिणामस्वरुप उनका मनोबल एव कार्यकुशलता पर भी प्रभाव पड़ा है।

प्रशासन में सामान्यज्ञों की भूमिका के पक्ष में तर्क :

उपर्युक्त विवाद के बावजूद आज भी विद्वानों का एक वर्ग सामान्यज्ञों को महत्वपूर्ण भूमिका के पक्ष में है सामान्यज्ञों की भूमिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते है–

1. सामान्यज्ञ अपनी क्षमता, योग्यता और व्यापक अनुभव के कारण, उच्च प्रबंधन स्तर पर कार्यों के निष्पादन में विशेषज्ञों की तुलना में अधिक उपयुक्त है।
2. सामान्यज्ञ सेवाओं का एक अन्य प्रमुख गुण उनका जिला प्रशासन संबंधी अनुभव है। जिससे उन्हें राजस्व एवं न्याय संबंधी अनुभव प्राप्त होते है। जिला प्रशासन के दौरान उन्हे जनता के साथ सीधा संबंध स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता है। इसीलिए लॉर्ड कर्जन ने कहा था कि –''भारत पर शासन शिमला या कलकत्ता से हो सकता है परन्तु उसका प्रशासन मैदानों से हो रहा है'' भारतीय प्रशासन परम्परागत रुप से क्षेत्र प्रशासन के सिद्वान्त पर आधारित है। भारत के स्वतंत्र होने पर भी इसमें कोई फर्क नही पडा। आज भी गांव, तहसील, खण्ड, जिला, संभाग प्रशासन के विभिन्न स्तर हैं। इन स्तरों पर प्रबंधकीय कार्य करने के लिए सामान्यज्ञ लोक सेवक का होना आवश्यक है।

4. सामान्यज्ञों के पक्ष में एक मुख्य तर्क यह है कि वे उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के होते हैं जबकि विशेषज्ञ पूर्वाग्रह से मुक्त नही हो पाता। उसका दृष्टिकोण अपने विषय क्षेत्र तक सीमित होने के कारण संकुचित होता है। अपने विषय को केन्द्र में रखकर निणय लेने के कारण वह परिस्थितियों को समग्रता में देख पाने में असमर्थ होता है। इसलिए पॉल.एच. एपलबी ने कहा है कि –''विशेषज्ञता का मूल्य हर प्रकार का संकीर्णतावाद है''।
5. सामान्यज्ञ अपने व्यापक दृष्टिकोण के कारण अनुभवहीन मंत्री और विशेषज्ञ के बीच, जनता और सरकार के बीच तथा दबाव समूहो और जनहित के बीच प्रभावी मध्यस्थ की भूमिका अदा करते है।
6. सामान्यज्ञ सचिवालयी कार्यो के सपादन में मंत्रियों को जो सहायता और परामर्श देते है वह तकनीकी पक्ष के साथ–साथ व्यवहारिकता के अत्यन्त नजदीक होता है क्योंकि वे व्यावहारिक पक्ष और कठिनाइयों से भली भांति अवगत रहते है।

हेरॉल्ड लास्की लिखते है ''प्रशासनिक निर्णय लेने में विशेषज्ञों की सीमाएँ है अपने कार्यमूलक ज्ञान को ग्रहण करते करते विशेषज्ञ सामान्य ज्ञान की बलि चढा देते है'' वही थोर्सटीन वेबलीन के अनुसार –''विशेषज्ञों से अभिप्राय 'प्रशिक्षित अयोग्यता' से ही होता है।

''विशेषज्ञों के पक्ष में तर्क :

प. जवाहर लाल नेहरु ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि ''यह धारणा गलत है कि प्रशासनिक सेवा सब सेवाओं से उच्च है एक यांत्रिक प्रशासक के रुप में कार्य कर सकता है परन्तु एक प्रशासक यांत्रिक के बिना कार्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार का मत ब्रिटेन की फुल्टन समिति और भारत के प्रशासनिक सुधार आयोग का भी था। विशेषज्ञों की प्रशासन में भूमिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते है :

1. प्रशासन एक जटिल और तकनीकी प्रकिया है अतः प्रशासनिक कार्यो को सही उचित तथा तर्कपूर्ण ढग से संपादित करने के लिए विशेषज्ञ ज्ञान होना आवश्यक बन गया है। ऐसी स्थिति में विभागीय प्रशासन का संचालन करने के लिए सामान्यज्ञ प्रशासक के स्थान पर विशेषज्ञ को प्रतिष्ठित करना आवश्यक हो गया है।
2. विशेषज्ञ अधिकारी तकनीकी बारीकियाँ भली भाँति समझते हैं उनके द्वारा प्रेषित प्रस्तावों की तकनीकी जटिलता को सामान्यज्ञ नही समझ पाते है इसीलिए सामान्यज्ञ के लिए यह कहा जाता है कि वे 'हरफनमौला तो है किंतु माहिर किसी में नही ''।
3. आज का युग 'व्यापक से सूक्ष्म' तथा 'सामान्य से विशेषीकरण' की और है। जिसमें 19वीं सदी में ब्रिटेन एव भारत में ''बुद्धिमान नौसीखियों'' के सिद्वांत पर विकसित सामान्यज्ञ सेवा उपयुक्त नही है।
4. सामान्यज्ञों को भी परम्परागत नियामकीय कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है जो विकास प्रशासन के लिए उपयुक्त नही है।
5. सामान्यज्ञ अधिकारी औपचारिकता, लालाफीताशाही और नियमों पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए इनका कठोरता से पालन करते हैं। जिससे विभिन्न प्रशासकीय कार्यों की पूर्णता में अनावश्यक विलम्ब होता है। जबकि विशेषज्ञ अधिकारी कार्य निष्पादन पर बल देते हैं।
6. सामान्यज्ञ प्रशासक, औपेनिवेशिक व्यवहार से मुक्त नही हो पाए है आज भी उनमें सर्वोपरि होने का अहम व्याप्त है।
7. कुछ विभाग जैसे कृषि, चिकित्सा, विधि, इत्यादि की प्रकृति तकनीकी है जिससे इनकी बागडोर सामान्यज्ञ की बजाय विशेषज्ञ ही प्रभावी ढंग से सभाल सकते हैं इन विषयों में निरन्तर शोध एव अनुसंधान की आवश्यकता भी विशेषज्ञ का समर्थन करती है।

प्रशासनिक सुधार आयोग (1966–70) के अध्यक्ष के. हनुमन्तैया ने विशेषज्ञों का समर्थन करते हुए लिखा है कि सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के इस युग में नीति–निर्माण और प्रशासन के उच्च स्तरो पर विशिष्टता से विभूषित विशेषज्ञों के परामर्श को सबसे अधि महत्व दिया जाना चाहिए। साथ ही प्रशासन में व्याप्त समान कार्य के लिए असमान वेतन की असंगति को दूर करना अपरिहार्य है, ताकि लोक सेवा में पायी जाने वाली ईर्ष्या और तुच्छ मनोवृति को दूर किया जा सके।

समाधान– भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में सामान्यज्ञों और विशेषज्ञों का यह विवाद प्रशासन के लिए शुभ नही माना जा सकता। इसने प्रशासन की कार्यकुशलता को नकारात्मक ढंग से प्रभावित किया है। इसलिए विभिन्न समितियों, आयोगों एवं प्रशासनिक चिन्तकों ने इस विवाद पर गंभीर चिंतन किया है । इस विवाद के समाधान हेतु प्रमुख सुझाव निम्नानुसार है :

1. भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्गठन दो भागों में करके यह निर्धारित कर दिया जाना चाहिए कि कौन–कौन से विभाग सामान्यज्ञ के अधीन होंगे एवं कौनसे विशेषज्ञ के ।
2. नये तकनीकी विषयों में नई अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन किया जाए यथा चिकित्सा, शिक्षा, कृषि इत्यादि। इन सेवाओं के व्यक्तियों को भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यों के समकक्ष दर्जा एव सुविधाऐं दी जानी चाहिए।
3. सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों को साथ–साथ प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे एक दूसरे के पद की वास्तविकताओं और चुनौतियों को समझ सकें ।
4. पदसोपानिक व्यवस्था में परिवर्तन लाया जाना चाहिए। विश्व में प्रचलित प्रणालियों में से कुछ विचारणीय प्रणालियाँ निम्नलिखित है :

(अ) पृथक पद सोपान : इस प्रणाली में विशेषज्ञ को अधिक मान्यता प्राप्त होती है। वेतनक्रम दोनों का समान होता है लेकिन पदसोपानीय व्यवस्था पृथक पृथक होती है। यह प्रणाली जर्मनी, स्वीडन, आस्ट्रेलिया आदि देशों में प्रचलित होती है।

(ब) समान्तर पद सोपान : इस व्यवस्था में यद्यपि पृथक–पृथक पदासोपान व्यवस्था होती है किन्तु सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ दोनों साथ मिलकर कार्यों का सम्पादन करते है। उदाहरणार्थ महानिदेशक (स्वास्थ्य) एवं सचिव (स्वास्थ्य) साथ मिलकर कार्य करें।

(स) संयुक्त पद सोपान : इस प्रणाली में वरिष्ठ सामान्यज्ञ के अधीन एक सामान्यज्ञ और एक विशेषज्ञ अधिकारी एक साथ कार्य करते है इस प्रकार दो विपरीत विचार धाराओं वाले व्यक्ति सामंजस्य बैठाते हैं स्वास्थ्य सचिव के अधीन निदेशक (स्वास्थ्य) और उप सचिव कार्य करें ।

(द) एकीकृत पदसोपान : इस प्रणाली में सभी पृथक–पृथक सेवाऐं तथा संवर्ग एक ही जगह एकीकृत कर दिये जाते है एक जैसी भती एक जैसा वेतनमान तथा समान सेवा शर्ते हो जाती हैं 1973 से पाकिस्तान में यही व्यवस्था लागू है।

5. प्रशासनिक सुधार आयोग ने सामान्यज्ञ – विशेषज्ञ विवाद के समाधान हेतु निम्नलिखित सुझााव प्रस्तुत किए। आयोग ने अखिल भारतीय सेवाओ के क्रियाशीलकरण (Functionalisation) का सुझाव देकर उसे कार्यमूलक (Functional) बनाने पर बल दिया फुल्टन समिति ने इससे पूर्व ब्रिटेन में दो प्रकार की विशेषज्ञता को बताया था। एक तो वह अपने कार्य में दक्ष होता है और वह दक्षता प्रशिक्षण एव निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है दूसरे उसे विभिन्न विषयों सहित मौलिक एव गभीर ज्ञान प्राप्त होता है जिससे वह अपने कार्यक्षेत्र में सरलता का अनुभव करता है । इन दोनों को समिति ने व्यवसायिक बताया था। अर्थात अभ्यास से प्राप्त ज्ञान को भी विशेषज्ञता की संज्ञा दी थी। इस प्रकार प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारत में सेवाओ को दो भागो में विभक्त करने की सलाह दी।

1. कार्यात्मक सेवाएँ। 2. गैर कार्यात्मक सेवाएँ।

अर्थात भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए एक कार्यपरक क्षेत्र अलग किया जाए जिसमें भू–राजस्व, मजिस्ट्रेट संबंधी एवं अन्य विनियमन के कार्य शामिल है। जो अन्य किसी सेवा में न शामिल हो। जिसमें कार्य करते–करते अभ्यास से अधिकारी विशेषज्ञ हो जाए आयोग का मानना था कि भारतीय आई. ए. एस. को सामान्यज्ञ सेवा नही माना जाए इसकी भूमिका पूरी तरह कार्यमूलक हो।

2. आयोग का सुझाव था कि उच्च सेवाओं के पदों को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए : प्रथम क्षेत्र (Field) के पद , ये पद तकनीकी योग्यताधारी एवं अनुभव प्राप्त व्यक्तियों को दिया जाए तथा द्वितीय मुख्यालय (Headquarter) के पद, इन पदों पर सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ अधिकारियों को संयुक्त रूप से आवश्यकतानुसार लगाया जाना चाहिए।
3. एक तार्किक वेतन ढाँचा अपनाया जाना चाहिए ताकि प्रत्येक कार्य की वास्तविक जिम्मेदारियाँ सामने आ सकें।
4. लोक उद्यमों में निदेशक के पद पर सामान्यज्ञों को नियुक्त करने की प्रथा बंद होनी चाहिए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रशासन में सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ दोनों अनुपूरक है। दोनों में वर्गीकरण सतही है। फुल्टन समिति ने भी कहा था कि हमारा उद्देश्य सामान्यज्ञों द्वारा विशेषज्ञों को और विशेषज्ञों द्वारा सामान्यज्ञों की प्रतिस्थापित करना नहीं है। अतः सामान्यतः एवं विशेषज्ञ प्रशासन के एक सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों में समन्वय एंव सहयोग से ही लोक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. ब्रिटिश प्रशासन के समय से ही भारतीय प्रशासन में सामान्यज्ञों का वर्चस्व कायम है। उन्हें विशेषज्ञों की तुलना में अत्यधिक महत्व एवं सम्मान प्राप्त है।
2. सामान्यज्ञ प्रशासक से अभिप्राय ऐसे लोक सेवक से है, जिसकी कोई विशेष पृष्ठभूमि या आधार नहीं होता और उसे आसानी से शासन के एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानान्तिरत किया जा सकता है। 3. विशेषज्ञ प्रशासक से अभिप्राय तकनीकी योग्यताधारी या विषय विशेष में योग्यता रखने वाले लोक सेवक से है। कृषि, चिकित्सा, शिक्षा, अभियान्त्रिकी इत्यादि के अधिकारी विशेषज्ञ की श्रेणी में आते हैं।
4. दोनों के मध्य विवाद के प्रमुख कारण निम्नलिखित है :

(1) भारतीय प्रशासन में सामान्यज्ञों की उच्च स्थिति, वेतन तथा अन्य सुविधाऐं विवाद का मुख्य कारण हैं। (2) नीति निर्धारण एवं निर्णयन के सभी महत्वपूर्ण पदों पर सामान्यज्ञों का वर्चस्व।

(3) विशेषज्ञों के लिए निर्धारित पदों पर सामान्यज्ञों की नियुक्ति ।

(4) विशेषज्ञों के प्रस्तावों एवं सलाहों पर सामान्यज्ञों द्वारा ध्यान नहीं देना।

5. प्रशासन में सामान्यज्ञों की भूमिका के पक्ष में तर्क :

(1) सामान्यज्ञ अपनी क्षमता, योग्यता और व्यापक अनुभव के कारण उच्च प्रबंधन स्तर पर विशेषज्ञों की तुलना में अधिक उपयुक्त हैं।

(2) सामान्यज्ञ सेवाओं का मुख्य गुण जिला प्रशासन संबंधी अनुभव है।

(3) सामान्यज्ञ का उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण उन्हें विशेषज्ञ की संकीर्णता से बेहतर बनाता है।

(4) सामान्यज्ञ मंत्रियों को व्यवहारिकता से परिपूर्ण परामर्श देने में सक्षम होते है।

6. प्रशासन में विशेषज्ञों की भूमिका के पक्ष में तर्क :

(1) प्रशासन एक जटिल और तकनीकी प्रक्रिया है अतः प्रशासनिक कार्यों को सही, उचित और तर्क पूर्ण ढंग से सम्पादित करने के लिए विशेषज्ञ ज्ञान आवश्यक है। (2) विशेषज्ञ प्रशासक लालफीताशाही, औपचारिकता, नियमों को अधिक महत्व देने वाले सामान्यज्ञ प्रशासकों की बुराईयों से दूर होते है। (3) विशेषीकरण के युग में, उद्देश्यों की प्राप्ति विशेषज्ञ दृष्टिकोण से ही संभव है।

6. दोनो के सम्बन्ध मधुर बनाने हेतु सुझाव :

(1) भारतीय व्यवस्था का पुनर्गठन करके पहले ही यह निर्धारित कर दिया जाए कि अमुक विभाग सामान्यज्ञ के एवं अमुक विभाग विशेषज्ञ के अधीन रहेगा। (2) दोनों के लिए संयुक्त प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की जाए। (3) नई विशेषज्ञ अखिल भारतीय सेवा का गठन किया जाए। (4) अन्य देशों में प्रचलित पद सोपान प्रणाली को अपना कर संबंध मधुर बनाए जा सकते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. निम्नाकिंत में विशेषज्ञ कौन है ?
(अ) जिलाधीश (ब) तहसीलदार
(स) संभागीय आयुक्त (द) डॉक्टर

2. जिलाधीश, तहसीलदार आदि की सेवाओं को किस वर्ग में रखा जा सकता है ?
(अ) सामान्यज्ञ वर्ग (ब) विशेषज्ञ वर्ग
(स) सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

3. आई.सी.एस. सामान्यज्ञ सेवा का सृजन किस आयोग की सिफारिश पर किया गया ?
(अ) नार्थकोट–ट्रेवेलियन आयोग
(ब) ली आयोग
(स) ऐचिसन आयोग
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

4. 'हरफन मौला तो है किन्तु माहिर किसी में नहीं'' किस प्रशासक के लिए कही गई कहावत है ?
(अ) सामान्यज्ञ (ब) विशेषज्ञ
(स) सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ (दोनों) (द) कोई नहीं।

5. ''विशेषज्ञता का मूल्य हर प्रकार का संकीर्णवाद है।'' किसने कहा है ?
(अ) पॉल एच. एपिलबी (ब) हरमन फाइनर
(स) हेराल्ड लास्की (द) थोर्सटीन वेबलीन।

6. भारत के अतिरिक्त किस देश में सामान्यज्ञों की प्रधानता है ?
(अ) पाकिस्तान (ब) जर्मनी
(स) ब्रिटेन (द) ऑस्ट्रेलिया

7. सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ संबंध में विवाद का मुख्य कारण सामान्यज्ञों की प्रधानता है।
(अ) पद में (ब) वेतन में
(स) नीति निर्माण में (द) उपर्युक्त सभी ।

8. अखिल भारतीय सेवाओं के क्रियाशीलकरण का सुझाव किस ने दिया था ?
(अ) सतीश चन्द्रा समिति (ब) होता समिति
(स) मेहता समिति (द) प्रशासनिक सुधार आयोग

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. सामान्यज्ञ को परिभाषित कीजिए।
2. विशेषज्ञ से आप क्या समझते है ?
3. सामान्यज्ञ श्रेष्ठ है। दो तर्क लिखिए।
4. सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ विवाद के दो मुख्य कारण लिखें।
5. भारतीय प्रशासन में विशेषज्ञ के पक्ष में तर्क दीजिए।
6. विशेषज्ञ सेवाओं के कोई तीन उदाहरण लिखिए।
7. एकीकृत सोपानीय व्यवस्था किस देश में और कब से प्रचलित है ?
8. ''सामान्यज्ञ सेवा के बीज नार्थकोट ट्रेवेलियन समिति की अनुशंसा में निहित है।'' स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. सामान्यज्ञ और विशेषज्ञ के मध्य अन्तर को स्पष्ट करें।
2. सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ विवाद के मुख्य आधार क्या हैं ?
3. ''हरफनमौला है पर माहिर किसी में नही'' उक्त कथन को स्पष्ट करें।
4. सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ संबंधों को बेहतर बनाने हेतु सुझाव दें।
5. ''सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ एक दूसरे के अनुपूरक हैं। उक्त कथन को स्पष्ट करें।
6. भारतीय प्रशासन में विशेषज्ञों की भूमिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
7. सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ विवाद के समाधान हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा की गई प्रमुख सिफारिशों का उल्लेख कीजिए।
8. ''भारतीय प्रशासन में सामान्यज्ञों की श्रेष्ठता जरूरी है।'' तर्क दीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ में अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनके मध्य विवाद के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. सामान्यज्ञ प्रशासक से क्या अभिप्राय है ? प्रशासन में उनकी भूमिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. विशेषज्ञ प्रशासक से क्या अभिप्राय है ? प्रशासन में उनकी भूमिका के पक्ष में तर्क दीजिए।
4. ''सामान्यज्ञ–विशेषज्ञ एक दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक है'' इस कथन को स्पष्ट करते हुए दोनों के मध्य बेहतर संबंधों हेतु सुझावों को प्रस्तुत करें।

उत्तरमाला :

1. (द)	2. (अ)	3. (अ)	4. (अ)
5. (अ)	6. (स)	7. (द)	8. (द)

अध्याय – 27
प्रशासनिक नैतिकता
(Administrative Ethics)

आडॅवे टीड का यह वक्तव्य कि ''प्रशासन एवं नैतिक कार्य है और प्रशासक एक नैतिक अभिकर्त्ता'' प्रशासन और नैतिकता के मध्य संबंध को पूरी तरह से स्पष्ट करने में समर्थ है। वस्तुतः प्रशासनिक नैतिकता और सच्चरित्रता राज्य और प्रशासन के आवश्यक धर्म है। एक पुरानी संस्कृत कहावत है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् जनता राजा के आचरण को अनुसरण करती है अर्थात् राजा/राज्य के प्रशासन का आचरण नैतिक होना अत्यन्त जरुरी है।

प्रशासनिक नैतिकता से अभिप्राय नीतिगत या नैतिक आचरण से है अर्थात् प्रशासन में कार्यरत् प्रत्येक अधिकारी/कर्मचारी तथा प्रशासनिक नैतिक मापदण्डों के अनुसार कार्य करे ताकि वे पदेन शक्तियों का दुरुपयोग न कर सकें। प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार ''प्रशासन द्वारा उत्तम रीति से कार्य करना केवल इस बात पर ही अवलम्बित नहीं है कि इसके कर्मचारी अतीव योग्य हों अपितु इस बात पर भी निर्भर है कि वे अपने वैयक्तिक आचरण को उच्च स्तर पर बनाए रखें और नियमों तथा अनुशासन का पूरा पालन करें। अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकारी कर्मचारियों को ठीक ढंग से काम करने के बारे में सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादित किए गए नियमों की एक संहिता हो तथा इस बात की व्यवस्था की जाए कि जो कर्मचारी इन नियमों से तनिक भी विचलित हो उसे दण्डित किया जाए।

उपर्युक्त मत में व्यक्त सुस्पष्ट रीति से प्रतिपादित नियमों की संहिता का अध्ययन जिस शाखा के तहत् किया जाता है वह नीतिशास्त्र है।

नीतिशास्त्र का अभिप्रायः

नीतिशास्त्र से तात्पर्य उन नैतिक मूल्यों से है जो लोगों के व्यवहार को निर्देशित करने में अहम् भूमिका निभाते है जब इन नैतिक मूल्यों की जब प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में चर्चा की जाती है तो यह प्रशासनिक नीतिशास्त्र कहलाता है।

प्रशासनिक नीतिशास्त्र को परिभाषित करते हुए एस. एल.गोयल लिखते है ''प्रशासनिक आचार नीति उन प्रशासनिक मानदण्ड़ों का अध्ययन है जिसके आधार पर किसी कार्य के बारे में यह निर्णय किया जाता है कि वह गलत है या सही, नैतिक है या अनैतिक, अच्छा है अथवा बुरा '' आधुनिक काल में अपनी लोक सेवा का व्यावसायीकरण सबसे पहले जर्मनी ने किया, परन्तु जर्मनी ने लोक सेवकों के के लिए जिस व्यावसायिक संहिता का विकास किया उसमें अलोकतांत्रिक तत्व अधिक थे। लोकतंत्र ढंग की व्यवसायिक संहिता का विकास सर्वप्रथम ब्रिटेन ने किया। वास्तव में ब्रिटिश लोक सेवा को उसके प्रशासनिक नीतिशास्त्र आचार संहिता के लिए जाना जाता है।

भारत की स्थिति का वर्णन पी.आर.देशमुख ने स्पष्ट रुप से किया है कि भारत में लोक सेवकों के लिए कोई आचार संहिता नही है परन्तु यहाँ सरकारी कर्मचारी सेवा नियम हैं। इनमें यह निर्धारित् किया गया है कि लोक सेवकों के कदाचरण के अंतर्गत कौन–कौनसी चीजे आती है। स्पष्टतया इसका आशय ऐसे आचरण से है जो स्वीकार्य नही है और साथ ही अनैतिक भी है।''

प्रशासनिक नैतिकता हेतु आचार संहिता की आवश्यकता :

कौटिल्य के शब्दो में ''राजा का जो शील है वही शील प्रजा का भी होता है। यदि वह उद्यमी हो तो प्रजा उद्यमी, राजा प्रमादी हो तो प्रजा भी प्रमादी हो जाती हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक शासन प्रणालियों में राजा का स्थान मंत्रियों तथा लोक सेवकों ने ले लिया है अतः उनके आचरण को आदर्श बनाए रखने के लिए तथा उन्हें दी गई शक्तियों का दुरुपयोग न होने देने के लिए कुछ स्पष्ट आचार सहिंता का होना आवश्यक है। लोक सेवकों के लिए आचार संहिता की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से है –

सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए :

लॉर्ड एक्टन ने लिखा है कि पूर्ण सत्ता पूर्ण भ्रष्ट करती है। लोक सेवकों के पास नागरिकों के जीवन और कार्यकलापों पर नियंत्रण रखने की शक्ति प्राप्त होती है अतः आचार नियमों का होना आवश्यक है जिससे अधिकारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर सके।

प्रशासनिक कुशलता के लिए :

आचार संहिता में प्रशासनिक कुशलता बनाए रखने हेतु आवश्यक नियम होते है जिससे लोक सेवक कर्त्तव्य विमुख और उच्छृंखल नहीं हो पाते।

राजनीतिक तटस्थता बनाए रखने हेतु :

लोक सेवकों में कुशलता बनाए रखने हेतु राजनीतिक निरपेक्षता या तटस्थता होना अपरिहार्य है। इसको लागू करने के लिए भी आचार नियम आवश्यक है।

आचरण को नैतिक बनाए रखने के लिए :

आचार संहिता,लोक सेवक के आचरण के उच्च नैतिक स्तर बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि उनका आचरण निर्धारित मान दण्डों का अनुरूप हो।

लोक सेवकों की मनमानी गतिविधियों पर अंकुश :

लोक सेवकों पर समाज कल्याण की महती जिम्मेदारी होती है। अपनी स्थिति का दुरूपयोग करते हुए वो मनमानी न कर पाएं इसके लिए आचार संहिता मे प्रावधान किए जाते हैं।

जनहित को संरक्षण एव प्रोत्साहन : सरकारी धन,जनता की धरोहर है। उसका उपयोग सर्वोत्तम रुप से जनहित में हो पाए इसके लिए आचार संहिता जरुरी है।

प्रशासनिक आचार सहिंता के महत्व पर बल देते हुए पी.आर देशमुख ने कहा है ''सार्वजनिक प्रशासन का कार्यकुशल होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उसका नैतिक होना है ।'' व्यक्ति के बारे में यह कहा जाता है कि अगर चरित्र नही रहा तो कुछ नहीं रहा प्रशासन के बारे में यह कहा जा सकता है कि यदि नैतिकता नहीं तो कुछ भी नहीं रह जाता ।

भारत में सरकारी कर्मचारी आचार संहिता :

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 309 के तहत् राष्ट्रपति को लोक सेवको के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है। यद्यपि भारत में लोक सेवकों के कृत्यों को परखने के लिए पृथक से कोई नीतिशास्त्र विकसित नही है तथापि अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय एवं प्रांतीय लोक सेवाओं के लिए आचरण नियम बने हुए हैं। इनमें से महत्वपूर्ण ये है –

1. अखिल भारतीय सेवा आचरण नियम, 1954
2. केन्द्रीय सेवा आचरण नियम, 1955
3. रेलवे सेवा आचरण नियम, 1956

इनके अतिरिक्त नियम और निर्देश भी हैं जिनका सरोकार लोकसेवकों से संबंधित विशेष परिस्थितियों से हैं। इन सब नियमों में लोक सेवको से संबंधित सामान्य आचार नियम निम्नलिखित है :

1. कर्त्तव्य पालन :

आचरण नियमो के अनुसार लोकसेवको को अपने कर्त्तव्य का पालन पूर्णनिष्ठा एंव ईमानदारी से करना चाहिए।

2. राजनीतिक प्रतिबद्धता के स्थान पर राजनीतिक तटस्थता :

आचरण नियमों में लोक सेवकों से यह अपेक्षा की जाती है वे अपनी कार्यशैली में पूरी तरह से राजनीतिक और सामाजिक रुप से तटस्थ बने रहें। उन्हें राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने, चंदा देने, किसी भी दल की सदस्यता ग्रहण करने तथा किसी भी दल का प्रसार–प्रचार करने संबंधी कार्यों पर प्रतिबंध है।

3. संपति संबंधी नियम :

प्रावधान है कि प्रत्येक लोक सेवक को सरकारी सेवा में आने से पूर्व अपनी चल –अचल संपत्ति का विवरण सरकार को देना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक वर्ष अर्जित संपति की सूचना सरकार समय–समय पर मांगती रहती है। इसके अतिरिक्त निर्धारित सीमा से अधिक संपत्ति का लेन–देन के लिए सरकार की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है।

4. सार्वजनिक आलोचना पर प्रतिबंध :

आचार संहिता के अनुसार लोक सेवक सरकार की सार्वजनिक रुप से आलोचना नहीं कर सकते है। उन्हे अपने कार्यक्षेत्र के बारे में केवल मीडिया और प्रेस में अधिकृत होने पर औपचारिक वक्तव्य देने का अधिकार है।

5. निजी व्यापार का निशेध :

कोई भी लोक सेवक, सरकार की पूर्व अनुमति लिए बिना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी व्यापार या व्यवसाय में कोई भाग नहीं ले सकता है। वह केवल किसी सामाजिक अथवा जनकल्याणकारी स्वरूप रखने वाली संस्था में अवैतनिक रूप से साहित्यिक, कलात्मक या वैज्ञानिक ढंग का कार्य इसी शर्त परकर सकता है कि इससे उसके सरकारी कार्यों को करने पर किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आएगी।

6. सट्टेबाजी का निशेध :

कोई भी लोक सेवक और उसके परिवार के सदस्य सट्टेबाजी नहीं कर सकते और न ही सरकार की स्वीकृति के बिना रूपया उधार दे सकते हैं।

7. राजनीतिक चंदा देने एवं उपहार लेने का निशेध :

लोक सेवक, राजनीति उद्देश्य से संग्रह किये जाने वाले कोष में चंदा नही दे सकते वहीं आचार संहिता के अनुसार लोक सेवक एक निर्धारित सीमा से अधिक भेंट या उपहार ग्रहण नही कर सकता।

8. दहेज लेने एवं दूसरे विवाह का निशेध :

कोई भी लोक सेवक को अपने विवाह में दहेज माँगने या स्वीकार करने का आचार संहिता में निषेध हैं। और न ही कोई लोक सेवक अपनी पहली पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह कर सकता है ।

9. धर्म निरपेक्ष आचरण :

सरकार कर्मचारियों को अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी भी धर्म को अपनाए जाने तथा उसका अनुसरण करने की स्वतंत्रता है परन्तु उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वे किसी ऐसे संगठन अथवा आंदोलन जिसके कार्य कलापों को साम्प्रदायिक प्रकृति का समझा जा सकता हो, में भाग लेते समय बहुत ही सावधानी से काम लेंगे ।

10. चौदह वर्ष से कम आयु के बच्चों को नौकरी में रखे जाने की मनाही :

सरकारी कर्मचारियों द्वारा 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को नौकरी में रखे जाने की मनाही के बारे में केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) नियमावली, 1964 में एक नया प्रावधान कर दिया गया है।

भारत में प्रशासनिक नैतिकता के पतन के कारण :

पश्चिमीकरण एवं भौतिकवाद के प्रसार से प्रशासन में नैतिकता का स्तर अत्यन्त गिर गया है। नैतिकता के पतन के मुख्य कारणों के विवेचना हम निम्नलिखित प्रकार से कर सकते है :

1. नैतिक मूल्यों का ह्रास :

शहरीकरण, पाश्चात्यीकरण एवं भौतिकतावाद के प्रसार से सामाजिक और वैयक्तिक नैतिक्त मूल्यों का ह्रास तेजी से हुआ हैं न केवल भारत अपितु पूरा विश्व जिस प्रकार मूल्य निरपेक्ष दृष्टि से आगे बढ़ रहा है। वहाँ भौतिक उपलब्धि ही सब कुछ है, साधनों की पवित्रता अप्रासंगिक हो गई है। लोक सेवक सीमित आय होने के कारण नैतिक तरीको से यह अर्जित नहीं

कर पाते इसलिए अनैतिक तरीकों का सहारा लेते है।

2. सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न :

आज धन सामाजिक प्रतिष्ठा का का कारण है न कि मूल्य । पहले भ्रष्टाचारियों को सामाजिक बहिष्कार का भय रहता था, परन्तु अब भ्रष्टाचारी धन के कारण सामाजिक रूप से प्रतिष्ठा पा लेते है। जिससे ईमानदार बने रहने के लिए लोक सेवा को समाज से प्रेरणा नहीं मिल पाती ।

3. दण्ड का भय नही :

भारतीय कानून व्यवस्था की प्रक्रियागत कमियों एवं देरी के कारण भ्रष्टाचारी प्रायः बच जाते है। जिससे दण्ड का भय उन्हें भ्रष्ट होने से नही रोक पाता है । अखिल भारतीय सेवाओं का अनु. 311 के तहत मिली संवैधानिक सुरक्षा के कारण भी उनके विरूद्ध कार्यवाही नहीं पाती ।

4. स्थापित हितों की मजबूती :

कोई भी ईमानदार लोक सेवक स्थापित स्वार्थी हितों से लड़ नहीं पाता क्योंकि भ्रष्ट तन्त्र भारत में इतनी मजबूती से स्थापित हो चुका है। लोक सेवक इस संघर्ष की बजाय तंत्र का हिस्सा बनकर भ्रष्ट होना ज्यादा उचित समझते हैं।

5. निर्वाचन में कालाधन :

भारत में चुनाव काफी महँगे होते जा रहे है। चुनाव जीतने के लिए राजनीतिक दलों को काले धन की जरूरत पडती है। जिससे जीतने के बाद दलों को उन धन प्रदाताओं के लिए कार्य करना पड़ता है । फलतः काला धन रखने वालों और राजनीतिज्ञों का एक गठजोड़ बन गया है,जो भ्रष्टाचार का प्रमुख कारण है।

6. लालफीताशाही :

काम करने की प्रकिया बडी जटिल एवं विलम्बकारी है जिससे लालफीताशाही की प्रवृत्ति का जन्म हुआ है। इस प्रवृत्ति से भारतीय प्रशासन मे कार्य करने के लिए 'घूस' जिसे संस्थानम् समिति ने 'शीघ्र काम करने वाला धन ' कहा है, को बढ़ावा मिला है। अब यह सामान्य सोच बन चुकी है की कार्य समय पर तभी संभव है जब उसके लिए रिश्वत दी जाए।

7. आर्थिक असमानता और बढ़ती हुई मंहगाई :

आर्थिक असमानता ,बढ़ती हुई मंहगाई कम वेतन आदि से लोक सेवक परेशान रहते है। सीमित आय से वे अपनी जरूरतों को पूरा करने में असमर्थता के कारण वे अनैतिक कार्यो के की तरफ प्रेरित होते है।

प्रशासनिक शुचिता हेतु प्रयास :

भारत में प्रशासनिक आचार नियमों की न्यूनता के कारण तथा भ्रष्टाचार की व्याप्ति को ध्यान में रखते हुए निम्न लिखित समितियों का गठन किया गया।

1. रौलेण्ड की अध्यक्षता में बंगाल प्रशासन जॉच समिति (1944–45)
2. लोक प्रशासन पर ए.डी. गोरवाला की रिपोर्ट (1951)
3. आचार्य जे.बी. कृपलानी की अध्यक्षता में रेलवे भ्रष्टाचार जॉच समिति (1953–55)
4. भ्रष्टाचार की रोकथाम पर संथानम समिति (1964)
5. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (चतुर्थ प्रतिवेदन)।

संथानम् समिति,1964

समिति ने 1964 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें भ्रष्टाचार को समाप्त करने हेतु अनेक सुझाव प्रस्तुत किए जिनमें से महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित है :

1. केन्द्र सरकार में एक केन्द्रीय सतर्कता आयोग स्थापित किया जाना चाहिए।
2. सरकारी विधियों, नियमों एवं कार्यप्रणालियों की निरन्तर समीक्षा करते हुए उन्हे सरल एवं स्पष्ट बनाया जाए जिससे अस्पष्टता का फायदा उठाकर लोक सेवकों को अनैतिक कार्य करने का अवसर प्राप्त न हो सके ।
3. मंत्रियों के विरूद्ध भ्रष्टाचार की जॉच करने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग होना चाहिए ।
4. सरकारी अधिकारियों के लिए समुचित आवास और पर्याप्त वेतन की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि वे रिश्वत के लोभ से बच सके।
5. फाइलों का निबटारा निश्चिति अवधि के भीतर शीघ्र किया जाना चाहिए ।
6. संविधान की धारा 311 का संशोधन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि भ्रष्टाचार के मामलों में कानूनी कार्यवाही शीघ्रता पूर्वक एवं आसानी से की जा सके ।
7. समस्त पदाधिकारियों, विधायकों और मंत्रियों को अपनी निजी सम्पत्ति की घोषणा करनी चाहिए।
8. विभिन्न राजनितिक दलों को व्यापारियों और उद्योगपतियों द्वारा दिए गए दान की जानकारी और हिसाब का लेखा जोखा जनता को देना चाहिए।

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग

(चतुर्थ प्रतिवेदन : प्रशासन में नैतिकता) :

प्रशासन में नैतिकता बनाए रखने हेतु आयोग द्वारा निम्न सुझावों की अनुशंसा की गई :

1. चुनावों के लिए अवैधानिक तथा अनावश्यक तरीकों से धन की व्यवस्था के स्थान पर आंशिक राज्य वित्त पोषण की योजना को प्रारंभ करन चाहिए ।
2. राजनीतिज्ञों के लिए, सांविधानिक प्रावधानों के तहत नैतिक आचार संहिता की रूप रेखा होना चाहिए।
3. संसद् द्वारा 'नैतिकता आयुक्त कार्यालय' की स्थापना हो जो सभी राज्यों में नैतिक संहिता व आचार संहिता की रूप रेखा बनवाए जिसकी वार्षिक रिपोर्ट सदन में प्रस्तुत की जाए।
4. गंभीर जालसाजी कार्यालय (Serious Fraud Office) की स्थापना हो जो अपराध तथा अभियोजन की जाँच कर सके ।
5. संविधान की धारा 310, 311 विलोपित हो।
6. लोकपाल तथा लोकायुक्त कार्यालय सशक्त हो तथा स्थानीय स्तर पर ओम्बुड्समैन कार्यालयों की स्थापना हों ।
7. लोकसेवकों, राजनीतिज्ञो में नैतिक संहिता की पालना करने हेतु नागरिको में जागरूकता हो तथा पहल करने वालों को पुरस्कृत किया जाए।
8. अमेरिका की तरह 'फॉल्स क्लेम एक्ट' लागू हो । जिसके तहत नागरिक एवं सामाजिक समूह सरकार के विरूद्ध

जालसाजी या नैतिक संहिता का खंडन का दोष पाए जाने पर कार्यवाही कर सके ।

9. पारदर्शिता को सुनिश्चित करने हेतु सूचना तकनीकी का समुचित उपयोग हो ।

10. ईमानदार लोक सेवकों को संरक्षण मिले।

प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना हेतु सुझावः

नैतिकता मूलतः आचरण की बात है। प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना के लिए संगठन और कार्य प्रणाली में सुधार करना ही पर्याप्त नहीं अपितु उन्हे लोक सेवको को सदाचरण हेतु प्रेरित करना है। प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना के लिए निम्नलिखित सुझाव विचारणीय है :

1. सामाजिक मूल्यो में परिवर्तन :

नैतिकता, मूल्यो से जुडी हुई है। यदि हम सामाजिक मूल्यों में नैतिकता को सम्मान दे, तथा अपनी जीवन शैली में सादगी लाए, धन संग्रह को शोषण और भ्रष्टाचार का प्रतीक माने, ईमानदारी लोगो को गौरव प्रदान करें , भ्रष्टाचारियों के खिलाफ अभियान छेडें तब हमारे सामाजिक मूल्यो में पुनरार्वतन की प्रक्रिया शुरू हो सकती है।

2. चुनाव सुधार :

भारत में चुनाव प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और खर्चीली है। जिससे एक ओर मौजूद राजनीतिक दल एवं राजनीतिज्ञ भ्रष्ट हो गए है वहीं दूसरी ओर राजनीति में आने के लिए ईमानदार व्यक्ति इच्छुक नहीं है। जिसका प्रभाव लोक सेवकों पर भी पड़ा है। यदि चुनाव में ईमानदार लोगो को ही टिकट दिया जाए ,हम ईमानदार लोगो को ही चुनाव में चुने, आपराधिक प्रकृति के व्याक्तियो को लड़ने पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया जाए एवं चुनाव खर्चो को सीमित किया जाए , तथा चुनाव राज्य के खर्चे पर लडे जाए तो चुनाव प्रक्रिया में सुधार संभव है एवं राजनीति में पुनः ईमानदार लोगों का प्रवेश हो पाएगा जिससे लोक जीवन में नैतिकता की स्थापना संभव है।

3. नैतिक शिक्षा पर बल :

भारतीय शिक्षा पद्धति में, स्कूल शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक, पाठ्यक्रमो में संस्कार पैदा करने वाली नैतिक शिक्षा को अनिवार्य विषय के रूप में लागू किया जाना चाहिए ।

4. दण्डात्मक व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाए :

नैतिकता बनाए रखने हेतु भारत में यद्यपि अनेक कानूनों का प्रावधान है किन्तु पुलिस एवं न्यायिक प्रणाली इतनी लचर है कि भ्रष्ट व्यक्ति वास्तव में दण्डित ही नही हो पाता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इसका ईमानदारी से कियान्वयन किया जाए ताकि भ्रष्ट व्यक्तियों में दण्ड का भय व्याप्त हो ।

5. लालफीताशाही और नौकरशाही की प्रवृतियों पर अंकुश :

कार्य में विलम्ब अर्थात लालफीताशाही भारतीय प्रशासन में भ्रष्टाचार का मुख्य कारण है। वस्तुतः विलम्ब से किया गया कार्य न्याय से वंचित करने के समान है। इसके लिए प्रशासनिक प्रक्रिया को ओर सरल बनाए जाने की जरूरत है। शिवचरण माथुर आयोग (1999) ने तो प्रक्रिया के सभी स्तरों तक निश्चित करने की सिफारिश की थी। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी प्रक्रियाओं के सरलीकरण से भ्रष्टाचार निवारण का सुझाव दिया था।

6. संरचनात्मक उपाय

भारत में भ्रष्टाचार निवारण एवं जन अभियोग निराकरण हेतु गठित संस्थाओं केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, केन्द्रीय सतर्कता आयोग, लोक शिकायत निदेशालय इत्यादि को और अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए। इन्हे और शक्तियाँ प्रदान की जाऐं तथा इन संस्थाओं में अति योग्य एवं निष्ठावान लोक सेवकों की नियुक्तियाँ की जानी चाहिए ।

भारत में स्वीडन की तर्ज पर ओम्बुडसमैन संस्था की आवश्यकता को दशकों से महसूस किया जा रहा है और प्रयास भी किए गए हैं। 2014 में कानून भी बन चुका है पर अभी तक लोकपाल की नियुक्ति नहीं की है, ओर न ही यह कानून पूर्णतः प्रभावी है। इस पद पर ईमानदार एवं निष्ठावान व्यक्ति को नियुक्ति की जानी चाहिए तथा कानून को और प्रभावी बनाए जाने की जरूरत है।

सरकारों द्वारा प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना हेतु उठाए गए कदम :

भ्रष्टाचार नासूर है। समय समय पर सरकारों द्वारा प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना एवं भ्रष्टाचार मिटाने हेतु अनेक कदम उठाए गए है, जिसमें से निम्नलिखित कदम महत्वपूर्ण है :—

1. केन्द्रीय सतर्कता आयोग : [C.V.C.]

संथानम् समिति (1964) की अनुशंसा को ध्यान में रखकर लोक सेवकों के विरूद्ध लगाए गए आरोपों की जाँच करने के लिए तथा सरकार को दोषी अधिकारियों के विरूद्ध मुकदमा चलाने के संबंध में परामर्श देने की दृष्टि से भारत सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा 'केन्द्रीय सतर्कता आयोग' की स्थापना वर्ष 1964 में की। इसका क्षेत्राधिकार केन्द्रीय शासन के समस्त कर्मचारियों, ,सार्वजनिक उद्यम के कर्मचारियों, सामूहिक निकायों , केन्द्रीय शासन के कार्यपालिका शक्ति संबंधी मामलों एवं संगठनो तक विस्तृत है। सर्तकता आयोग राजपत्रित अधिकारियों तथा उसके समान स्तर वाले कर्मिकों के भ्रष्टाचार से संबंधित मामलो की जॉच करता है। संसद सदस्य और मंत्री उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है।

2. केन्द्रीय अन्वेशण ब्यूरो : [C.B.I.]

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरों की स्थापना अप्रैल, 1963 में हुई थी। यह सराकर की प्रमुख अन्वेषण एजेंसी है। परिश्रम, निष्पक्षता एवं सच्चरित्रता इसके ध्येय वाक्य है। प्रांरभ में इसका मुख्य उदेश्य भ्रष्टाचार विरोधी मामलों की छानबीन करना था । कालान्तर में यह जटिल एवं महत्वपूर्ण मामलों की जाँच के लिए सरकार की प्रमुख अन्वेषण एजेंसी के रूप में विकसित हुई।

3. सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 :

प्रशासन को पारदर्शी एव जवाबदेह बनाने हेतु भारत सरकार द्वारा सूचना का अधिकार अधिनियम लाया गया । जो 12 अक्टूबर 2005 से सम्पूर्ण भारत में लागू हो गया। वस्तुतः शासन में गोपनीयता अनैतिक कार्यो में वृद्धि लाती है। इस अधिनियम से सूचना तक नागरिकों की पहुँच सुनिश्चित हुई। कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि प्रशासनिक नैतिकता की

स्थापना हेतु यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

4. लोक सेवा गारंटी अधिनियम, 2011 :

यह राजस्थान सहित 19 राज्यों में लागू हो चुका है। इसका उद्देश्य आम जनता को राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं का लाभ निर्धारित् समय सीमा में सुगमता से उपलब्ध कराना है। राजस्थान में यह 2011 में लागू हुआा।

5. सूचना प्रदाता (व्हिसल ब्लोअर) संरक्षण अधिनियम 2011 :

इस अधिनियम का उद्देश्य भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ रहे कार्यकर्त्ताओं को कानूनी सुरक्षा प्रदान करना है। यह विधेयक सिर्फ सरकारी कर्मियो के लिए है। इसका उद्देश्य एक ऐसी नियमित प्रणाली प्रदान करना है जिससे लोक सेवकों और मंत्रियों द्वारा भ्रष्टचार या सत्ता का जानबूझकर दुरुपयोग करने के बारे में जानकारी देने वाले व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया जा सके। इस विधेयक के मुख्य बिन्दु निम्नलिखित है :

1. भ्रष्टाचार की शिकायत करने वाले कर्मियो की पहचान गुप्त रहेगी।
2. जरुरत पडने पर ऐसे लोगों को सुरक्षा प्रदान की जाएगी।
3. भ्रष्टचार की झूठी शिकायत करने वालों के खिलाफ सजा का प्रावधान रखा गया है।
4. न्यायपालिका एवं विशेष सुरक्षा समूह (SPG) को छोडकर सेना, खुफिया एजेंसिया और पुलिस को भी इस कानून के दायरे में लाया गया है।
5. पद के दुरुपयोग को भी भ्रष्टाचार के दायरे में लाया गया है।
6. पाँच साल तक पुराने मामलों में ही शिकायत दर्ज होगी। इस अधिनियम की अहमियत यह है कि यह सरकारी महकमे में भ्रष्ट लोगो के खिलाफ शिकायतें सामने लाएगा। इससे केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त को मजबूती मिलेगी तथा साथ ही कई कर्मचारी जो डर के कारण चुप रहते थे वे ज्यादा सूचनाऐं सरकार से साझा करेंगें।

लोकपाल विधेयक 2014

स्वीडन के औम्बुड्समैन की तरह एक स्वतंत्र निष्पक्ष एजेंसी के रुप में प्रशासन के विरूद्ध जनता की शिकायतों की जाँच करने के लिए भारत में लोकपाल की स्थापना के अनेक प्रयास किए गए है। इस सम्बन्ध में लोकपाल विधेयक 2014 के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित है:

1. लोकपाल संस्था का एक अध्यक्ष होगा, जो या तो भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश या फिर सुप्रीम कोर्ट के रिटायर जज या फिर कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति हो सकते हैं।
2. लोकपाल संस्था में अधिकतम आठ सदस्य हो सकते है जिनमें से आधे न्यायिक पृष्ठभूमि से होने चाहिए।
3. कम से कम आधे सदस्य अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति पिछडी वर्ग, अल्पसंख्यकों और महिलाओं के होने चाहिए।

ऐसा कोई व्यक्ति जो सांसद या विधायक हो पंचायत/निगम का सदस्य हो,नैतिक भ्रष्टाचार का दोषी हो नौकरी से बर्खास्त किया गया हो या 45 वर्ष से कम उम्र का हो लोकपाल नही बन सकता।

चयन समिति में प्रधानमंत्री अध्यक्ष होगें एवं निम्नाकिंत चार सदस्य होंगे :

1. लोकसभा अध्यक्ष 2. लोकसभा में विपक्ष का नेता 3. मुख्य न्यायाधीश या उनकी अनुशंसा पर नामित सुप्रीम कोर्ट के एक जज 4. राष्ट्रपति द्वारा नामित कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति ।

लोकपाल के क्षेत्राधिकार में प्रधानमंत्री, मंत्री, संसद सदस्य और केन्द्र सरकार के समूह ए.बी.सी. और डी के अधिकारी और कर्मचारी आते हैं। इसी अधिनियम में पृथक से राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति का प्रावधान है। 2014 में पारित इस विधेयक के बावजूद नव वर्ष 2017 तक सरकार ने लोकपाल की नियुक्ति नहीं की है ।

1. विमुद्रीकरण :

भारत सरकार ने भ्रष्टाचार पर प्रहार करते हुए नवबर 2016 में विमुद्रीकरण की घोषणा की । 500 एव 1000 के नोटों को प्रचलन से बाहर करते हुए सरकार ने अनैतिक तरीके से कमाए गए काले धन पर लगााम लगाने की कोशिश की है। पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह का भी सुझाव था कि काले धन अैर भ्रष्टाचार पर नियंत्रण पाने हेतु यकायक किसी दिन देश की मुद्रा परिवर्तित कर देनी चाहिए। ताकि काले धन का निर्धनों में बटवारा हो सके या फिर वह समाप्त हो जाए। स्पष्ट है कि समय– समय पर सरकारो ने प्रशासन एवं सार्वजनिक जीवन में शुचिता लाने के लिए अनेक प्रयास किये है वस्तुतः जरुरत अब इन्हें प्रभावी ढ़ंग से लागू करने की है। साथ ही सामाजिक मूल्यों को पुनः स्थापित कर इस समस्या से प्रभावी रुप से निपटा जा सकता है।

महत्वपूर्ण बिन्दुः

1. 'यथा राजा तथा प्रजा'अर्थात् जनता राजा के आचरण का अनुसरण करती है। इसलिए राजा का अपना तथा राज्य/प्रशासन का आचरण नैतिक होना अत्यन्त जरुरी है।
2. प्रशासनिक नैतिकता से अभिप्राय नीतिगत आचरण से है अर्थात् प्रशासनिक अधिकारी नैतिक मानदण्डों के अनुसार कार्य करें ताकि वे अपनी पदीय शक्तियों का दुरुपयोग न कर सकें।
3. नीति शास्त्र शुभ – अशुभ, नैतिक अनैतिक उचित अनुचित शब्दों के ज्ञान के साथ ही हमें बताता है कि कौनसा कार्य उचित है और कौनसा कार्य अनुचित है।
4. ऑडवे टीड का यह कथन कि "प्रशासन एक नैतिक कार्य है, अौर प्रशासक एक नैतिक अभिकर्त्ता " प्रशासन और नीति शास्त्र के बीच घनिष्ठ संबंध को व्यक्त करता है। वस्तुत प्रशासन द्वारा किया गया नीति सम्मत कार्य ही लोक प्रशासन है।
5. नैतिकता संबंधी नियम निम्न कारणों से आवश्यक है:

   1. सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए 2. प्रशासनिक कुशलता बनाए रखने के लिए 3. राजनीतिक तटस्थता बनाये रखने हेतु ।

   4. नैतिक आचरण के लिए 5. लोक सेवकों की मनमानी गतिविधियों पर अंकुश 6. जनहित का संरक्षण एवं प्रोत्साहन।
6. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 309 में राष्ट्रपति को लोक

सेवकों के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है। भारत में कार्मिकों हेतु मुख्य आचरण निम्न है : (अ) अखिल भारतीय सेवा आचरण नियम, 1954 (ब) केन्द्रीय सेवा आचरण नियम
1955 (स) रेलवे सेवा आचरण नियम, 1956

7. भारत में आचार संहिता संबंधी प्रमुख नियम निम्नलिखित है :
   1. निष्ठापूर्वक कर्तव्य पालन
   2. राजनीतिक तटस्थता
   3. सम्पति संबंधी नियम
   4. सार्वजानिक आलोचनाओं पर प्रतिबंध
   5 निजी व्यापार का निषेध
   6. सट्टेबाजी का निषध
   7. राजनीतिक चंदा देने एवं उपहार लेने क निषेध
   8. दहेज लेने एवं दूसरे विवाह का निषेध
   9. धर्मनिरपेक्ष आचरण
   10. बाल श्रम का निषेध
10. संक्षेप में प्रशासनिक नैतिकता के पतन के कारणों को हम निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत कर सकते है
   1. नैतिक मूल्यों का हास
   2. सामाजिक प्रतिष्ठा
   3. दण्ड का भय नही
   4. स्थापित हितों की मजबूती
   5. निर्वाचन में काला धन 6. लालफीताशाही
   7. आर्थिक असमानता और बढती हुई मंहगाई।
11. इस समस्या को ध्यान में रखते हुए भारत में निम्नलिखित समितियों का गठन किया गया है :
   1. रोलैण्ड की अध्यक्षता में बंगाल प्रशासन जॉच समिति (1944–45) 2. लोक प्रशासन पर ए.डी. गोरवाला की रिपोर्ट (1964) 3. आचार्य जे.बी.कृपलानी की अध्यक्षता में रेलवे भ्रष्टाचार जॉच समिति (1953–55)
   4. भ्रष्टाचार की रोकथाम पर संथानम् समिति (1964)
   5. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग का चतुर्थ प्रतिवेदन
12. प्रशासनिक – नैतिकता की स्थापना के लिए सुझाव
   1. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तनः
   2 चुनाव सुधार 3 नैतिक शिक्षा पर बल
   4 दण्डात्मक व्यवस्था की सुदृढता :
   5. लालफीताशही पर अंकुश 6. संरचनात्मक सुधार
13. नैतिकता की स्थापना हेतु सरकार द्वारा उठाए गए कदम–
   1. केन्द्रीय अर्न्वेषण ब्यूरो, 1963
   2. केन्द्रीय सतर्कता आयोग, 1964
   3. सूचना का अधिकार अधिनियम 2005
   4. लोक सेवा गारंटी अधिनियम, 2011
   5. सूचना प्रदाता संरक्षण अधिनियम 2011
   6. लोकपाल अधिनियम, 2014

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. नैतिकता का अध्ययन किस विषय के अन्तर्गत किया जाता है?
(अ) समाजशास्त्र (ब) नीतिशास्त्र
(स) लोक प्रशासन (द) दर्शन शास्त्र
2. ''सत्ता भ्रष्ट करती है,पूर्ण सत्ता पूर्ण भ्रष्ट करती है''। यह कथन किसका है ?
(अ) आर्डवे टीड का (ब) लॉर्ड एक्टन का
(स) महात्मा गॉधी का (द) ग्लेडन का
3. ''प्रशासन एक नैतिक कार्य है और प्रशासक एक नैतिक अभिकर्त्ता'' उक्त कथन किस विचारक का है ?
(अ) जवाहर लाल नेहरु (ब) आर्डवे टीड
(स) डेविड डेस्टन (द) इनमें से कोई नही
4. संथानम् समिति का संबंध है :
(अ) चुनाव सुधारों से (ब) भ्रष्टाचार से
(स) लोक सेवाओं से (द) पुलिस सुधार से
5. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद के तहत् राष्ट्रपति को लोक सेवकों के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है ।
(अ) अनु.309 (ब) अनु.310
(स) अनु.311 (द) अनु.312
6. सूचना का अधिकार अधिनियम भारत में लागू हुआ ।
(अ) 12 अक्टूबर 2007 को (ब) 12 अक्टूबर 2006 को
(स) 12 अक्टूबर 2004 को (द) 12 अक्टूबर 2003 को
7. लोकपाल विधेयक 2014 के मुख्य प्रावधान हैं –
(अ) अधिकतम आठ सदस्य होगें
(ब) सांसद् विधायक लोकपाल नही बन सकते
(स) चयन समिति का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा
(द) उपर्युक्त सभी
8. भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ रहे लोक सेवकों को कानूनी संरक्षण प्रदान करना उद्देश्य है ।
(अ) सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005
(ब) लोक सेवा गारंटी अधिनियम, 2011
(स) सूचना प्रदाता संरक्षण अधिनियम, 2011
(द) लोकपाल अधिनियम, 2014

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक नैतिकता से आप क्या समझते हैं ?
2. प्रशासनिक नीतिशास्त्र का क्या महत्व है ?
3. प्रशासनिक नैतिकता के विकास के लिए उत्तरदायी किन्ही दो कारणों का उल्लेख कीजिए ।
4 राजनीतिक तटस्थता का क्या अभिप्राय है ?
5. प्रशासनिक नैतिकता संबंधी आचार संहिता के कोई तीन प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।
6. केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त क्या है ?
7. चुनाव सुधार क्यों जरुरी है ?
8. काला धन क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. भारत में प्रचलित आचार–संहिता नियमों का उल्लेख कीजिए।
2. भारत में प्रशासनिक नैतिकता की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए।
3. संथानम् समिति की अनुशंसाऐं क्या हैं ?
4. लोकपाल विधेयक 2014 के मुख्य प्रावधान लिखिए।
5. सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 को स्पष्ट करें।
6. विमुदीकरण क्या है ? सरकार द्वारा उठाए गए इस कदम को स्पष्ट करें ?
7. सूचना प्रदाता संरक्षण अधिनियम से आप क्या समझते है ?
8. प्रशासनिक नैतिकता के पतन के लिए उत्तरदायी कारणों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

निबंधात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक नैतिकता की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए भारत में प्रचलित आचार संहिता के प्रमुख प्रावधानों का वर्णन कीजिए।
2. भारत में नैतिकता के पतन के लिए उत्तरदायी कारणों पर प्रकाश डालते हुए इसके समाधान के उपाय सुझाइए।
3. भारत सरकार द्वारा नैतिकता की स्थापना हेतु उठाए गए कदमों को स्पष्ट करें।
4. प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा प्रशासनिक नैतिकता की स्थापना हेतु दिए गए सुझावों को स्पष्ट करें।

उत्तरमाला :

1. (ब)	2. (ब)	3. (ब)
4. (ब)	5. (अ)	6. (अ)
7. (द)	8. (स)	

अध्याय – 28
प्रशासन में पारदर्शिता
(Transperancy in Administration)

इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुके विश्व, देश एंव प्रदेश के लिए लोकतंत्र, मानवाधिकार, सूचना का अधिकार ,पारदर्शिता, जवाबदेयता जैसे शब्द महज शब्द नहीं है। अपितु ये कुछ बुनियादी मूल्यों की स्थापना करते हैं। जो दुनिया के देशों की शासन व्यवस्थाओं के संचालन से तथा अंततः आम नागरिकों के कल्याण से जुड़े हुए हैं। भारत में लोकतंत्र में सुधार की आकांक्षा की प्रतिध्वनि प्रशासनिक पारदर्शिता के लिए संघर्ष में परिलक्षित होती है। भारतीय लोकतंत्र के विकास में बाधक चुनौतियों में एक गोपनीयता की संस्कृति भी है।

यह विडम्बना है कि आजादी मिलने के इतनें वर्षों के बाद भी स्वतंत्र भारत में लोक सेवा का औपनिवेशिक ढांचा आज भी कायम है। वस्तुतः राष्ट्र के निर्माण के लिए हमें ऐसे प्रशासनिक ढांचे की आवश्यकता थी , जो लक्ष्योन्मुखी, उत्तरदायी, नागरिक मित्र और संवेदनशील हो। किन्तु हमारे प्रशासनिक ढांचे में औपनिवेशिक काल की सेवा से विरासत में मिले दुर्गुणों को कायम रहने दिया गया। जनता से दूरी, जटिल नियमों से आबद्ध, जड, गोपनीयता और गतिहीनता के कारण इस मानसिकता नें लोकतांत्रिक मूल्यों को आगे बढनें से रोक दिया। अंग्रेजों द्धारा निर्मित 1923 का सरकारी गोपनीयता कानून ज्यों का त्यों प्रभावी बना रहा। ब्रिटिश उपनिवेशकालीन यह कानून गोपनीयता की आड में भ्रष्टाचार का सबसे बडा साधन बन गया। इसलिए पिछले दो दशकों में प्रशासन को उत्तरदायी और पारदर्शी बनाने की तीव्र माँग उठी।

1966 में संयुक्त राज्य अमेरिका का सूचना की स्वतंत्रता का अधिनियम मील का पत्थर था। जिसके बाद लगभग सभी लोकतांत्रिक देशों में इसकी मांग उठनें लगी। 90 के दशक में आर्थिक सुधारों और भ्रष्टाचार विरोधी मुहिमों नें प्रशासनिक पादर्शिता को चिन्तन का केन्द्रीय बिन्दु बना दिया।

प्रशासनिक पारदर्शिता : अर्थ

पारदर्शी प्रक्रिया की सोच यही है कि कथनी और करनी में अन्तर न हो। सभी कार्यो, प्रयासों, निर्णयों और रिकार्ड को लोग जानें। पारदर्शिता कोई मजबूरी नहीं अपितु लोकतंत्र की अनिवार्यता हैं। वस्तुतः निर्णय प्रक्रिया में पारदर्शिता, लोगों से जुडाव में सहायक होती है। निर्णय लेते समय एवं उसकी पालना करते समय यदि लोग उससे जुडते है तो लोकतंत्र जीवित रह पाता है।

प्रशासनिक पारदर्शिता से तात्पर्य है सरकार के कार्यकलापों के बारे में आम जनता को जानकारी की सुस्पष्टता एंव उपल्बधता। समान्यतः पारर्दशिता को जनता तक सूचना की पहुंच तक समझा जाता है, परन्तु यह सिर्फ सूचना की पहुंच तक सीमित नहीं है, वास्तविक अर्थ में यह उससे कहीं अधिक आगे है। यह लोकतंत्र का वह आधार सूत्र है जिसकी यह मान्यता है कि लोक का विवेक और ज्ञान शासन के तंत्र को कुशल बनाये रख सकता है। संसूचित नागरिक ही शासन व्यवस्था उत्तरदायी बना सकते हैं, साथ ही यह लोकतंत्र की सफलता का सबसे बडा पैमाना भी हैं क्योंकि लोकतंत्र की सफलता के लिए केवल नियतकालीन चुनाव ही पर्याप्त नहीं है, अपितु नियतकालीन चुनावों के अन्तराल मे भी नागरिकों की सक्रिय भागीदारी बनीं रहना आवश्यक है इस भागीदारी को बढ़ावा देने का सर्वाधिक सशक्त उपाय नागरिकों के मध्य सूचना का प्रवाह बनाये रखना है। जनता प्रमाणिक जानकारी तो ले ही सकती हैं,साथ ही उसे आसपास की समस्याओं से जुडनें का अवसर प्राप्त होता है। पुनः पारदर्शिता सुशासन से भी जुडी है सुशासन का मूल तात्पर्य ऐसे शासन से है जो सहभागी,पारदर्शी और जवाबदेह हों।

पारदर्शिता के विरोध में जो तर्क दिये जातें है उनके अनुसार हमनें जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था को अंगीकार किया हैं उसमें व्यवस्थाओं को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए प्रशासनिक स्तर पर गोपनीयता को समाप्त कर दिया गया तो पूरी प्रशासनिक मशीनरी ध्वस्त हो जायेगी । परन्तु यह तर्क निराधार है। गोपनीयता की आड में पनपने वाली निरकुशता से अराजकता फैलती हैं न कि पारदर्शिता से। वस्तुतः सूचना ऐसा विकल्प है जो हमारी विकृतियों को उजागर कर हमें उनके विरूद्ध संघर्ष करनें की प्रेरणा देता है। लेकिन वे समाज जहाँ नागरिक समाज (Civil Society) कमजोर है या नागरिक और मीडिया तंत्र भयभीत रहता हो वहाँ सूचना प्राप्त करनें के अवसर या तो बेकार चले जाते हैं या जोखिम भरे होते है। भारत में सूचना के अधिकार के अनेक सक्रिय कार्यकर्त्ताओं की हत्याऐं इसी का सूचक हैं। पारदर्शिता की अपनी सीमायें भी हैं।

1. कोई भी सरकार अपनें सामरिक और सुरक्षा संबधी निर्णयों को प्रकट नहीं कर सकती।
2. अतिशय पारदर्शिता सत्ता को कमजोर बना देती हैं। पुनः इससे इस बात का भी खतरा है कि निर्णय बिना दस्तावेज के, पीछे के रास्ते से लिये जायें जो और अधिक भ्रष्टाचार को जन्म देगा।
3. निजी मामलों में पारदर्शिता संभव नहीं है। ऐसा करनें पर निजता, सार्वजनिक विषय बन जायेगी जो कि निजी बदले कि भावना से उपयोग में लायी जा सकती है। इन सीमाओं के बावजूद भी पारदर्शिता अपनें आप में पवित्र साध्य है जो अपनें भीतर उत्तरदायित्व, जनभागीदारी, संवेदनशीलता के कई मूल्यों को समेटे हुए है। पारदर्शिता के लक्ष्य को प्राप्त करनें के लिए सरकार द्वारा प्रयोग में लाये जानें वाले प्रमुख साधन निम्नलिखित है :–

(1) नागरिक अधिकार पत्र
(2) सूचना का अधिकार

1. नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) :

विश्व भर में पिछले दो दशकों में प्रशासन को उत्तरदायी, पारदर्शी और जन–संवेदनशील बनानें की मांग तीव्रता से बढी हैं। नागरिक अधिकार पत्र इसका महत्वपूर्ण साधन हैं। वस्तुतः नौकरशाही मुख्यतः कुशलता, ज्ञान एंव विवेक पर आधारित प्रणाली है और इसके लिए इसे अनेकों संरक्षण एवं शक्तियां प्रदान की गई हैं पर इससे, इसमें शक्तियों के दुरूपयोग की संभावना बनी रहती है। इस दुरूपयोग को रोकनें के लिए प्रशासन में उत्तरदायित्व की व्यवस्था की जाती है और जनता के प्रति उत्तरदायित्व की अवधारणा को सुनिश्चित करनें का एक प्रमुख उपकरण नागरिक अधिकार पत्र है।

नागरिक अधिकार पत्र का सर्वप्रथम विकास इंगलैण्ड में जॉन मेजर के शासनकाल में 1991 में हुआ। इन नागरिक अधिकार पत्रों में प्रशासनिक कार्यालय या संगठन द्वारा उन नियमों, कानूनों, प्रक्रियाओं तथा अधिकारों का वर्णन किया जाता हैं जो जनता या उपभोक्ता के हितों के संवर्धन के लिए होते हैं।

भारत में भी नब्बे के दशक में नागरिक अधिकार पत्रों की मांग उठनें लगी थी। 1997 में मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन की 'नौ सूत्री कार्य योजना' में शामिल बिन्दुओं में नागरिकों के लिए अधिकार पत्र को मुख्य रूप से शामिल किया गया। इसके पश्चात् भारत सरकार के अनेक मंत्रालयों तथा संगठनों ने नागरिक अधिकार पत्र निर्मित किये तथा आम जनता हेतु उन्हें जारी किया।

अर्थ और विशेषताऐं :

सामान्य अर्थ में नागरिक अधिकार पत्र किसी संगठन द्वारा जनहित में जारी वह संक्षिप्त दस्तावेज हैं जिसमें प्रशासनिक पारदर्शिता, कार्यकुशलता, संवेदनशीलता इत्यादि लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संगठन की कार्य प्रणाली, कार्य की प्रक्रिया, सम्पादन की निर्धारित अवधि तथा उपभोक्ता या आमजन के अधिकारों सहित इनकी शिकायत निवारण की प्रणाली भी वर्णित कर दी जाती है। इसका मूल उद्देश्य जनता को प्रदान की जानें वाली सेवाओं में गुणवत्ता को प्रोत्साहित करना है।

वस्तुतः नागरिक अधिकार पत्र सस्था की तरफ से प्रकट की गई स्वैच्छिक प्रतिबद्धता है। यह एक तरफ प्रशासनिक संगठनों के कर्तव्यों को तो दुसरी तरफ जनता के अधिकारों कों दर्शाता है। उल्लेखनीय है कि इसकी कोई वैधानिकता नहीं होती, न ही यह सम्बन्धित संगठन पर कोई वैधानिक उत्तरदायित्व डालता है। इसके पीछे नैतिकता ही बाध्यकारी शक्ति है। अर्थात् किसी संस्था को इसके आधार पर न्यायालय में नही घसीटा जा सकता। अतः नागरिक अधिकार पत्र सिविल सेवा की जवाबदेही के नैतिक पहलू पर ही बल देता है।

नागरिक अधिकार पत्र की मुख्य विशेषताऐं इस प्रकार हैं।

(1) यह सुशासन की अवधारणा को मूर्त रूप प्रदान करनें का एक उपकरण है।
(2) इससे किसी भी प्रशासनिक संगठन की जवाबदेयता और प्रतिबद्धता का आभास होता है।
(3) यह एक नवीन अवधारणा है, जो किसी संगठन के कार्यो में पारदर्शिता, संवेदनशीलता और जनसंतुष्टि को लक्षित करती है।
(4) नागरिक अधिकार पत्र प्रायः दो–चार पृष्ठों के छोटे दस्तावेज होते है। जिन्हें कुछ समय में पढा जा सकता है।
(5) यह किसी संगठन की संरचना, कार्यविभाजन, उद्देश्य, कार्य की निर्धारित अवधि तथा जन शिकायत निवारण की प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है। स्पष्ट है कि नागरिक अधिकार पत्र प्रशासन के लोकतांत्रिक पहलू पर बल देते हैं। भारत सरकार के कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय के अर्न्तगत प्रशासनिक सुधार तथा जन शिकायतों के लिए पृथक विभाग हैं। प्रशासनिक सुधार और जन शिकायत विभाग के नाम से ज्ञात इसी प्रभार के अधीन नागरिक अधिकार पत्र है। पिछले डेढ दशक में भारत में केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के विभिन्न मंत्रालयों, विभागों, प्रशासनिक संगठनों, स्वायत्तशासी संस्थाओं तथा अन्य अभिकरणों द्वारा नागरिक अधिकार पत्र जारी किये गये हैं। इन नागरिक अधिकार पत्रों ने निम्न क्षेत्रों में अपनी भूमिका निभाई है।

(1) प्रशासन की छवि दुरूस्त करनें में :

लोक सेवाओं के खराब कार्य निष्पादन से जनता के बडे वर्ग में असंतोष उभरा है। दसवीं योजना आयोग पैनल, 2001 नें इस बात को स्वीकार किया है कि लगभग सभी राज्यों में नौकरशाही को भावशून्य, लोककल्याण का अनिच्छुक एवं भ्रष्ट समझा जाता है। अतः प्रशासन की छवि दुरूस्त करने के लिए, प्रशासन को सर्वसुलभ बनानें की दशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

(2) जवाबदेहिता सुनिश्चित करनें में :

लोकतंत्र की रक्षा करनें के लिए लोकसेवाओं का जवाबदेह संवेदनशील एंव पारदर्शी होना एक आवश्यक शर्त है। नागरिक अधिकार पत्र की शुरूआत प्रशासन की इसी जवाबदेहिता को सुनिश्चित करनें के लिए है।

(3) प्रशासन को पारदर्शी बनानें में :

नागरिक अधिकार पत्र में संगठन की कार्य प्रणाली, कार्य की प्रक्रिया, कार्य सम्पादन की अवधि, उपभोक्ता के अधिकारों से लेकर उनकी शिकायत निवारण प्रणाली तक वर्णित रहता है,जिससे पारदर्शिता सुनिश्चित होती है, और प्रशासन का जनता से सीधे संवाद बढता है।

(4) जन–सहभागिता सुनिश्चित करनें में :

नागरिक अधिकार पत्र प्रशासन का जवाबदेह एंव पारदर्शी बनाना सुनिश्चित करते है। जिससे जनता से संवाद बढता है और जन सहभागिता सुनिश्चित होती है।

समीक्षा :

भारत में अब तक 600 से अधिक चार्टर जारी किए जा चुके है।विभिन्न सेवाओं जैसे अस्पताल, बैक, बीमा आदि लोक उपयोगी क्षेत्रों के साथ–साथ केन्द्र सरकार के विभिन्न विभागों

जैसे प्रत्यक्ष कर बोर्ड, रेलवे, पैट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मंत्रालय, मानव संसाधन मंत्रालय आदि में इनकी शुरूआत की गई है। किंतु कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनको उपेक्षित किया गया है जहॉ कोई चार्टर नहीं है। और न ही शिकायत निस्तारण की कोई व्यवस्था है। विभिन्न चार्टरों में ऐसा कोई प्रावधान नही है, जो नागरिकों द्वारा असंतुष्ट होने पर जाने वाली कार्यवाही को स्पष्ट करता हो। **भारत में नागरिक अधिकार पत्र कि सफलता के मार्ग में निम्न व्यवहारिक सीमाऐं देखनें को मिलती हैं :**

(1) अधिकार पत्र में ऐसे विशिष्ट प्रावधानों का उल्लेख नही किया जाता जिनके आधार पर जनता अपनी शिकायत दर्ज करा सके ।

(2) सेवा वितरण के मापनीय मानदण्डों की आधिकार पत्र में कदाचित ही स्पष्ट रूप से व्याख्या मिलती है।

(3) द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग का कहना था कि –

– अधिकार पत्रों में मानकों को असंतोष जनक ढंग से परिभाषित किया जाता है। यह मूल्याकंन करना मुश्किल हो जाता है कि सेवाओं का वांछनीय स्तर प्राप्त हुआ है या नहीं।

– अधिकांश अधिकार पत्र अनावश्यक शब्दों का भण्डार हैं।

– आयोग के अनुसार,यदि अधिकार पत्रों में निर्धारित मानदण्डों के अनुसार नागरिक को सेवाऐं प्राप्त नहीं होती है। तो नागरिकों के लिए क्षतिपूर्ति मुआवजा प्राप्त करने हेतु कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है।

– अधिकार पत्रों को बनाते समय वरिष्ठ नागरिकों एंव दिव्यांगो की जरूरतों को ध्यान में नही रखा जाता।

– जनता में अधिकार पत्रों के लिए जागरूकता का अभाव है।

– अधिकार पत्रों में जो विश्वास दिलाये जाते है वो अस्पष्ट और अर्थहीन होते हैं।

– जब नागरिक अधिकार पत्र बनाये जाते है तो प्रभावित हितों जैसे जनता और गैर सरकारी सगठनों से विचार विमर्श नहीं किया जाता तथा इन नागरिक अधिकार पत्रों को समय–समय पर संशोधित नहीं किया जाता।

नागरिक अधिकार पत्रों को प्रभावी बनानें हेतु सुझाव :

1. अधिकार पत्र स्पष्ट एवं सार्थक होनें चाहिए। उनमें शब्द अधिक होने की बजाय सार्थकता होनी चाहिए।
2. यदि संगठन अधिकार पत्र में बताये गये मानदण्डों पर खरा न उतरे तो अधिकार पत्र में उसकी क्षतिपूर्ति का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
3. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार अधिकार पत्रों में अत्यधिक महत्वाकांक्षी एंव अव्यवहारिक सूची को शामिल करनें से अच्छा है कुछ वादे किये जायें जो पूरे किये जा सके ।
4. अधिकार पत्र को अन्तिम रूप देने से पहले प्रभावित होनें वाले हितों, जिसमें नागरिक समाज (Civil Society) भी शामिल है से विचार विमर्श किया जाना चाहिए।
5. परिणामों के लिए सम्बन्धित अधिकारियों को जिम्मेदार बनाना चाहिए।
6. अधिकार पत्रों की सफलता हेतु शिकायत निस्तारण मशीनरी को कारगर बनाना भी एक आवश्यक कदम है। अधिकतर मामलों में देखा गया है कि चार्टर उन अधिकारियों के नाम, पते व टेलिफोन नम्बरों का उल्लेख नही करते जिनसे उत्पीडन की दशा में जनता सम्पर्क कर सके। यदि ऐसा है भी तो अधिकारी अपनी सीट पर नहीं पाया जाता या टेलीफोन पर कोई जवाब नहीं मिलता।

इस तरह की कार्य संस्कृति में बदलाव की भारतीय प्रशासन को जरूरत है।

केन्द्र सरकार नें 2011 में नागरिक अधिकार पत्र को वैधानिक स्वरूप प्रदान कर अनिवार्य करनें के उद्देश्य से नागरिक अधिकार पत्र एंव नागरिकों की शिकायतों का निराकरण विधेयक, 2011 प्रस्तुत किया। इसका उद्देश्य नागरिकों का निर्दिष्ट वस्तुओं और सेवाओं को समयबद्ध रूप से उपलब्ध कराना था। इस विधेयक में प्रत्येक लोक अधिकारी के लिए,अधिनियम के छः महीने के भीतर, नागरिक अधिकार पत्र जारी करना अनिवार्य था और ऐसा नहीं करने पर उसके वेतन से 50000 रूपये दण्ड के तौर पर लगाये जाने और अनुशासनात्मक कार्यवाही करनें का प्रावधान था, यह विधेयक इस दिशा में बेहतरीन कदम साबित होता परन्तु 15 वीं लोकसभा भंग होनें के कारण यह विधेयक रद्द हो गया।

सूचना का अधिकार :

''यदि एक समाज लोकतांत्रिक व्यवस्था को पूर्ण मनोयोग के साथ स्वीकार करता है तो वहां के नागरिको को यह जानने का पूर्ण अधिकार है कि उनकी सरकार क्या कर रही है।'' सर्वोच्च न्यायालय का एस.पी.गुप्ता बनाम भारत संघ के मामले में यह कथन सूचना के अधिकार की लोकतात्रिंक व्यवस्था में आवश्यकता को रेखांकित करता है। न्यायालय नें यह भी माना कि संविधान के अनुच्छेद 19(1) में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में सूचना जानने एवं प्राप्त करने की स्वतंत्रता समाहित है।

वस्तुतः सूचना के अधिकार से पहले भारत में प्रशासनिक कार्यो कि जानकारी आम जनता को प्रायः नहीं दी जाती है।इस राह में सबसे बडी बाधा शासकीय गुप्त बात अधिनियम, 1923 रहा है जिसके अनुसार देश की एकता, अखंडता तथा संप्रभुता की रक्षा के लिए शासन की नीतियों या प्रक्रियाओं की जानकारी जनसाधारण से छुपाकर रखी जाती है। इसी की तरह भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 भी सूचना के अधिकार में बाधा था, जिसकी धारा 123 के अनुसार राज्य के कार्यकलापों की जानकारी प्रशासनिक तंत्र से बाहर उजागर करना या न करना विभागाध्यक्ष पर निर्भर था।

सन् 1991 के आर्थिक सुधारों के उपरान्त प्रशासन पर पारदर्शी और जवाबदेही होनें का दबाव बढने लगा। विभिन्न समाजसेवी संगठनों, समाज सेवकों, समाचार पत्रों, दूरसंचार माध्यमों के सामूहिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप इसे जन आन्दोलन का रूप दिया। संघीय स्तर पर सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 में पारित किया गया जो 12 अक्टूबर, 2005 को जम्मू–कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू हो गया।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 के मुख्य प्रावधान :

1. उद्देश्य :

यह अधिनियम लोक अधिकारीयों की कार्यप्रणाली में पारदर्शिता और जवाबदेयता लाने, लोक अधिकारियों से नियत्रित सूचना तक नागरिकों कि पहुँच सुनिश्चित करने, नागरिकों हेतु सूचना के अधिकार से व्यवहारिक सुशासन पद्धति स्थापित करने, एक केन्द्रीय सूचना आयोग तथा राज्य सूचना आयोगों का गठन करने और उनसे सम्बन्धित विषयों का उपबंध करने हेतु लाया गया हैं।

2. सूचना तथा सूचना का अधिकार :

अधिनियम कि धारा 2(एफ) में सूचना को परिभाषित करते हुये कहा गया कि किसी भी रूप में कोई सामग्री जिसमें दस्तावेज, रिकोर्ड, मीमों, ई–मेल, अभिमत, परामर्श, प्रेस रिलीज, परिपत्र आदेश, संविदा, रिपोर्ट तथा आंकड़े इत्यादि सम्मिलित है, सूचना की श्रेणी में आती है।

सूचना के अधिकार में शामिल हैं :

(अ) सामग्री का प्रमाणित नमूना (फोटोस्टेट प्रति) प्राप्त करना।

(ब) सी.डी , फॅलापी, टेप, विडियो कैसेट या अन्य इलेक्ट्रॉनिक स्वरूप में संग्रहित सामग्री प्राप्त करना।

3. लोक प्राधिकारियों हेतु बाध्यताऐं :

अधिनियम कि धारा – 4 में यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक लोक अधिकारी अपनें सभी रिकार्ड वर्गीकृत एंव व्यवस्थित ढंग से इस प्रकार संधारित करेगा ताकि सूचना के अधिकार को सहज बनाया जा सके। उपलब्ध संसाधनों के मद्देनजर यथा संभव शीघ्र ही ऐसी समस्त सूचनाऐं कम्प्यूटरीकृत की जाये तथा उन्हें इन्टरनेट पर भी उपलब्ध करवाया जाये।

अधिनियम यह भी प्रावधान करता है कि इस कानून के लागू होनें के 120 दिनों के अन्दर प्रत्येक लोक अधिकारी संगठन की सभी महत्वपूर्ण सूचनाऐं प्रकाशित करवायेगा, जिसमें निम्नलिखित सूचनाऐं शामिल हैः–

1. संगठन के कार्य,दायित्व एवं अन्य विवरण।
2. अधिकारियों एवं कर्मिकों की शक्तियां एवं दायित्व
3. पर्यवेक्षण और जवाबदेयता के सभी स्तरों सहित निर्णयन् की प्रक्रिया।
4. अपने द्वारा या अपने नियन्त्रण में या कार्य निष्पादन हेतु कार्मिको द्वारा काम में लिए जाने वाले नियम, विनिमय, निर्देश, मैन्युअल और रिकॉर्ड।
5. अपनें पास उपलब्ध या नियन्त्रणाधीन दस्तावेजों का वर्गीकरण करते हुऐ एक विवरण।

अधिनियम यह भी प्रावधान करता है कि लोक अधिकारी निम्नांकित बातों का ध्यान रखेंगे।

1. जनता को प्रभावित करनें वाली महत्वपूर्ण नीतियों का निर्माण करते समय निर्णयों की सूचना प्रकाशित करना
2. इस सम्बन्ध में प्रभावित व्यक्तियों को अपनें प्रशासनिक निर्णयों के कारण उपलब्ध करायेगा।

ऐसी समस्त सूचनाऐं व्यापक रूप से मीडिया एंव अन्य माध्यमों द्वारा प्रचारित–प्रसारित की जानी अपेक्षित है। चाहे वह समाचार पत्र हो,टेलीफोन, रेडियों या इन्टरनेट। इसकी अनुपालना करते हुए, विभिन्न मन्त्रालयों/विभागों द्वारा अपनी वेबसाइटों पर सूचना का अधिकार के तहत विस्तृत सूचनाऐं डाली गई है।

4. लोक सूचना अधिकारी :

अधिनियम की धारा 5 में प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक प्रशासनिक संगठन/ विभाग/ कार्यालय/इकाई अधिनियम लागू होने के सौ दिन के भीतर केन्द्रीय लोक सूचना अधिकारी या राज्य लोक सूचना अधिकारी को नामित करेगा जो लोगों द्वारा माँगे जाने पर सूचना उपलब्ध कराएगा। अधिनियम उप खण्ड या उप जिला स्तर पर केन्द्रीय सहायक लोक सूचना अधिकारी या राज्य सहायक लोक सूचना अधिकारी को नामित करने का प्रावधान भी करता है जो कि जनता से प्राप्त आवेदनों को यथास्थान अग्रेषित करेंगे।

5. सूचना प्राप्ति की विधि :

अधिनियम की धारा–6 के अनुसार किसी भी इच्छुक व्यक्ति को उस संगठन के लोक सूचना अधिकारी या यथास्थिति सहायक लोक सूचना अधिकारी को लिखित में या इलैक्ट्रोनिक युक्ति के माध्यम से अंग्रेजी या हिन्दी में या उस क्षेत्र की राजभाषा में, ऐसी फीस के साथ जो कि विहित की जाए आवेदन प्रस्तुत करना चाहिए। सूचना का अनुरोध करने वाले आवेदक से सूचना का अनुरोध करने के लिए किसी कारण या किसी अन्य व्यक्तिगत ब्यौरे के, सिवाय उसके जो उससे सम्पर्क करने के लिए आवश्यक हो, देने की अपेक्षा नहीं की जाएगी।

6. समयावधि : यदि आवेदन लोक सूचना अधिकारी को प्रस्तुत किया गया है तो 30 दिन एवं लोक सहायक लोक सूचना अधिकारी को प्रस्तुत की गई है तो 35 दिन से अधिक समय सूचना देने में नहीं लगाया जाएगा। यदि मांगी गई सूचनाऐं व्यक्ति की जिन्दगी और स्वतंत्रता पर प्रभाव डालती हैं तो सूचना, आवेदन प्राप्ति के 48 घण्टे के भीतर उपलब्ध करायी जायेगी। यदि सूचना तृतीय पक्ष से सम्बन्धित है तो 40 दिन से अधिक समय नहीं लगाया जाएगा। अधिनियम यह प्रावधान करता है कि यदि तृतीय पक्ष की सूचना गोपनीय प्रकृति की है तो लोक सूचना अधिकारी तृतीय पक्ष को आवेदन प्राप्ति के 5 दिन के भीतर सूचना प्रकटन की संसूचना देगा। तृतीय पक्ष द्वारा लिखित या मौखिक रूप से प्राप्त उत्तर को रिकार्ड में रखते हुए लोक सूचना अधिकारी अपने निर्णय में उसे काम में लेगा।

विनिर्दिष्ट शुल्क : सूचना प्राप्ति के लिए केन्द्र सरकार ने निम्न प्रकार से शुल्क निर्धारित किया है :

1. सूचना के आवेदन के लिए रूपये 10
2. सूचना प्राप्ति में होने वाले खर्च के लिए दो रूपये प्रति पृष्ठ (फोटोस्टेट प्रति हेतु।)
3. दस्तावेजों के निरीक्षण के लिए प्रथम घण्टे के लिए कोई फीस नहीं और उसके पश्चात् प्रत्येक 15 मिनट या उसके भाग के लिए 5 रूपये की फीस।
4. डिस्क या फ्लॉपी में दी गई सूचना के लिए प्रति डिस्क या फ्लॉपी 50 रूपये ।

गरीबी रेखा से नीचे के व्यक्ति से शुल्क नहीं लिया

जाता है परन्तु इस प्रकार के व्यक्ति को तत्संबंधी प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना होता है।

7. न दी जाने वाली सूचनाएँ : सूचनाओं के कुछ संवर्ग ऐसे हैं जिनसे संबंधी सूचनाऐं नही दी जा सकती है। धारा 8(1) के अन्तर्गत इस प्रकार की छूट का उल्लेख किया गया है। ये सूचनाऐं निम्नाकिंत प्रकृति की है।

1. सूचना जिसके प्रकटन से भारत की प्रभुता और अखण्डता राज्य की सुरक्षा, रणनीति वैज्ञानिक या आर्थिक हित, वैदेशिक सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है या किसी अपराध का उद्दीपन होता है।
2. सूचना जिसके प्रकटन से संसद या किसी राज्य विधायिका के विशेषाधिकारों का हनन होता है।
3. सूचना जिसके प्रकटन को किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा अभिव्यक्त रूप से निषिद्व किया हुआ है या जिससे प्रकटन से न्यायालय की अवमानना होती है।
4. सूचना, जिसके प्रकटन से तृतीय पक्ष की प्रतियोगी स्थिति को हानि पहुँचती है, जिसमें वाणिज्यिक, विश्वास, व्यापार, गोपनीयता या बौद्धिक सम्पदा सम्मिलित है।
5. किसी व्यक्ति को उसकी वैश्वासिक नातेदारी में उपलब्ध सूचना, यदि सक्षम अधिकारी संतुष्ट है कि सूचना प्रकटन में व्यापक जनहित सम्मिलित है तो ऐसी सूचना भी प्रकट की जा सकेगी।
6. किसी विदेशी सरकार से विश्वास में प्राप्त सूचना ।
7. सूचना, जिसके प्रकटन से किसी व्यक्ति के जीवन या शारीरिक सुरक्षा को खतरा हो अथवा जो कानून के प्रर्वतन के लिए अथवा सुरक्षा प्रयोजन के लिए दी गई सूचना के स्त्रोत की पहचान कराए।
8. सूचना, जिसके प्रकटन से अन्वेषण या अपराधियों को गिरफ्तार करने या अभियोजन की प्रक्रिया करने या अभियोजन की प्रक्रिया में अड़चन पड़ेगी।
9. मंत्रीमण्डल के कागज पत्र जिसमें मंत्री परिषद् , सचिव तथा अन्य अधिकारियों के विचार विमर्श के अभिलेख सम्मिलित है।

परन्तु यह, कि मंत्री परिषद् के विनिश्चय, उनके कारण तथा वह सामग्री जिसके आधार पर विनिश्चय किये गये थे,विनिश्चय किये जानें और विषय के पूरा या समाप्त होनें के पश्चात् जनता को उपलब्ध करायें जायेंगे । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे विषय जो धारा 8 के अर्न्तगत है अर्थात् जो विनिर्दिष्ट छूटों के अर्न्तगत है, प्रकट नहीं किये जायेंगे।

10. सूचना जो व्यक्तिगत है तथा जिसके प्रकट करनें में कोई जन गतिविधि या हित सम्बन्धित नहीं है या जिससे किसी व्यक्ति की एकान्तता या निजता का अनावश्यक अतिक्रमण होता है। (यदि लोक सूचना अधिकारी या अपील अधिकारी को सन्तुष्टि हो जाये कि ऐसी सूचना में व्यापक जनहित समाहित है तो सूचना प्रकट की जा सकेगी।)

परन्तु ऐसी सूचना के लिए,जिसको यथा स्थिति,संसद या किसी विधानमण्डल को देने से इनकार नही किया जा सकता है,किसी व्यक्ति को इनकार नहीं किया जा सकेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि शासकीय गुप्त बात अधिनियम, 1923 के प्रावधान सूचना देनें में आडे नहीं आयेगे साथ ही लोकप्राधिकारी को यह शक्ति दी गई है कि यदि उसे सूचना देनें की हानियों से अधिक महत्वपूर्ण जनहित लगे तो धारा 8 की विर्निदिष्ट छूटों वाली सूचनाऐं भी दी जा सकती है।

अधिनियम की धारा 24 के अर्न्तगत केन्द्र सरकार के ऐसे 22 संगठनों की सूची है जो सूचना के अधिकार के अर्न्तगत नही आते है। जिसमें रक्षा, अनुसंधान, अपराधों की जाँच से जुड़े संस्थान इत्यादि सम्मिलित है जैसे : प्रवर्तन निर्देशालय, सीमा सुरक्षा बल, असम राइफल्स, रक्षा अनुसंधान एंव विकास संगठन इत्यादि।

परन्तु इन संगठनों से भ्रष्टाचार और मानवाधिकार के हनन सम्बधी सूचनाऐं मांगी जा सकती है।

अपील व्यवस्था :

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 के अर्न्तगत यदि सूचना 30 दिन में उपलब्ध न कराई जाये, सूचना अपूर्ण हो, बिना किसी विधिक आधार पर आवेदन अस्वीकृत कर दिया गया हो इत्यदि कारणों से व्यक्ति असंतुष्ट हो तो आवेदक को अपील करनें का अधिकार प्राप्त है। पारित निर्णय के विरूद्ध प्रथम अपील अधिकारी के यहॉ तथा प्रथम अपील के निर्णय के विरूद्ध द्वितीय अपील सूचना आयोग के समक्ष 90 दिन में की जा सकती है। अपील अधिकारी द्वारा अपील प्राप्ति तिथि से 30 दिन की समयावधि में अपील का निस्तारण किया जायेगा। यदि निष्पादन में अधिक समय लगनें की संभावना है तो अधिकतम 45 दिन में अपील का निष्पादन किया जायेगा एंव अपील अधिकारी द्वारा ऐसे विलम्ब का कारण लिखित में दर्शाना होगा।

केन्द्रीय सूचना आयोग :

केन्द्रीय सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 की धारा'12 में केन्द्रीय सूचना आयोग का गठन धारा –13 में सूचना आयुक्त कि पदावधि एंव सेवाशर्तों तथा धारा–14 में उन्हें पद से हटाने सम्बन्धी प्रावधान किए गए हैं।

केन्द्रीय सूचना आयोग में एक अध्यक्ष अर्थात् मुख्य सूचना आयुक्त तथा अधिकतम 10 केन्द्रीय सूचना आयुक्तों का प्रावधान है। जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। यह नियुक्ति एक समीति की अनुशंसा पर की जाती है। जिसमें निम्न सदस्य होते है :

1. प्रधानमंत्री –अध्यक्ष
2. लोकसभा में विपक्ष का नेता–सदस्य
3. प्रधानमंत्री द्वारा मनोनीत एक संघीय कैबिनेट मंत्री–सदस्य

मुख्य सूचना आयुक्त एंव अन्य सूचना आयुक्त 65 वर्ष की आयु या 5 वर्ष के कार्यकाल तक, जो भी पहले हो पदासीन होते है। इन्हें दोबारा नियुक्ति नहीं मिल सकती। सूचना आयुक्तों को मुख्य सूचना आयुक्त बनाया जा सकता है। किन्तु उनके दोनों पदों की कुल पदावधि 5 वर्ष से अधिक नही हो सकती। मुख्य सूचना आयुक्त एंव अन्य आयुक्तों को पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति के समक्ष शपथ लेते हैं तथा ये किसी भी समय राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकते हैं। राष्ट्रपति के आदेश द्वारा सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर इन्हे उनके पद से तभी हटाया जा सकेगा जब उच्चतम न्यायलय राष्ट्रपति के निर्देश पर जॉच कर यह रिपोर्ट दे कि इन्हें इस

आधार पर हटाया जाना चाहिए। आयोग का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में है।

राज्य सूचना आयोग :

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 की धारा 15 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य सरकार राज पत्र में अधिसूचना द्वारा राज्य सूचना आयोगों का गठन करेगी जो कि एक राज्य मुख्य सूचना आयुक्त तथा 10 अधिकतम राज्य सूचना आयुक्तो से मिलकर बनेगा जिनकी नियुक्ति मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में गठित एक समिति द्वारा की जाती है। इनकी पदावधि 65 वर्ष या 5 वर्ष जो भी पहलें हो,वह है ये शपथ राज्यपाल के समक्ष लेते हैं और त्यागपत्र भी राज्यपाल को सौपतें है। राज्यपाल द्वारा, सिद्ध कदाचार एंव असमर्थता के आधार पर उच्चतम न्यायालय की जाँच में सही पाए जानें पर इन्हें पद से हटाया जा सकता है।

सूचना आयोग की शक्तियाँ एंव कृत्य :

अधिनियम की धारा 18–20 तक निम्नाकित शक्तियाँ एंव कृत्य केन्द्रीय सूचना आयोग और राज्य सूचना आयोग को सौपे गये है।

अधिनियम के उपबन्धों के अधीन रहते हुए आयोग निम्नलिखित किसी ऐसे व्यक्ति की शिकायत प्राप्त करे और उसकी जॉच करे :

1. यदि वह लोक सूचना अधिकारी को आवेदन प्रस्तुत करनें में इसलिए असमर्थ रहा है कि ऐसे अधिकारी की नियुक्ति नही हुई है। या सहायक लोकसूचना अधिकारी नें आवेदन या अपील को अग्रेषित करनें से इनकार किया है। 2. जिसे इस अधिनियम के अधीन मांगी गई सूचना तक पहुच से इनकार किया गया है।
3. यदि निर्धारित समय सीमा में उसे सूचना प्राप्त नहीं हो।
4. यदि उसनें अनुचित फीस की राशि अदा की हो।
5. यदि उसे विश्वास है कि उसे अपूर्ण,भ्रम में डालनें वाली या मिथ्या सूचना दी गई है।

आयोग को किसी वाद का विचारण करते समय दीवानी न्यायालय की शक्तियॉ प्राप्त होंगी।

शक्तियां :

आधिनियम की धारा 20 शास्तियों के सम्बन्ध में है। आयोग की राय में यदि लोक सूचना अधिकारी द्वारा बिना युक्तियुक्त कारण के आवेदन लेनें से इन्कार किया हो या निर्धारित समय में सूचना नहीं दी अथवा अपूर्ण या गलत दी हो या सूचना नष्ट कर दी हो तो सूचना देनें के दिन से 250 रूपये प्रतिदिन, जो अधिकतम 25000 रूपये तक हो,शास्ति अधिरोपित की जा सकेगी।

सूचना के अधिकार का लाभ :

1. यह सुशासन की तरफ एक महत्वपूर्ण कदम है।वस्तुतः नागरिक मित्र (CItizen Friendly), पारदर्शी और संवेदनशील प्रशासन ही सुशासन है।,जिसमें सूचना का अधिकार महती भूमिका अदा करता है।
2. सूचना के निरन्तर प्रवाह से अनियमित्ताओं तथा भ्रष्टाचार में कमी आती है। लालफीताशाही, श्रेष्ठ सेवा का अभाव, पाारदर्शिता की कमी से भ्रष्टाचार फलता–फूलता है।सूचना के अधिकार से विभिन्न दस्तावेजों की जॉच एंव उनकी प्रति प्राप्त करनें के कानूनी अधिकार से भ्रष्टाचार करने वालो के लिए यह खतरा पहले की अपेक्षा कही अधिक बढ जाता है।यह भय स्वतः नियन्त्रण का कार्य करता है।
3. इससे गतिशील एंव सक्षम पंचायती राज की स्थापना संभव हो सकेगी। इससे अपनें गांव के विकास के कार्य को महज सरकारी कार्य माननें की मानसिकता में बदलाव आयेगा। ग्रामीण विकास के कार्यो में जन सहयोग पंचायतीराज संस्थाओं को स्वावलम्बी, कार्यकुशल, क्षमतावान बनाये रखनें में सूचना का अधिकार अनिवार्य है।
4. इससे जनता को बेहतर प्रशासनिक सेवाऐं मिलती है।

परन्तु प्रशासन को पवित्र एंव दक्ष बनानें वाली यह प्रणाली दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं है।

1. इससे लोक सेवकों की पहल क्षमता पर आघात पहुँच सकता है।
2. इसका दुरूपयोग व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए किया जा सकता है।
3. प्रशासन में नियमों और प्रक्रियाओं के प्रति कठोरता बढ सकती है।
4. लोक सेवकों में जिममेदारी से भागनें एंव निर्णय दूसरों पर टालनें की प्रवृति बढ सकती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अन्य बातों के साथ–साथ ई–शासन ने भी पारदर्शी प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। प्रशासन से सम्बन्धित कामकाज में सूचना तकनीक के इस्तेमाल नें प्रशासन को जवाबदेही, पारदर्शी, सरल और जनता कि आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाला बनाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। रेल आरक्षण व्यवस्था इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, जो अब सूचना प्रौधोगिकी के सहयोग से जनसहयोगी और एक हद तक पारदर्शी हो गयी है।

सूचना का अधिकार रूढ़िवादी प्रशासनिक संस्कृति के स्थान पर लोकतांत्रिक प्रशासनिक संस्कृति का उद्घोष है। यह इस तथ्य की स्वीकारोति है, कि अब जनहित में सुधार करने का वक्त आ गया है। सूचना के अधिकार की प्रभावी निष्पति तथा उसके बेहतर परिणामों के लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग लम्बा जरूर है, किन्तु इसकी सफलता असंदिग्ध है।

महत्वपूर्ण बिन्दु :

1. इक्कीस वीं सदी में प्रवेश कर चुके विश्व के लिए लोकतंत्र, मानवाधिकार, पारदर्शिता, जवाबदेयता इत्यादि बुनियादी मूल्य है।
2.1966 में बना संयुक्त राज्य अमेरिका का सूचना का स्वतंत्रता अधिनियम,पारदर्शिता की दिशा में मील का पत्थर था।
3. प्रशासनिक पारदर्शिता का तात्पर्य है सरकार के कार्यकलापों के बारे में आम जनता को जानकारी की सुस्पष्टता एंव उपलब्धता।
4. पारदर्शिता अपनें भीतर अनेंक मूल्यों को समेटे है। यह लोक तंत्र को मजबूत करती है। उत्तरदायी प्रशासन को स्थापित करती है। यह सुशासन बनाये रखनें में महत्वपूर्ण घटक है तथा यह भ्रष्टाचार को पनपनें से रोकती है।
5. पारदर्शिता की सीमाऐं : 1. सामरिक एंव सुरक्षा संबधी निर्णय प्रकट करना संभव नहीं। 2. अतिश्य पारदर्शिता सत्ता को कमजोर बना देती है। 3. निजता का हनन संभव।
6. पारदर्शिता के दो मुख्य साधन नागरिक अधिकार पत्र एवं सूचना का अधिकार हैं।
7. नागरिक अधिकार पत्र संगठन द्वारा जनहित में जारी दस्तावेज है। जिसमें संगठन की कार्यप्रणाली,कार्य की प्रक्रिया,कार्य निष्पादन की निर्धारित अवधि के साथ जन शिकायत निवारण प्रणाली का उल्लेख होता है।
8. नागरिक अधिकार पत्र की भूमिका 1. प्रशासन की छवि दुरूस्त करनें में 2. जवाबदेहिता सुनिश्चित करनें में। 3. प्रशासन को पारदर्शी बनानें में। 4. जन सहभागिता सुनिश्चित करानें में प्रमुख है।
9. नागरिक अधिकार पत्रों की सीमाऐं : 1. विशिष्ट प्रावधानों का उल्लेख नहीं जिनके आधार पर जनता अपनी शिकायत कर सके। 2. सेवा का असंतोषजनक ढंग से परिभाषित किया जाना। 3. अनावश्यक शब्दों का भण्डार है। 4. जनता में जागरूकता का अभाव है। 5. नागरिक अधिकार पत्रों में वरिष्ठ नागरिकों एंव दिव्यांगों की जरूरतों को ध्यान में नही रखा जाता। 6. समय–समय पर आवश्यकता अनुसार संशोधन नहीं किये जाते।
10. सुझाव : 1. अधिकार पत्र स्पष्ट एंव सार्थक होनें चाहिए। 2. महत्वाकांक्षी वादों की बजाय पूरे होनें योग्य वादे किये जाये। 3. अधिकार पत्र बनानें से पूर्व प्रभावित हितों से विचार–विमर्श किया जाना चाहिए।
11. 12 अक्टूबर 2005 को जम्मू–कशमीर को छोडकर संपूर्ण भारत में सूचना का अधिकार अधिकार लागू हुआ।
12. सूचना के अधिकार के लाभ : 1. सुशासन में सहायक 2. भ्रष्टाचार में कमीं 3. पंचायती राज संस्थाओं का बल 4. लोक सेवकों की मनमानी पर रोक 5. जनता को बेहतर प्रशासनिक तंत्र एंव सेवाओं की उपलब्धता ।
13. सूचना के अधिकार के दोष : 1. लोक सेवकों की पहल क्षमता पर आघात पहुॅच सकता है। 2. इसका दुरूपयोग व्यक्तिगत स्वार्थो के लिए किया जा सकता है। 3. प्रशासन में नियमों व प्रक्रियाओं के प्रति कठोरता बढ सकती है। 4. लोक सेवकों में निर्णय दूसरों पर टालनें की प्रवृति बढ सकती हैं । 5. पीत पत्रकारिता एंव ब्लैकमेलिंग जैसी प्रवृतियों को बढावा मिलता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. 'सरकार के कार्यकलापों के बारे में आम जनता को जानकारी की सुस्पष्टता एंव उपलब्धता प्रक्रिया' का सम्बन्ध है।
(अ) प्रशासनिक पारदर्शिता से (ब) पदसोपाान से
(स) नियंत्रण की एकता से (द) तटस्थता से
2. पारदर्शिता में समाहित मूल्य है ।
(अ) भ्रष्टाचार रोकनें में सहायक
(ब) उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना में सहायक
(स) सुशासन स्थापना में सहायक
(द) उपर्युक्त सभी
3. पारदर्शिता के उपकरण है ।
(अ) सूचना का अधिकार
(ब) नागरिक अधिकार पत्र
(स) ई–शासन
(द) उपर्युक्त सभी
4. नागरिक अधिकार पत्र की शुरूआत हुई ।
(अ) फ्रांस से (ब) इंग्लैण्ड से
(स) जर्मनी से (द) भारत से
5. भारत में सूचना का अधिकार अधिनियम कब लागू हुआ ।
(अ) 12 सितम्बर,2005 को (ब) 12 अक्टूबर,2005 को
(स) 12 नवम्बर,2005 को (द) कोई नहीं

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. पारदर्शिता से आप क्या समझतें है ?
2. सूचना क्या है ?
3. नागरिक अधिकार पत्र को स्पष्ट करो ?
4. सूचना का अधिकार के कोई दो लाभ बताइये ?
5. पारदर्शिता की दो सीमाऐं बताइयें ?
6. सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. "नागरिक अधिकार पत्र, पारदर्शिता के वाहक है ।" कैसे?
2. नागरिक अधिकार पत्रों की भूमिका को स्पष्ट करें।
3. सूचना का अधिकार से आप क्या समझतें है ?
4. सूचना का अधिकार अधिनियम की अपील व्यवस्थाओं को स्पष्ट करें ?
5. सूचना आयोग की शक्तियाँ व कृत्य बताइये ?

निबन्धात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक पारदर्शिता पर एक लेख लिखिए ?
2. नागरिक अधिकार पत्र क्या है ? इन्हें और प्रभावी कैसे बनाया जा सकता है ?
3. सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 पर एक लेख लिखिए ?

उत्तरमाला :

(1) अ (2) द (3) द
(4) ब (5) ब

इकाई – 10 प्रशासनिक सुधार एवं नवाचार

अध्याय–29
प्रशासनिक सुधार
(Administrative Reforms)

प्रशासनिक सुधार प्रशासनिक दक्षता की पूर्वापेक्षा है। वस्तुतः कोई भी प्रशासन, जड़ता में काम नही करता। प्रशासन को निरन्तर बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश में क्रियाशील रहना पडता है। बदलते परिवेश में प्रशासन क्षमतापूर्वक, दक्षता से अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि चुनौतियों की समुचित प्रतिक्रिया हेतु आवश्यक सुधार किए जाऐं।

यद्यपि अठारहवीं शताब्दी से ही सुनियोजित प्रशासनिक सुधार प्रारभ हो गए थे, परन्तु ये प्रयास निजी थे। सरकारी क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी से प्रशासनिक सुधार हेतु प्रयास किए जाने लगे। प्रारम्भ में प्रशासनिक सुधारों को सकीर्ण अर्थो में सिर्फ संरचनात्मक सुधार तक सीमित माना गया, परन्तु यह प्रकिया अत्यन्त व्यापक है जिसमें संरचना प्रकिया एव व्यवहार तीनो में अपेक्षित परिवर्तन शामिल है।

अर्थ एव परिभाषा : प्रशासन एक सतत् प्रकिया है इस अर्थ में सुधारोन्मुख प्रक्रिया भी है। प्रशासनिक सुधार जानबूझकर एव सुविचारित रुप से की गई प्रकिया है जिसमें प्रशासनिक दक्षता एवं गुणवता में वृद्धि हेतु सुनियोजित परिवर्तन किए जाते है। ताकि वह निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

मौण्टगोमरी के अनुसार – ''प्रशासनिक सुधार से तात्पर्य है लोक सेवा के व्यवहार में परिवर्तन लाना।''

लीमेन्स के अनुसार – ''प्रशासनिक सुधार प्रशासनिक मशीनरी में उत्प्रेरित परिवर्तन लाने की प्रकिया है। ''

गेराल्ड काइडेन के अनुसार – ''सुधार इस सहज विचार पर आधारित है कि मनुष्य को, स्वाभाविक रुप से परिवर्तन हो इसका इंतजार करने की बजाय वैश्विक व्यवस्था में सुधार हेतु इसे कृत्रिम तरीकों से गति देनी चाहिए''।

भारत में प्रशासनिक सुधार के प्रयास :

किसी भी शासन व्यवस्था की प्रशासनिक मशीनरी में सुधार की आवश्यकता को विश्व भर में स्वीकार किया गया है। भारत में भी प्रशासनिक सुधारों का लम्बा इतिहास रहा है। यद्यपि भारत में स्वतंत्रता पूर्व ही प्रशासनिक सुधार प्रारभ हो गए थे, परन्तु ब्रिटिश काल के दौरान प्रशासन का प्रारभिक उद्देश्य साम्राज्यवाद को बढावा देना था अतः सुधारों का मन्तव्य भी यही बना रहा।

स्वतंत्रता के पश्चात् लोककल्याणकारी राज्य के रुप में सरकार के उत्तरदायित्व में आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय भी शामिल हो गया। फलतः प्रशासनिक संस्थाओ के ढाँचे, कार्यशैली प्रकियाओं में व्यापक बदलाव किए गए है। अतः भारत में प्रशासनिक सुधार की दृष्टि से किए गए प्रयासों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम : स्वतंत्रता पूर्व प्रशासनिक सुधार

द्वितीय : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रशासनिक सुधार

इनका सार विवरण निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है :

भारत में प्रशासनिक सुधार

- स्वतंत्रता पूर्व सुधार
  - ऐचिसन आयोग (1886)
  - इंस्लिगटन (1912)
  - ली आयोग (1923)
  - टाटनहम समिति (1946)
- स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सुधार
  - **उदारीकरण से पूर्व (1991 से पहले)**
    - **सचिवालय पुर्नगठन समिति , 1947**
    - **मितव्ययता समिति , 1948**
    - **एन. गोपालास्वामी आयंगर समिति, 1949**
    - **ए. डी. गोरवाला रिपोर्ट, 1951**
    - **पॉल एच. एप्लबी प्रतिवेदन, 1953 एवं 1956**
    - **कृष्णामाचारी समिति, 1962**
    - **के. सन्थानम समिति, 1964**
    - **प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966**
    - **सरकारिया आयोग, 1983**
  - **उदारीकरण के पश्चात् (1991 के बाद)**
    - **कर सुधार समिति, 1991**
    - **पाँचवा वेतन आयोग, 1994**
    - **व्यय सुधार आयोग, 2001**
    - **द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, 2006**
    - **छठा वेतन आयोग, 2006**
    - **सांतवा वेतन आयोग, 2014–15**

1. स्वतंत्रता पूर्व प्रशासनिक सुधार :

यद्यपि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार की प्रकिया प्राचीन काल से अनवरत चल रही है, तथापि एक व्यवस्थित सुधारों की श्रृंखला ब्रिटिश काल से दिखाई पडती है। ब्रिटिशकाल में ऐचिसन आयोग (1886), इस्लिगटन आयोग (1912), ली आयोग (1923), भारत सरकार सचिवालय प्रकिया समिति (1919), टाटनहम समिति (1945–46) आदि आयोगों एव समितियो की नियुक्ति की गई।

ऐचीसन आयोग ने कि कॉवेनैन्टेड और नॉन कॉवेनैन्टड सेवाओं का अन्तर समाप्त कर सामान्य सेवा को तीन श्रेणियों में विभक्त करने की सलाह दी । (I) भारतीय नागरिक सेवा (II) प्रान्तीय सेवा (III) अधीनस्थ सेवा ।

इंस्लिगटन आयोग 'ने लोक सेवाओ की भर्ती एवं नियुक्ति के भारतीयकरण करने की मांग की।

ली आयोग, उच्च लोक सेवा विषयक शाही आयोग था। आयोग ने लोक सेवाओ के लिए लोक सेवा आयोग की स्थापना का सुझाव दिया। द्वितीय विश्वयुद्व के पश्चात् भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में युद्वोत्तर पुर्ननिर्माण कार्यक्रमों एवं प्रशासनिक सुधार हेतु **टाटनहम समिति** का गठन किया किन्तु विभाजन के कारण समिति के प्रतिवेदन पर आवश्यक कार्यवाही नही हो सकी।

2. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रशासनिक सुधार :

स्वतंत्रता के पश्चात् जनता की अपेक्षाओं पर खरा उतरने के लिए,प्रशासनिक सुधारों की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की गई। स्वतंत्र भारत में इस दिशा में किए गए प्रमुख प्रयास निम्नलिखित है।

(1) सचिवालय पुनर्गठन समिति अथवा वाजपेयी समिति, 1947: विभाजन के कारण सचिवालय में लोकसेवा के अधिकारियों की कमी की समस्या के समाधान के उपायों पर विचार करने के लिए 1947 में गिरिजा शंकर वाजपेयी की अध्यक्षता में ''सचिवालय पुनर्गठन समिति'' का गठन किया गया। समिति ने सचिवालय में प्रकियात्मक सुधार एवं उपलब्ध अधिकारियों की सेवाओं का अधिकतम उपयोग करने के तरीको की सिफारिश की।

(2) मितव्ययता समिति,1948 : चालीस के दशक में बढते हुए असैनिक व्यय को नियंत्रित करने हेतु देश के प्रमुख उद्योगपति कस्तूरभाई लालभाई कि अध्यक्षता में मितव्ययता समिति का गठन किया गया। समिति ने प्रशासन में मितव्ययता लाने एवं अनावश्यक खर्चो को नियंत्रित करने हेतु सुझाव दिए। समिति के सुझाव पर अनेक मंत्रालयों में मितव्ययता समितियॉ गठित की गई।

(3) एन.गोपालास्वामी आंयगर समिति, 1949 : सन् 1949 में भारत सरकार ने तत्कालीन केन्द्रीय मत्री श्री एन.गोपालस्वामी आयगर की अध्यक्षता में एक सदस्यीय आयोग का गठन किया। श्री आयगर ने सरकारी तंत्र के पुनर्गठन पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए ओ.एण्ड एम. (O & M Units) की स्थापना करने तथा केन्द्रीय मंत्रालयो को चार ब्यूरो में पुनर्गठित करने का सुझाव दिया किन्तु सरकार ने सिफारिशो को स्वीकार नही किया।

(4) ए. डी. गोरवाला रिपोर्ट, 1951 : 1950 में योजना आयोग की स्थापना के पश्चात नियोजित विकास के लिए प्रशासनिक तंत्र की उपयुक्तता की जॉच करने के लिए अवकाश प्राप्त सिविल अधिकारी ए.डी.गोरवाला की अध्यक्षता में 1951 में एक समिति का गठन किया गया। समिति ने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किए ।

प्रथम : 'लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन' जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए :

(क) ओ. एण्ड एम. इकाई की स्थापना ;
(ख) लोक सेवकों की दक्षता एवं अनुशासन पर बल ;
(ग) मंत्री–लोक सेवकों के मध्य मधुर संबंध आवश्यक ;
(घ) व्हिटले परिषदों की स्थापना ;
(ड) भर्ती पद्वति में सुधार पर बल ;
(च) आई. ए. एस. प्रशिक्षण को व्यवस्थित करने पर ;

द्वितीय : 'सरकारी उद्यमों के दक्ष आचरण' पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लोक उपक्रमें के सफल संचालन संबधी अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिए।

(5) पॉल. एच. एपल्बी प्रतिवेदन, 1953 एवं 1956 : सितबर 1952 में भारत सरकार ने प्रशासनिक सुधारो पर विचार करने के लिए अमेरिकी विद्वान पॉल एच. एपल्बी को आमन्त्रित किया। 1953 में उन्होंने ''भारत में लोक प्रशासन सर्वेक्षण का प्रतिवेदन'' सरकार को प्रस्तुत किया जिसमें उन्होने विचार व्यक्त किया कि भारत विश्व के लगभग उन 12 राष्ट्रों में से एक है जहाँ का लोक प्रशासन पर्याप्त रुप से संगठित एव विकसित है। इनके सुझाव थे कि :

1. भारतीय संघ में राज्यों को अधिक स्वतत्रता देना उचित नही होगा।
2. भारत में ओ. एण्ड एम. इकाई की स्थापना शीघ्र की जाए।
3. लोक सेवको के समुचित प्रशिक्षण हेतु भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए ।
4. स्टाफ–सूत्र का अंतर स्पष्ट किया जाना चाहिए।
5. भारत की सभी लोक सेवाओं को एकीकृत कर सामान्य सेवा का गठन करना चाहिए ।
6. भारतीय निगम की सरकारी प्रकृति बनी रहनी चाहिए। उन्हें और स्वायत्तता देना ठीक नहीं होगा।

एपल्बी 1956 में पुनः भारत आए एवं **''भारतीय प्रशासन व्यवस्था की पुन: परीक्षा : सरकार के औधोगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों के संदर्भ में'** प्रतिवेदन प्रस्तुत किया अपने द्वितीय प्रतिवेदन में उन्होने प्रथम प्रतिवेदन के विपरीत, सार्वजनिक निगमों को अधिक स्वायतता देने की अनुशंसा की तथा नियंत्रक एव महालेखा परीक्षक को अनावश्यक एव दमनकारी संस्था कहा ।

एपल्बी का मुख्य योगदान यह है कि उनकी अनुशंसाओं पर भारत में ''भारतीय लोक प्रशासन संस्थान एव संगठन और प्रबन्ध इकाई (O & M Unit) की स्थापना हुई।

(6) वी.टी. कृश्णामाचारी समिति, 1962 :

1962 में वी.टी. कृष्णमाचारी ने भारत सरकार को भारतीय एव राज्य प्रशासनिक सेवा तथा जिला प्रशासन की

समस्याऐं विषय पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें आई.ए.एस.की सीधी भर्ती की संख्या बढाने, आइ.ए.एस का राज्य प्रशिक्षण ग्रहण बनाने तथा आई.ए.एस के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया।

(7) के. संथानम समिति, 1964 :

सन् 1962 में भारत सरकार ने भ्रष्टाचार की समस्या के लिए विद्यमान तंत्र की समीक्षा एवं जांच हेतु के. संथानम की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया 1 मार्च 1964 में समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा कि भ्रष्ठाचार उस समय समाप्त हो सकता है जब कोई खत्म करने के लिए तैयार हो तथा उसमें इस कार्य के लिए क्षमता हो। समिति द्वारा भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए दिए गए सुझावों में से महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार है :

1. केंद्र सरकार में एक केन्द्रीय सतर्कता आयोग स्थापित किया जाना चाहिए । यह आयोग अपने कार्यो के लिए सरकारी नियंत्रण से पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहिए ।
2. मंत्रियों के विरूद्ध भ्रष्टाचार के आरोप की जांच करने के लिए एक राष्ट्रीय संस्था स्थापित करनी चाहिए, जिस पर जनता को विश्वास हो ।
3. सरकारी अधिकारियों के लिए समुचित आवास एवं पर्याप्त वेतन की व्यवस्था हो ताकि वे रिश्वत के लोभ से बच सकें ।
4. संविधान की धारा 311 का संशोधन इस प्रकार किया जाना चाहिए ताकि भ्रष्टाचार के मामले में कानूनी कार्यवाही शीघ्रता पूर्वक की जा सके ।
5. समाज में ऐसे परिवेश का निर्माण किया जाना चााहिए जिससे भ्रष्ट अधिकारी एवं कर्मचारी को न केवल नौकरी चले जाने का डर हो, बल्कि सामाजिक बहिष्कार का भी भय हो ।

(8) प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966 :

1965 में तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने संसद में कहा था –''यद्यपि विभिन्न अध्ययन दल कार्य कर रहे हैं, किन्तु में प्रायः यह अनुभव करता रहा हूँ कि ये सामान्य प्रयास स्थिति का मुकाबला नही कर सकेगें। मेरा मत है कि इस विषय पर विचार करने के लिए एक उच्च शक्ति प्राप्त आयोग होना चाहिए। यह प्रशासन के समग्र रुप में व्याप्त होगा।''

इस आवश्यकता की क्रियान्वित में लोकसभा द्वरा 5 जनवरी 1966 को मोरारजी देसाई की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना की गई। 1967 में मोरारजी देसाई के उप–प्रधानमंत्री बन जाने पर के. हनुमन्तैया आयोग के अध्यक्ष बने।

आयोग ने सौपे गए उत्तरदायित्वों को पूरा करने की दृष्टि से 20 अध्ययन दल एवं 13 कार्यकारी समूह की स्थापना की जिसमें लगभग विविध क्षेत्रों के 210 प्रभावशाली व्यक्तियों ने कार्य किया। आयोग ने लगभग 580 अनुशंसाऐं सरकार को प्रस्तुत की। आयोग ने कुल 20 प्रतिवेदन प्रस्तुत किए। आयोग ने अपना प्रथम प्रतिवेदन ''जन अभियोग निराकरण की समस्या'' पर 1966 में एवं अन्तिम (बीसवाँ) प्रतिवेदन ''वैज्ञानिक विभाग'' के नाम से 1970 में किया। आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों का विवरण निम्नानुसार है :

प्रतिवेदन का नाम	वर्ष
1. जन अभियोग निराकरण की समस्या	20.10.1966
2. नियोजन तंत्र का आंतरिक प्रतिवेदन	29.06.1967
3. लोक उपक्रम	17.10.1967
4. वित्त, लेखा एवं लेखा परीक्षण	13.01.1968
5. नियोजन की व्यवस्था	14.03.1968
6. आर्थिक प्रशासन	20.07.1968
7. भारत सरकार का प्रशासन एवं कार्यप्रणाली	16.09.1968
8. जीवन बीमा प्रशासन	10.12.1968
9. केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर प्रशासन	06.01.1969
10. कार्मिक प्रशासन	18.04.1968
11. वित्तीय तथा प्रशासकीय शक्तियों का हस्तान्तरण	12.06.1969
12. केन्द्र–राज्य संबध	19.06.1969
13. राज्य प्रशासन	04.11.1969
14. संघीय क्षेत्र तथा नेफा का प्रशासन	28.11.1969
15. लघु क्षेत्र	23.12.1969
16. रेलवे प्रशासन	30.01.1970
17. राजकोष	27.02.1970
18. भारतीय रिजर्व बैंक	11.03.1970
19. डाक तार	15.04.1970
20. वैज्ञानिक विभाग	30.06.1970

आयोग की प्रमुख अनुशंसाऐं इस प्रकार है

1. भारत सरकार के प्रशासन तंत्र के संबध में आयोग की मान्यता थी कि केन्द्रीय मंत्रीपरिषद् में 45 सदस्य तक हो जिनमें प्रधानमंत्री सहित 16 केबीनेट स्तरीय मंत्री हो। मंत्रीपरिषद का निम्नतम पद **''संसदीय सचिव''** समाप्त किया जाए , साथ ही प्रधानमंत्री स्वयं के पास कोई मंत्रालय या विभाग न रखे।
2. नियोजन तंत्र के बारे में आयोग की यह दृढ मान्यता थी कि प्रधानमंत्री को योजना आयोग का अध्यक्ष न रहकर केवल उससे निकट का संपर्क बनाए रखना चाहिए। अन्य मंत्रियो को भी योजना आयोग का सदस्य न रखा जाए। आयोग में अधिक से अधिक सदस्य पूर्णकालिक हो जो योग्यता, अनुभव एव विशेषज्ञता के आधार पर नियुक्त किए जाए।
3. केन्द्र–राज्य संबधों के विषय में आयोग का मत था कि संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत् एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जाए, जिसमें प्रधानमंत्री अध्यक्ष हो।
4. राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि राज्यपाल उस व्यक्ति को बनाया जाए जिन्हें प्रशासन एवं सार्वजनिक जीवन का दीर्घ अनुभव हो तथा जिसकी छवि सुधरी हो एवं उनकी पुनर्नियुक्ति न हो।
5. आयोग ने अनुशंसा की कि विकास कार्यो से संबधित विभागों को निष्पादन बजट अपनाना चाहिए तथा वित्त वर्ष की शुरुआत 1 नवबंर से हो।
6. कार्मिक प्रशासन सम्बन्धी अनुशंसाओं में आयोग ने कहा कि आई.ए.एस में भर्ती की आयु सीमा 28 वर्ष हो तथा दो अवसर प्रदान किए जाऐ। कार्यात्मक लोक सेवाओं का गठन किया जाए और इस आधार पर आठ अखिल भारतीय सेवाओं के

गठन की सिफारिश की ।

7. जन अभियोग निराकरण तंत्र के विकास हेतु केन्द्र एव राज्यों में मंत्रियो एव सचिव स्तर के लोक सेवको के विरुद्ध लोक शिकायतों की जाँच के लिए लोकपाल की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा केन्द्र एवं राज्य स्तर के सचिव स्तर से नीचे के अधिकारियो के लिए एक–एक लोकायुक्त की नियुक्ति की जानी चाहिए।

1975 के आरभ में प्रधानमंत्री के लिए दो अनुभवी प्रशासकों एल.पी. सिह और एल. के. झा ने प्रशासन की दक्षता में सुधार हेतु 20 सूत्री प्रशासनिक योजना तैयार की जिसमें निम्नलिखित पक्ष शामिल थे :

अ. काम की दशाओं और कार्यालय के वातावरण में सुधार।

ब. समय पाबदी और अनुशासन लागू करने की आवश्यकता ।

स. विकेन्द्रीकरण।

द. प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना की आवश्यकता ।

(9)सरकारिया आयोग, 1983 :

केन्द्र–राज्य संबधों के विवादित पक्षों के गहन अध्ययन और उनमें सुधार हेतु सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने एक तीन सदस्यीय आयोग का गठन मार्च 1983 में सेवानिवृत्त न्यायाधीश रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में किया। सरकारिया आयोग ने अपना प्रतिवेदन 2 नवंबर 1987 को सौपा जिसकी प्रमुख अनुशसाऐं इस प्रकार थी :

1. देश की एकता एवं अखण्डता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य है।
2. संविधान के अनुच्छेद 356 का प्रयोग अंतिम विकल्प के रुप में होना चाहिए।
3. इंजीनियरिंग, चिकित्सा, शिक्षा, कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिए नई अखिल भारतीय सेवा का गठन होना चाहिए।
4. राष्ट्रीय विकास परिषद् को और अधिक प्रभावी बनाया जाए एव इसका पुर्नगठन कर इसका नाम "राष्ट्रीय आर्थिक एव विकास परिषद्" कर दिया जाए।
5. संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत् अर्न्तराज्यीय परिषद की स्थापना की जाए।
6. समवर्ती सूची पर कानून बनाते समय केन्द्र सरकार को राज्यो से परामर्श करना चाहिए।
7. राज्यपाल राजनीतिक रुप से तटस्थ एव इस राज्य का नहीं होना चाहिए।

उदारीकरण के पश्चात् (नब्बे के दशक से) प्रशासनिक सुधार :

1990 के दशक में नई आर्थिक नीति अपनाने के साथ ही प्रशासनिक सुधार का नया दौर प्रारभ हुआ। जहाँ आर्थिक विकास के लिए पूर्व में स्थापित केन्द्रीकृत ढाँचे को समाप्त करने का प्रयास हुआ। वही पंचायती राज को संवैधानिक दर्जे ने राजनीतिक एव प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की मांग उत्पन्न की। ऐसे में सरकार को पुर्नपरिभाषित करने का प्रयास आरंभ हुआ, जिसने लोक प्रशासन को नई भूमिका अपनाने को विवश किया है।

1991 में भारत सरकार ने एक **कर सुधार समिति** गठित की जिसके अध्यक्ष डा. राजा जे. चैलेया थे। यद्यपि यह समिति प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के परीक्षण के लिए बनाई गई थी, तथापि इस समिति ने प्रशासन का स्तर ऊँचा करने की आवश्यकता पर बल दिया, क्योंकि कुशल एवं सत्यनिष्ठ कर्मचारियों के बिना कोई भी कर सुधार लागू नही हो सकता है। **1994 में पाँचवें वेतन आयोग** जो पांडियन की अध्यक्षता में बना था, ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।यह पहली बार था कि एक वेतन आयोग ने एक प्रशासनिक सुधार आयोग की तरह कार्य किया । आयोग ने वेतन को प्रशासनिक दक्षता से सम्बद्व करने की कि आवश्यकता पर बल दिया और नव लोक प्रबधन की पद्धति से प्रशासनिक सुधार करने की जरुरत बताई। आयोग ने अपने प्रतिवेदन के 172 अध्यायों में से 33 अध्याय प्रशासनिक सुधार पर लिखे और न्यूनतम सरकार की अवधारणा पर बल देते हुए केन्द्रीय मंत्रालयो और विभागो की संख्या को जबदस्त रुप से कम करने की आवश्यकता बताई। इसकी मुख्य अनुशंसाएँ निम्नलिखित थी :

1. राज्य को वे आधारभूत कार्य करने चाहिए जो बाजार द्वारा निष्पादित नही हो सकते।
2 आयोग ने प्रस्तावित किया कि 40 लाख कार्मिकों के पद एक साथ समाप्त कर देने चाहिए और अगले दस वर्षो में 30 प्रतिशत कार्मिक कम किए जाने की सिफारिश की ।
3 शासकीय गुप्त अधिनियम के स्थान पर सूचना का अधिकार लागू किया जाए।
4 भ्रष्टाचार निवारक अभिकरण की स्थापना की जाए।
5 प्रशसन को नागरिक मित्र और पारदर्शी बनाया जाए।
6 प्रशासन में विशेषज्ञों एवं संविदा आधारित नियुक्तियों की आवश्यकता पर बल दिया ।
7 वर्तमान अवकाश प्रणाली को समाप्त कर तीन राष्ट्रीय अवकाश एवं 12 आकस्मिक अवकाश की व्यवस्था लागू की जाए।

वित्त मंत्रालय से सम्बद्व रहे पूर्व प्रशासनिक अधिकारी के.पी.गीताकृष्णन की अध्यक्षता में फरवरी 2001 में **व्यय सुधार आयोग** गठित किया गया। आयोग ने प्रशासन के सीमित आकार को केन्द्र बिन्दु मानकर गैर विकासात्मक व्यय को नियंत्रित करने हेतु सुझाव दिया। केन्द्र सरकार के 36 मंत्रालयों के 24326 पद अनुपयोगी मानते हुए उन्हें खत्म करने की अनुशंसा की ।

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (2005–09) :

नब्बे के दशक में, नई आर्थिक नीति एवं नव लोक प्रबन्ध की अवधारणा से प्रशासन में समग्रता से सुधारों को मांग उठने लगी। इसीलिए सरकार ने अगस्त 2005 में कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया । 13 मई 2009 को इस आयोग का कार्यकाल समाप्त हुआ।इस आयोग ने निम्नाकित 15 प्रतिवेदन भारत सरकार को सौपे।

प्रतिवेदन का नाम	वर्ष
1. सूचना का अधिकार	जून 2006
2. मानव संपदा का व्यापक विस्तार	जुलाई 2006
3. संकट प्रबंधन	सितंबर 2006
4. शासन में नैतिकता	फरवरी 2007
5 लोक व्यवस्था	जून 2007
6 स्थानीय अधिशासन	अक्टूबर 2007
7 संघर्ष समाधान हेतु क्षमता निर्माण	फरवरी 2008
8 आतंकवाद से लडाई	जून 2008
9 सामाजिक पूंजी	अगस्त 2008
10 कार्मिक प्रशासन की स्वच्छता	नवंबर 2008
11 ई–गवर्नेंस	दिसबर 2008
12 नागरिक–केन्दित प्रशासन	फरवरी 2009
13 भारत सरकार की संगटनात्मक संरचना	अप्रेल 2009
14 वित्तीय प्रबंधन	अप्रेल 2009
15 राज्य और जिला प्रशासन	अप्रेल 2009

आयोग की प्रमुख अनुशंसाएँ निम्नानुसार है :

1. भारत सरकार को लोक प्रशासन/प्रबंधन के स्नातक डिग्री पाठ्यक्रमों के संचालन हेतु राष्ट्रीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना करनी चाहिए।
2. प्रत्येक सरकारी सेवक को प्रारंभिक स्तर पर अनिवार्य और उसकी सेवावधि के दौरान समय–समय पर प्रशिक्षण देना चाहिए।
3. सरकारी सेवक की उसके पूरे कार्यकाल में दो बार (14 एवं 20 वर्ष बाद) गहन समीक्षा की जानी चाहिए।
4. एक नया सिविल सेवा विधेयक लाना चाहिए जिसमें केन्द्रीय सिविल सेवा प्राधिकरण का गठन किया जाना चाहिए।
5. गैर लाभ वाले कार्यकलापों में लगे बाह्रय संगठनों में सरकारी सेवकों को प्रतिनियुक्ति पर जाने की छूट देनी चाहिए।
6. सिविल सेवकों को संवैधानिक संरक्षण देने वाले अनुच्छेद 310 एवं 311 समाप्त कर देना चाहिए।
7 जन अभियोग निराकरण हेतु एक राष्ट्रीय लोकायुक्त नामक संस्था को संवैधानिक दर्जा देना चाहिए। प्रधानमंत्री का पद उसके कार्यक्षेत्र से बाहर हो । संवैधानिक रुप से राज्य स्तर पर लोकायुक्त की स्थापना अनिवार्य की जानी चाहिए।

छठा वेतन आयोग, 2006 :

छठे वेतन आयोग की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा अक्टूबर 2006 में न्यायामूर्ति बी.एन.श्रीकृष्णा की अध्यक्षता में की गई। आयोग ने अपना प्रतिवेदन मार्च 2008 में प्रस्तुत किया। आयोग के सुझाव उदारीकरण की नीतियों को सख्ती से लागू करने की मंशा के अनुरुप थे। आयोग ने चतुर्थ श्रेणी (डी श्रैणी) के पदों को समाप्त कर, मौजूदा श्रेणी के कर्मचारियों को प्रशिक्षित कर सी श्रेणी में पदोन्नत करने की अनुशंसा की, साथ ही स्वैच्छिक, सेवानिवृत्ति को और आकर्षक बनाने, कार्य निष्पादन पर बल देने तथा विशेषज्ञता को महत्व देने पर बल दिया ।

सातवां वेतन आयोग, 2014 :

भारत सरकार ने 28 फरवरी 2014 को न्यायमूर्ती अशोक कुमार माथुर की अध्यक्षता में सातवें वेतन आयोग का गठन किया गया। आयोग ने 19 नवम्बर 2015 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग ने न्यूनतम वेतन 18000/– रूपये प्रतिमाह किये जाने की अनुशंसा की तथा एक नये वेतन मैट्रिक्स के आधार पर वेतन की गणना का सुझाव दिया। आयोग ने परिवर्धित सुनिश्चित कैरियर प्रगति (Modified Assured Carrier Progression) को और अधिक निष्पत्ति उन्मुख बनाया तथा सुनिश्चित कैरियर प्रगति हेतु निर्धारित बैंचमार्क को ''अच्छा'' (Good) से बढ़ा कर ''बहुत अच्छा'' (Veary Good) करने का सुझाव दिया। आयोग ने ग्रेच्युटी की राशि को 10 लाख से बढ़ा कर 20 लाख करने तथा विकलांगता की स्थिति में दी जाने वाली एक मुश्त प्रतिपूर्ति की राशि 9 लाख से बढ़ा कर 20 लाख रूपये करने का सुझाव दिया।

राजस्थान में प्रशासनिक सुधार

प्रशासन का मुख्य उद्देश्य मानव समाज का समग्र विकास करना है जिसमें सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सभी पक्ष शामिल है प्रशासनिक सुधारों का उद्देश्य इस हेतु प्रशासन को सक्षम बनाने से है। अर्थात् प्रशासनिक संगठन एव व्यवहार में ऐसे परिवर्तन एव नवाचार लाने से है जो प्रशासन को अपने उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु अधिक प्रभावी बना सकें।

राजस्थान परम्परागत रुप से सामन्तवादी राज्य रहा है इसलिए यहाँ स्वतंत्रता के पश्चात् प्रशासनिक सुधारों के समक्ष प्रमुख चुनौती संगठनात्मक कम एव व्यवहारात्मक अधिक थी। क्योंकि प्रशासन का भी लोकतंत्रिक मूल्यों के प्रति झुकाव कम था।

1963 में राज्य सरकार ने प्रशासनिक सुधार समिति की गठन श्री हरीश चन्द माथुर की अध्यक्षता में किया। समिति ने प्रशासन में समग्र सुधारों हेतु अनेक महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए। जिसमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित प्रकार से है :

1. मंत्रीमडल छोटा एव सघन होना चाहिए ।
2. समिति ने प्रशासन में मानवीय तत्व पर अत्यधिक बल दिया । आयोग के अनुसार मानवीय तत्व की गुणवत्ता एव उसका प्रबन्ध, प्रशासन पर गहरा प्रभाव रखता है। इसलिए इस पर अधिक ध्यान देने की जरुरत है।
3. समिति ने सुझाव दिया कि मंत्री को नीति निर्धारण करना चाहिए एव नीति लागू करने का दायित्व पूरी तरह से लोक सेवको को सौप देना चाहिए, उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
4. समिति ने जन शिकायत निवारण हेतु सुझाव दिया कि सरकार की कार्यकारी शक्तियों के विरुद्व जनता की वैध शिकायतों हेतु राज्य में लोकपाल की नियुक्ति की जानी चाहिए।
5. विशेषज्ञता पर बल देते हुए समिति ने सुझाव दिया कि

तकनीकी कार्यक्रमों में सरकार को सलाह हेतु विशेषज्ञो को अंशकालिक सलाहकार के रुप में नियुक्त किया जाना चाहिए।

6. समिति का मानना था कि सचिवालय को केवल उन्ही मामले पर ध्यान देना चाहिए जो पर्याप्त महत्व के है या फिर नीतियों से सम्बन्धित है।
7. सचिवालय की संरचना इस प्रकार परिवर्तित की जाए कि निर्णय लेने में अधिकारियों की संख्या बढें।
8. जिलाधीश एव अन्य अधिकारियों की राय पर सरकार द्वारा पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। साथ ही जिलाधीश जब चाहे, उसे विभिन्न विभागों से व्यावसायिक सलाह मिलनी चाहिए।
9. जिला स्तर पर प्रशासनिक समस्याओ एव जनता की कठिनाईयो को नजर में लाने हेतु प्रतिनिधिक समिति गठित की जानी चाहिए। समिति जिला स्तर पर सरकारी विभागों की कार्यशैली में सुधार हेतु संभव तरीको पर सुझाव दे।
10. एक अन्य महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि सामान्य सेवाओ में भर्ती विधार्थी द्वारा उत्तर मैट्रिक में उत्तीर्ण होने पर कर लेनी चाहिए एवं चयनित विद्यार्थियो को राज्य द्वारा चलाए जाने वाले विशेष संस्थान में आवश्यक डिग्री, प्रशिक्षण एवं प्रशासनिक ज्ञान दिया जाना चाहिए। तीन साल के सफलतापूर्वक डिग्री कोर्स करने के बाद उसे योग्यता के अनुसार सरकार में भर्ती दी जाए।
11. इसके अतिरिक्त समिति ने स्थानीय स्वशासन, लोक संबंध, तकनीकी दक्षता, वित्तीय मुद्दों, प्रशासनिक प्रकिया एवं रेवन्यू बोर्ड पर भी प्रतिवेदन दिया। यद्यपि समिति ने प्रशासनिक सुधारों की दिशा में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए परन्तु उसको लागू करने में राज्य सरकार ने कोई विशेष रुचि नही दिखाई।

11 मई 1999 को राजस्थान सरकार ने राज्य के पूर्व मुख्यमंत्री शिवचरण माथुर की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया।

आयोग को प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न पहलूओं यथा–प्रशासन में ईमानदारी, कार्यकुशलता, मितत्वयता, पारदर्शिता, संवेदनशीलता, नियमों एवं प्रणालियों का सरलीकरण तथा जन अभियोग निराकरण आदि पर अपनी अनुशंसाऐं प्रस्तुत करने का दायित्व सौपा गया। आयोग ने निम्नलिखित विषयो पर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किए :

1. राजस्व प्रशासन 2. शहरी कर
3. स्थानान्तरण नीति 4. जन शिकायतो का निवारण
5. उर्जा क्षेत्र सुधार 6. राजस्थान में पंचायती राज
7. पुलिस प्रशासन

आयोग द्वारा इन विभिन्न प्रतिवेदनो में प्रस्तुत मुख्य सुझाव निम्नलिखित प्रकार से है :

आयोग ने राजस्व प्रशासन का नीचे के पद पटवारी से लेकर राजस्व बोर्ड तक अनेक सुधारात्मक सुझाव प्रस्तुत किए जो इस प्रकार है।

1. प्राचीन एवं अधिक आलोचनात्मक पद पटवारी का पदनाम ''लेखपाल'' में परिवर्तित किया जाना चाहिए। ताकि पटवारी एवं किसानों के दिमाग पर वांछित मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आ सके।
2. पंचायत एव पटवार सर्किल के सह सीमावर्ती बनाया जाए साथ ही तहसील एव पंचायत समिति को भी सह–सीमावती बनाए जाने की जरुरत है।
3. तहसील से लोगो की अधिक नजदीकी को देखते हुए वहा लोक मित्र एव उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार पर अधिक बल देने की जरुरत है। उप खंड अधिकारी एवं अतिरिक्त कलेक्टर को वहा निरीक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
4. उप–तहसील की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। उन्हे विकेन्द्रित प्रशासन का प्रभावी उपकरण बनाने हेतु उन्हे और शक्तिया एव कार्य सौपे जाने चाहिए।
5. आई. ए. एस. अधिकारी को कलक्टर बनाने से पूर्व वह कम से कम 9 साल का सेवाकाल पूरा कर चुका हो यदि पदोन्नत आई.ए.एस हो तो कम से कम 12 वर्ष की सेवा आई. ए. एस. के रुप में पूरी कर चुका हो तो कलेक्टर लगाया जाए।
6. जिल परिषद का मुख्य कार्यकारी अधिकारी या तो कलक्टर के समान आई.ए.एस. हो या फिर उससे वरिष्ठ आई ए.एस जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (डी.आर.डी.ए.) का विलय जिला परिषद के साथ कर दिया जाना चाहिए।
7. आयोग के अनुसार वर्तमान व्यवस्था जिसमें प्रशासनिक अधिकारी (कलैक्टर , उपखण्ड अधिकारी, तहसीलदार आदि) राजस्व न्यायालय का भी कार्य देखते है, बनी रहनी चाहिए। एक पृथक राजस्थान राजस्व न्यायिक सेवा आवश्यक नहीं है।
8. स्थानान्तरण पर आयोग का सुझाव था कि सभी राज्य कर्मचारियों पर एक समान और सामान्य नीति लागू की जानी चाहिए।
9. स्थानान्तरण काल 1 अप्रेल और 31 मई के भीतर, अपवाद को छोड़कर, सभी स्थानान्तरण आदेश निकल जाने चाहिए । पदस्थापन का निम्नतम समय 3 वर्ष निश्चित कर दिया जाना चाहिए। जब तक की किसी की गभीर शिकायत न हो।
10. आयोग ने जन शिकायत निवारण के लिए राजस्थान में उपस्थित संस्थाओं को अप्रभावी बताया। आयोग ने तुरन्त सूचना का अधिकार लागू करने, प्रत्येक विभाग के सिटीजन चार्टर का निर्माण करके प्रकाशित करने एव उस हेतु जनता को जागरुक करने पर बल दिया ।

विभिन्न समितियों एवं आयोगों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए समय–समय पर सरकार द्वारा प्रशासन में अनेक नवाचार के प्रयास किए गए है जो निम्न है :

1. संगठन तथा प्रबंध विभाग की स्थापना :

1955 में सचिवलय में एक ओ. एण्ड एम. संभाग की स्थापना की गई यह विभाग प्रशासनिक प्रकिया का अध्ययन कर अनावश्यक क्रियाओं को हटा कर कार्य प्रकिया में तेजी लाने को लक्षित करता है।

2. राजस्थान राज्य अन्वेशण ब्यूरो की स्थापना :

राज्य सरकार ने एक पृथक भ्रष्टाचार निरोधक विभाग की स्थापना की है। जिसे राजस्थान राज्य अन्वेषण ब्यूरो कहते है। राज्य के गृह विभाग के अधीन ब्यूरो में एक पुलिस महानिदेशक, चार पुलिस अधीक्षक, छः अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक कार्यरत है। ब्यूरो अपने कार्यकरण में स्वतंत्रता प्राप्त है। ब्यूरों का महानिदेशक अपना प्रतिवेदन राज्य के गृहमंत्री की

अपेक्षा सीधे ही मुख्यमंत्री को सौपते है ।

3. संभागीय आयुक्त की नियुक्ति :

वर्तमान में राज्य को संभागों में विभजित कर वहाँ सभागीय आयुक्तों की नियुक्त की जाती है। संभागीय आयुक्त, संभाग स्तर पर सर्वोच्च शक्ति संपन्न अधिकारी है, जो संबधित जिलो में नियंत्रक, समन्वयक और मार्गदशक की भूमिका निभाता है।

4. अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल :

राजस्थान सरकार ने अपने कर्मचारियो को प्रशिक्षित करने के लिए 14 नवंबर 1957 को जोधपुर में अधिकारी प्रशिक्षण स्कूल की स्थापना की। 1963 में इसे जयपुर स्थानान्तरित किया गया। वर्तमान में यह हरीश चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान के नाम से जाना जाता है जो राज्य प्रशासनिक सेवाओं तथा भारतीय प्रशासनिक सेवाओं आदि के अनेक प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित कर रहा है।

5. लोकायुक्त : राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति की सिफरिश पर 1973 में पहली बार लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त की नियुक्त की गई । जिसका उद्देश्य मंत्रियों और लोक सेवकों के विरुद्व भ्रष्टाचार और पद के दुरुपयोग करने के आरोप का अन्वेषण करना था। 2014 में इस पद को सशक्त करने के लिए लोढ़ा समिति का गठन किया गया है।

6. पंचायती राज की स्थापना : राजस्थान में दो अक्टूबर 1959 को सर्वप्रथम देश के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू द्वारा नागौर जिले में पंचायती राज व्यवस्था का उद्घाटन किया गया। तत्पश्चात् वर्तमान में 73 तथा 74 वें संविधान संशोधन के उपरान्त स्थानीय स्तर पर शहरी एवं ग्रामीण स्वशासन संस्थाओं की स्थापना की गई है।

7. सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 :

राजस्थान में सूचना का अधिकार प्राप्त करने के लिए आदोलन की शुरुआत ब्यावर (अजमेर) के चांग गेट पर 6 अप्रेल 1995 को मजदूर किसान शक्ति संघ की प्रणेता अरुणा राय द्वारा की गई। राजस्थान में सूचना का अधिकार कानून 2000 में लागू कर दिया गया था, किन्तु वर्ष 2005 में जब अखिल भारतीय स्तर पर सूचना का अधिकार अधिनियम लागू हुआ तो राजस्थान में भी पुराना अधिनियम निरस्त कर नया लागू कर दिया गया।

8. राजस्थान राज्य लोक सेवा गारंटी अधिनियम, 2011

सुशासन की दृष्टि से आम जनता को राज्य सरकार द्वारा संचालित विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं कार्यक्रमों और सेवाओं का लाभ निर्धारित समय सीमा में सुगमता से उपलब्ध कराने के लिए 14 नवबर 2011 से'राजस्थान लोक सेवाओं के प्रदान करने की गाारंटी अधिनियम, 2011 लागू किया गया है।

इस अधिनियम के तहत् 18 विभागों की 153 सेवाओं को समयबद्ध एवं पारदर्शी रुप से उपलब्ध कराने की गाारंटी दी गई तथा इसमें निरन्त अन्य विभागों की सेवाओं को भी जोड़ा जा रहा है। विभागों का कोई अधिकारी या कर्मचारी अधिनियम की परिधि में घोषित सेवाओ को निर्धारित समय सीमा में प्रदान नही करता है तो कम से कम 500 रुपये से लेकर अधिकतम 5000 रुपये तक के आर्थिक दण्ड का प्रावधान किया गया है। यदि वह सेवा प्रदान करने में अनावश्यक विलम्ब करता है तो प्रतिदिन 250 रुपये (अधिकतम 5000 रुपये) का आर्थिक दंड का प्रावधान किया गया है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. निजी क्षेत्र में दसवीं शताब्दी में तथा सार्वजनिक क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी में प्रशासनिक सुधार प्रारम्भ हुए ।
2. प्रशासन में संरचनात्मक एव व्यवहारात्मक परिवर्तन लाना ही प्रशासनिक सुधारो का प्रमुख उद्देश्य है ।
3. ब्रिटिश काल में सुधार हेतु मुख्यत : 1. ऐचिसन आयोग 2. इस्लिग्टन आयोग 3. ली आयोग 4. टाटनहम समिति की नियुक्ति की गई।
4. भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सुधारों हेतु गठित समितियाँ/आयोग निम्नलिखित है :
   1. सचिवालय पुनर्गठन समिति (1947)
   2. मितव्ययता समिति (1948)
   3. आयगर समिति (1949)
   4. गोरवाला समिति (1951)
   5. एपल्बी समिति (1953–56)
   6. संथानम समिति (1962)
   7. प्रशासनिक सुधार आयोग (1966)
   8. सरकारिया आयोग (1983)
   9. कर सुधार समिति (1991)
   10. पाँचवा वेतन आयोग (1997)
   11. व्यय सुधार आयोग (2001)
   12. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग (2005–09)
   13. छठा वेतन आयोग (2006–08)
   14. सातवाँ वेतन आयोग (2014–15)
5. भारत में अब तक सात वेतन आयोग गठित हो चुके हैं।
6. राजस्थान में 1954 में प्रशासनिक सुधार आरभ हुए।
7. 1963 में हरीशचन्द माथुर की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार समिति ने प्रशसनिक सुधारों पर व्यापक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया ।
8. 2 अक्टूबर 1959 को प. नेहरु ने राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज व्यवस्था का उद्घाटन किया।
9. 28 अगस्त 2000 को श्री शिवचरण माथुर की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी अनुशंसाऐं राज्य सरकार को प्रस्तुत की ।
10. राज्य सरकार द्वारा प्रशासनिक सुधार हेतु उठाए गए कदम : (1) संगठन एव प्रबध इकाई की स्थापना (2) लोकायुक्त पद का सृजन (3) सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 (4) लोक सेवा गांरटी अधिनियम, 2011

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न :

1. भारत में अब तक गठित वेतन अयोगों की संख्या है–
(अ) 5 (ब) 6 (स) 7 (द) 8
2. एन.गोपालास्वामी आयंगर समिति की स्थापना कब हुई।
(अ) 1950 (ब) 1951
(स) 1949 (द) 1948
3. भ्रष्टाचार रोकने वाली समिति के अध्यक्ष कौन थे ?
(अ) ए.डी.गोरवाला (ब) के.सन्थानम
(स) गोपाला स्वामी आयेगर (द) आर.एस.सरकारिया
4. भारत में प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्यक्ष कौन थे ?
(अ) के.हनुमनतैया (ब) पी.सी.होता
(स) सतीश चन्द (द) इनमें से केई नही।
5. किस प्रतिवेदन में यह अनुशंसा की गई कि ''राष्ट्रीय विकास परिषद'' का नाम बदल कर ''राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद्'' कर दिया जाना चाहिए ?
(अ) गोरवाल प्रतिवेदन (ब) सरकारिया प्रतिवेदन
(स) एपल्बी प्रतिवेदन (द) इनमें से कोई नही ।
6. राजस्थान में लोक सेवा गारंटी अधिनियम कब लागू हुआ ?
(अ) 14 नवम्बर 2010 (ब) 14 नवम्बर 2011
(स) 14 नवम्बर 2009 (द) कोई नही
7. राजस्थान में शिवचरण मथुर की अध्यक्षता में बने प्रशासनिक सुधार आयोग ने प्रतिवेदन प्रस्तुत किए–
(अ) राजस्व प्रशासन पर (ब) स्थानान्तरण नीति पर
(स) पुलिस प्रशासन पर (द) उर्पुक्त सभी पर।
8. केन्दीय सतर्कता आयोग की स्थापना किस समिति की अनुशंसा पर हुई ।
(अ) आयंगर समिति (ब) सन्थानम समिति
(स) होता समिति (द) बलवंत राय मेहता समिति
9. संगठन और प्रबन्ध इकाई की स्थापना किसकी अनुशंसा पर हुई है।
(अ) ए.डी.गोरवाला (ब) पॉल एच. एपल्बी
(स) के. संन्थानम (द) इनमें से कोई नही।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक सुधार से आप क्या समझते है ?
2. आयंगर समिति के स्पष्ट करें ।
3. कृष्णामचारी समिति के गठन का क्या उद्देश्य था ?
4. प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रथम एवं अंतिम प्रतिवेदन किस विषय से है ?
5. संगठन और प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं ?
6. व्यय सुधार आयोग की मुख्य अनुशंसा क्या थी ?
7. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग की कोई दो अनुशसाऐं लिखे ।
8. लोकायुक्त व्यवस्था क्या है ?
9. सूचना का अधिकार कानून से आप क्या समझते है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न :

1. संथानम समिति की सिफारिशों को संक्षेप में लिखें।
2. छठे वेतन आयोग को संक्षेप में स्पष्ट करें ।
3. सूचना का अधिकार अधिनियम को स्पष्ट करें ।
4. राजस्थान के शिवचरण माथुर आयोग की प्रमुख अनुशंसाएँ लिखे।
5. प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रमुख सुझाव क्या थे ?

निबंधात्मक प्रश्न :

1. प्रशासनिक सुधार का अर्थ, महत्व एवं परिभाषा बताईए।
2. भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रशासनिक सुधार की दिशा में किए गए प्रयासो पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
3. प्रशासनिक सुधार आयोग पर संक्षिप्त लेख लिखें ।
4. ''उदारीकरण के पश्चात् प्रशासनिक सुधारों की दिशा परिवर्तन हुई है।'' स्पष्ट कीजिए।

उत्तरमाला:

1. (स)	**2. (स)**	**3. (ब)**
4. (अ)	**5. (ब)**	**6. (ब)**
7. (द)	**8. (ब)**	**9. (ब)**